अथर्ववेद-भाष्यम्

(आध्यात्मिक व्याख्या)

काण्ड ७-८

ओ३म्

प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार

-: ओ३म् :-

अथर्ववेद-भाष्यम्

[काण्ड ७-८]

लेखक-

प्रो॰ विश्वनाथ विद्यालंकार

प्रकाशक-

रामलाल कपूर ट्रस्ट

बहालगढ़, सोनीपत-१३१०२१

(हरियाणा)

ट्रस्ट के उद्देश्य–

प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण, उसकी रक्षा तथा
प्रचार एवं भारतीय संस्कृति, भारतीय शिक्षा,
भारतीय विज्ञान और चिकित्सा
द्वारा जनता की सेवा।

पुस्तकप्राप्तिस्थान–
* रामलाल कपूर ट्रस्ट
ग्राम रेवली, पो॰ शाहपुरतुर्क
जि॰ सोनीपत– १३१००१
(हरियाणा)
दूरभाष– (०१३०) २४८२८५७, ३०९०२७६
* रामलाल कपूर एण्ड संस
पेपर मर्चेन्ट्स्, २५९६,
नई सड़क, दिल्ली

प्रथम संस्करण– १०००
सं॰ २०४४
सन् १९८७

मूल्य– १००.००

मुद्रक–
शान्तिस्वरूप कुमार कपूर
रामलाल कपूर ट्रस्ट प्रेस
बहालगढ़ (सोनीपत)

प्रकाशकीय वक्तव्य

वेदविद्या-विचक्षण वेदमाता के आराधन में उत्सर्गीकृतकाय श्री पं॰ विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड के नाम से सभी वेद-भक्त आर्य बन्धु परिचित हैं। आपने करनाल निवासी श्री माननीय चौधरी प्रतापसिंह जी की प्रेरणा और साहाय्य से सन् १९७३ में अथर्ववेद का भाष्य लिखना प्रारम्भ किया था। उस समय आप की अवस्था लगभग ८२ वर्ष की थी। आपने इस अत्यन्त जरा अवस्था में अथर्ववेद का अन्त से भाष्य लिखना प्रारम्भ किया। तदनुसार सन् १९७५ में बीसवें काण्ड का, सन् १९७७ में १८-१९ काण्डों का, सन् १९८१ में १४-१५-१६-१७ काण्डों का, सन् १९८३ में ११-१२-१३ काण्डों का, और १९८६ में ९-१० काण्ड का आपके द्वारा लिखित भाष्य पांच भागों में प्रकाशित हो चुका है।

श्री माननीय चौधरी प्रतापसिंह जी का २६-२७ जुलाई की मध्य रात्री में अचानक स्वर्गवास हो जाने के कारण अवशिष्ट अथर्ववेद-भाष्य के मुद्रण की विकट समस्या मेरे सामने उपस्थित हो गई। काण्ड ९-१० के अतिरिक्त सभी काण्ड श्री माननीय चौधरी जी के जीवनकाल में छप गये थे। काण्ड ९-१० का भाष्य भी किसी प्रकार उनके रा॰ ब॰ श्री चौ॰ नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट की ओर से प्रकाशित कर दिया। इस विषय में उनके सपुत्र को कई पत्र लिखे, परन्तु लगभग २ वर्ष के सुदीर्घ काल में उन्होंने कोई पत्र का उत्तर नहीं दिया, तथा उनके द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों के क्रय-विक्रय का हिसाब देखने भी कोई नहीं आया।

श्री माननीय पण्डित जी सम्प्रति ९६ वर्ष के हो चुके हैं। हाथ कांपते है, दृष्टि भी मन्द होगई है, तथापि आप आतशीशीशे की सहायता से अथर्ववेद के भाष्य को पूर्ण करने में जुटे हुए हैं। ऐसे वेदैकनिष्ठ विद्वान् के घोर परिश्रम से लिखे गये भाष्य का यदि प्रकाशन न हो तो यह आर्यसमाज के लिये अत्यन्त निन्दाजनक होगा। इसी दृष्टि से रामलाल कपूर ट्रस्ट ने साधन न होते हुए भी इस कार्य को पूरा करने का विचार किया है।

हमने प्रस्तुत भाग को प्रकाशित करने के लिये वेद-भक्त आर्य सज्जनों से वेदवाणी के माध्यम से सहायता के लिये अनुरोध किया था, जिसका उचित फल नहीं निकला, केवल निम्नलिखित सज्जनों ने इस कार्य में सहायता प्रदान की है—

१—श्री जयदयाल कपूर, हैदराबाद	५००१-००
२—श्री मनोहर विद्यालङ्कार, दिल्ली	१०००-००
३—श्री वीरेन्द्रसिंह परमार, दिल्ली	१०००-००
कुल योग	७००१-००

इसके अतिरिक्त कुछ और महानुभावों की भी सहायता हमें प्राप्त हुई है, जिसे हमने काण्ड ४-५ के प्रकाशन में लगा दिया है।

इन महानुभावों का हम कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद करते हैं और आशा करते हैं कि वेदभक्त आर्यजन इस महत्त्वपूर्ण कार्य को पूर्ण करने में हमें यथोचित सहयोग प्रदान करेंगे।

इस भाग पर केवल कागज और छपाई पर ही १२ सहस्र रुपया व्यय हुआ है। जिल्द पर प्रति पुस्तक ६ रुपये व्यय पड़ेगा। इस प्रकार प्रति पुस्तक लागत १८ रुपये पड़ती है।

अभी काण्ड ५-४ छप रहे हैं और ३-२-१=३ काण्ड छापने हैं। प्रथम काण्ड के अतिरिक्त और सभी काण्डों की व्याख्या पण्डितजी लिख चुके हैं। प्रथम काण्ड की लिख रहे हैं। इन पांच काण्डों के प्रकाशन में न्यूनातिन्यून ४० सहस्र रुपया व्यय होगा, जो हमारे लिये एक बड़ी समस्या है। अतः सभी वेदप्रेमी आर्यजनों से प्रार्थना है कि वे हमें इस कार्य को संपन्न करने में मुक्तहस्त होकर सहायता करें।

महत्त्वपूर्ण सूचना—श्री माननीय पं० विश्वनाथजी विद्यामार्तण्ड की महत्त्वपूर्ण वेदसेवा के लिये आर्यसमाज सान्ताक्रुज, बम्बई ने अपना २१ सहस्र का वेद-वेदाङ्ग पुरस्कार श्री माननीय पण्डितजी को मई १९८७ में प्रदान किया है। हमारी परमपिता परमेश्वर से यही प्रार्थना है कि प्रभु आपको शतायु प्रदान करें, जिससे कि अथर्ववेद का महत्त्वपूर्ण भाष्य पूर्ण हो सके।

रामलाल कपूर ट्रस्ट,
बहालगढ़ (सोनीपत)

युधिष्ठिर मीमांसक
जून १९९०

ग्रन्थकर्त्ता का संक्षिप्त परिचय

तथा

अन्य कृतियां

अथर्ववेद काण्ड ६त्रें के व्याख्याकार प्रोफेसर विश्वनाथ विद्यालङ्कार, विद्यामार्तण्डजी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के सुप्रसिद्ध स्नातक हैं। आप विश्वविद्यालय की 'विद्यालङ्कार' उपाधि, तथा 'विद्यामार्तण्ड' की मानोपाधि से विभूषित हैं। सन् १९१४ के दीक्षान्त समारोह में आप प्रथम विभाग में सर्वप्रथम रहे। वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य, दर्शनशास्त्र और रसायनशास्त्र (केमिस्ट्री) में, तथा सर्वयोग में प्रथम रहने के कारण आपको ४ सुवर्णपदक और १ रजतपदक प्राप्त हुए। आप सन् १९१४ में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर पद पर नियुक्त हुए। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में समय-समय पर आप रसायन, दर्शनशास्त्र और वैदिक साहित्य पढ़ाते रहे और सन् १९४२ मार्च में वहां से सेवामुक्त हुए।

ग्रन्थकार की अन्य कृतियां

१. सामवेद आध्यात्मिक भाष्य
२. अथर्ववेद-परिचय
३. अथर्ववेद-भाष्य काण्ड २०; १८-१९; १४-१५-१६-१७; ११-१२-१३; ९-१०; ७-८; छः खण्ड। सातवां खण्ड काण्ड ६।
४. यजुर्वेद-स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ समीक्षा
५. शतपथब्राह्मणस्थ अग्निचयनसमीक्षा
६. ऋग्वेद-परिचय
७. वैदिक-जीवन
८ वैदिक-गृहस्थाश्रम
९. सन्ध्या रहस्य
१०. वैदिक-पशुयज्ञ-समीक्षा
११. बाल सत्यार्थप्रकाश
१२. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सरल अध्ययन

—:०※०※०:—

सूची-पत्र (काण्ड ७)

सूची-पत्र (काण्ड ८)

सूक्त १

सूक्त २

सूक्त ३

(१६) गो हत्यारे का वेधन (मन्त्र १७)।
(१७) राक्षसों के साथ संग्राम (मन्त्र १८)।
(१८) कवि और काव्य (मन्त्र २०)।
(१९) शृङ्गे=जलते शस्त्रास्त्र (२४, २५)।
(२०) अग्नो अर्थात् अग्रणी (प्रधानमन्त्री के गुण (मन्त्र २६)।
(२१) भिन्न-भिन्न अपराधों में नानाविध दण्ड, यथा—
(क) हृदयवेधन और बाहुओं को तोड़ना (मन्त्र ६)।
(ख) पापी, कुटिल और वाचास्तेन को बन्धनागार (मन्त्र १४)।
(ग) फटकारदण्ड (मन्त्र १२)।
(घ) शिरःछेददण्ड (मन्त्र १५)।
(ङ) विषप्रयोग द्वारा हनन (मन्त्र २३)।

सूक्त ४

(१) मन्त्र २५। इन्द्र-सोम का वर्णन (१-२५)।
(२) इन्द्र=सम्राट्, सोम=सेनाध्यक्ष (मन्त्र १)।
(३) इन्द्र और सोम को वेदोक्त सन्मतिप्रदान (मन्त्र ६)।
(४) सत्य और असत्य वचनों की परख (मन्त्र १२)।
(५) शत्रुप्रेरित गुप्तचर स्त्री (मन्त्र १७)।
(६) उल्लू आदि की ६ चालें (मन्त्र २२)।
(७) विविध दण्ड। (क) ब्रह्मद्वेषी के प्रति द्वेषधारण (मन्त्र २)।
(ख) कूप में डालकर बींधना (मन्त्र ३)।
(ग) पसलियों, छाती को बींधना (५)।
(घ) मृत्युदण्ड (मन्त्र ८, ९)।
(ङ) बन्धन दण्ड (मन्त्र १३, १४)।
(च) निज परिवार से पृथक् कर देना (मन्त्र १५)।
(छ) पत्थरों द्वारा मार देना (मन्त्र १७)।
(ज) ग्रीवाछेद (मन्त्र २४)।

सूक्त ५

(१) सूक्तमन्त्र २२। विषय "प्रतिसर-मणि" बन्धन, मणि का स्वरूप (मन्त्र १-२२)।
(२) यह मणि वीर है, वीर्यवान्, शूरवीर है [सेनाध्यक्ष ?] (मन्त्र १)।

(३) मणि सपत्नों का हनन करता, वीर, सुवीर, उग्र है (मन्त्र २)। मणि मालायोग्य है (मन्त्र ४, ७, ८)।
(४) ९० नदियों का आध्यात्मिक-स्वरूप (मन्त्र ९)।
(५) सूक्त में सम्राट्, राष्ट्रपति, पुरुषमणि (सेनाध्यक्ष ?) की प्रायः चर्चा हुई है।

सूक्त ६

(१) सूक्त मन्त्र २६। गर्भिणी स्त्री का वर्णन।
(२) कीटाणु (germs) दो प्रकार के (१) दुर्णामा अर्थात् दुष्परिणामोत्पादक, तथा सुनामा अर्थात् सुपरिणामोत्पादक (मन्त्र १, ४)।
(३) दुर्णामा कीटाणु अलिंश=स्त्रीस्तन पर भ्रमराकृतिक कैंसर, (२) वत्सप=उत्पन्न वत्स के पेय दुग्ध को सुखा देने वाला और सुनामा है स्त्रीस्वास्थ्यकर (मन्त्र १, ४)।
(४) स्त्रियों के भी दो अण्ड होते हैं, परन्तु अनभिव्यक्त (मन्त्र ५)।
(५) दुर्णामा-रोगकीटाणुओं के विनाश, वज और पिङ्ग नामक द्विविध सर्षप, सरसों (मन्त्र ६)।
(६) स्वाप्निक दोषों का विनाशक "वज" (मन्त्र ७)।
(७) केशवाः germs (मन्त्र २३)।
(८) रोगकीटाणुओं का सूर्यातप द्वारा विनाश (मन्त्र २४)।
(९) सामाजिक कुकर्मियों को भी रोगकीटाणु कहा है (मन्त्र २१), तथा अन्य विविध प्रकार के कीटों का भी वर्णन हुआ है।
(१०) सूक्त के अन्त में वज, पिङ्ग की विशेष व्याख्या।

सूक्त ७

(१) सूक्तमन्त्र २८। ओषधिवर्णन।
(२) यक्ष्म से त्राण सम्बन्धी ओषधियां (मन्त्र १, २, ५, १५)।
(३) पाप का फल यक्ष्म (मन्त्र ३, २८)।
(४) ओषधियों की भस्में (मन्त्र ८)।

(५) बलास रोगनाशक औषधें (मन्त्र १०)।

(६) अमृतभोजन=दुग्ध, घृत, अन्न (मन्त्र १२)।

(७) व्याघ्रनामक औषध (मन्त्र १४)।

(८) रोगनाशक पीपल, दर्भ, सोम, जल, हविः, व्रीहि, यव (मन्त्र २०)।

(९) पशु, पक्षी, सांप आदि द्वारा ज्ञात ओषधियों का संग्रह (मन्त्र २३-२६)।

(१०) पञ्चशाल तथा दशशाल (वाणों) द्वारा जन्य रोग (मन्त्र २८)।

सूक्त ८

सूक्तमन्त्र २४। विषय राजनैतिक (युद्ध)।

पूतिरज्जु धड़ाके का शब्द करती हुई शत्रुदल में दुर्गन्ध फैलाने वाली रस्सी (मन्त्र २)।

बृहत्-जाल द्वारा शत्रु को बांधना (मन्त्र ४-७)।

तामसास्त्र (मन्त्र ८)।

युद्ध में महात्माओं और विद्वानों का सहयोग (मन्त्र १२)।

विमानों द्वारा युद्ध (मन्त्र १३)।

कूट प्रयोग (मन्त्र १६)।

लोकलोकान्तरवासी देव तथा मनुष्य आदि (मन्त्र २१)।

देवरथ, उसके अवयव (मन्त्र २२)।

संवत्सर रथ, उसके अवयव (मन्त्र २३)।

स्वाहा पद का निर्वचन (मन्त्र २४)।

नील और लोहित रश्मियों द्वारा शत्रु पर विजय (मन्त्र २४)।

सूक्त ९

सूर्य द्युलोक से चन्द्रमा पृथिवी से उत्पन्न (मन्त्र १)।

त्रिभुज ब्रह्माण्ड में परमेश्वर का शयन (मन्त्र २)।

त्रीणि बृहन्ति ऋक्, यजुः, साम। चतुर्थं वाचम् "अथर्ववेदम्" (मन्त्र ३)

पारमेश्वरी प्रज्ञा से अस्मत्प्रज्ञा का निर्माण (मन्त्र ५)।

कश्यप परमेश्वर से ६ ऋषियों द्वारा जिज्ञासा (मन्त्र ७)।

यज्ञकर्म परमेश्वरार्थक (मन्त्र ८)।

परमेश्वर का दर्शन कई करते हैं, कई नहीं (मन्त्र ९)।

प्रतिदिन की दो उषाएं (मन्त्र १२)।

पञ्चनाम्नी गौः (मन्त्र १५)।

त्रिविधा द्यौः, त्रिविधा पृथिवी (मन्त्र १६)।

सप्तगृध्राः (मन्त्र १८)।

अष्टपुत्रा अदिति (मन्त्र २१)।

एक गौ, एक ऋषि, एक यक्ष, एक ऋतु (मन्त्र २६)।

एकाष्टका परिशिष्ट (सूक्त की समाप्ति पर, मन्त्र १-१३)।

सूक्त १०

पर्याय १ (विराट् का उत्क्रमण)

शासनव्यवस्था तथा सामाजिक व्यवस्था का विकास भयमूलक (मन्त्र १)।

गार्हपत्यव्यवस्था=गृहसंगठन (मन्त्र २, ३)।

आहवनीयव्यवस्था=ग्रामसंगठन (मन्त्र ४, ५)।

दक्षिणाग्निव्यवस्था=जिलासंगठन (मन्त्र ६, ७)।

सभाव्यवस्था=राष्ट्रिय-असेम्बलीसंगठन (मन्त्र ८, ९)।

समितिव्यवस्था=राष्ट्रिय राजसमिति संगठन (मन्त्र १०, ११)।

आमन्त्रणव्यवस्था=सम्राटों में परस्पर मन्त्रणासंगठन (मन्त्र १२, १३)।

पर्याय २ (विराट् का उत्क्रमण)

शासनव्यवस्था [विराट्] का चतुर्धा विकास (मन्त्र १, ४)।

देवों, मनुष्यों में मेल (मन्त्र २)।

ऊर्जा, स्वधा, सूनृता, इरावती व्यवस्था (मन्त्र ४)।

विराट् का वर्णन गोरूप में (मन्त्र ५-१०)।

पर्याय ३ (विराट् का उत्क्रमण)

विराट् का वानस्पतिक विकास (मन्त्र १, २)।

पितृसम्बन्धी विराट् (मन्त्र ३, ४)।

देवसम्बन्धी विराट् (मन्त्र ५, ६)।

मनुष्यसम्बन्धी विराट् (मन्त्र ७, ८)।

पर्याय ४ (विराट् का उत्क्रमण)

असुरराज्य (मन्त्र १-४)।

पितरराज्य (मन्त्र ५-८)।

मनुष्यराज्य (मन्त्र ९-१२)।

ऋषिराज्य (मन्त्र १३-१६)।

पर्याय ५ (विराट् का उत्क्रमण)

इन्द्रादिदेवताक राज्य (मन्त्र १-४) आधिदैविकार्थ में।

" " (मन्त्र १-४) आधिभौतिकार्थ में (वैश्यप्रकृतिक राज्य)।

गन्धर्वाप्सरसराज्य (मन्त्र ५-८) आधिदैविकार्थ में।

" " (मन्त्र ५-८) आधिभौतिकार्थ में।

इतरराज्य (९-१२)।

सर्पराज्य (१३-१६)

पर्याय ६

शत्रु का अलाबु द्वारा अभिषेक कर हनन (१-४)।

प्रत्येक बड़े सूक्त की व्याख्या के प्रारम्भ में प्रत्येक सूक्त सम्बन्धी विषयों की संक्षिप्त भूमिकाएं "विषय प्रवेश" नाम से दे दी हैं, ताकि सूक्त के विषयों के समझने में आसानी हो सके।

ग्रन्थकार—

विश्वनाथ, विद्यालंकार, विद्यामार्तण्ड
६१ कांवली रोड देहरादून (उत्तरप्रदेश)

संशोधन-पत्र

पृ० सं०	मन्त्र संख्या	अशुद्धरूप	शुद्धरूप
२	२	इद	इदं
४	१	सुहूते	सुहुत
१२	२	प्रसवे	प्रसवे
"	"	शम	शर्म
१३	१	देवाना	देवानां
"	"	ननान्	नैनान्
१७	"	स्तनयित्नुर्य	स्तनयित्नुर्य
"	"	दवः	दैवः
"	"	क्रतु	केतु
१८	१	प्रजापते	प्रजापति
२०	४	०	तद्
"	१	नक्षत्राणामद्यं	नक्षत्राणामुद्यं
२२	२	कृपात्	कृपात्
२३	१	अदुहुत्	अदुहुन्
२४	१	बृहस्पते	बृहस्पते
"	"	वृधयन	वृधयैनं
"	"	ज्योतयनं	ज्योतयैनं
२६	४	सवितेदं	सवितेदं
३२	१	वचसा	वर्चसा
३४	१	दार्जीवित्यु	दौर्जीवित्यं

पृ० सं०	मन्त्र संख्या	अशुद्धरूप	शुद्धरूप
३९	६	यता	यतो
४२	१	र्दुघणः	र्दुघणः
५३	१	गभ	गर्भे
,,	,,	ना	नो
५४	२	दाश्वांस्	दाश्वंस्
५५	२	पितृषुं	पितृषुं
५६	१	रुद्रा	रुद्रा
,,	,,	निर्ऋति	निर्ऋतिं
६०	१	दहतो	दहतो
६१	३	विष्णाः	विष्णोः
६८	५	कृतम्	कृतम्
७०	८	म	मे
७३	१	अभिशस्ते	रभिशस्ते
७९	२	मधुला	मंधुला
८०	४	र्व्यङ्गो	र्व्यङ्गा
८६	६	सभगा	सुभगा
८८	१	निर्हितो	निर्हितो
९४	२	मानि	इमानि
,,	१	युयोम	युयोम
९६	३	संपातिनो	सँपातिनो
१०१	४	घर्म	घर्मं
१०३	८	दहाम०	दुहाम०
१०४	९	ना	नौ

पृ० सं०	मन्त्र संख्या	अशुद्धरूप	शुद्धरूप
११०	३	जायान्यं	जायान्यं
११३	३	सवत्सरीणा	संवत्सरीणा
११६	२	उभय	उभयें
१३२	१	अपेक्षरि	अपेक्षरिं
१३६	३	तत्तन	तत्तनु
१४५	८	मनसस्पते	मनसस्पत
१४७	१	दश्यते	दृश्यते
१५०	१	मथर्वणे	मथर्वणे
१५१	१	प्रणीतीर्	प्रणीतीर्
,,	,,	शभे	शुभे
१५५	२	अपश्चं	अपश्च
१५६	४	वक्षमिवा	वृक्षमिवा
१५८	२	भुवनानि	भुवनानि
१६०	१	सुस्रुवु	सुंस्रुव
१६३	१	सवं	सर्वं
१६५	३	यच्छ	यंच्छ
१६६	१	पूवकाम	पूर्वकाम
१७२	६	पुरुप	पुरुष
१७४	११	मिन्धत	मिन्धतें
१८८	१५	मधरस्या	मधरस्या
१९१	२१	इन्द्राग्नी	इन्द्राग्नी
१९४	२६	पार	परि
२०२	९	तीक्ष्णेनाग्ने	तीक्ष्णेनाग्ने

पृ० सं०	मन्त्र संख्या	अशुद्धरूप	शुद्धरूप
२०४	१२	शरुव्या	शरुव्या
२०६	१७	पायूष	पीयूष
२११	२५	ब्रह्मसशिते	ब्रह्मशंशिते
२२६	२३	पृथिवी	पृथिवी
"	"	पात्वहंसो	पात्वंहसो
२३१	५	सवता	सविता
२३३	७	कृण्वतें	कृण्वतें
२४०	१९	सव्रतौ	सर्वतौ
२५०	९	क्रुणोति	कृणोति
"	१०	परिनृत्यंत्ति	परिनृत्यन्ति
२५२	१२	बस्तवासिनौ	बस्तवासिनौ
२५५	१७	शालुढम्	शालुडम्
२६३	१	पृश्नय	पृश्नय
२६५	७	वेर्चसो	वर्चसो
२८४	१९	णुत्तानां	अणुत्तानां
२९७	९	पुचात्	पुश्चात्
३०३	१५	एक	एकं

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेद-भाष्यम्

काण्ड ७, अनुवाक १

सूक्त १

१-२ अथर्वा । आत्मा । १ त्रिष्टुभ्; २ विराड् जगती

धीती वा ये अनयन् वाचो अग्रं मनसा वा येऽवदन्नृतानि ।
तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानास्तुरीयेणामन्वत नाम धेनोः ॥१॥

(ये, वा) जो या (धीती) ध्यानाभ्यास द्वारा (वाचः) वेदवाणी सम्बन्धी (अग्रम्) श्रेष्ठ प्रजापति-ब्रह्म को (अनयन्) हृदय में लाए हैं, उस का ध्यान करते हैं, (वा) अथवा (मनसा) मनन पूर्वक अर्थात् सत्या-सत्य विवेक पूर्वक (ये) जिन्होंने (ऋतानि) सत्यवचन (अवदन्) सदा बोले हैं, [वे दोनों] (तृतीयेन ब्रह्मणा) तृतीय ब्रह्म अर्थात् प्रजापति [की कृपा] द्वारा (वावृधानाः) वृद्धि को प्राप्त होते हुए, (तुरीयेण) चतुर्थ ब्रह्म [की कृपा] द्वारा (धेनोः) दुधारू-गो-सदृश वेदवाणी द्वारा प्रतिपादित (नाम) ओ३म्-नाम का (अमन्वत) मनन करते रहते हैं।

[मन्त्र में "वा" पद विकल्पार्थक प्रतीत होता है। अतः प्रजापति-ब्रह्म-ध्यानी या विवेक पूर्वक सत्यवाणी बोलने वाले को समकक्ष का आध्यात्मिक सूचित किया है। तृतीय ब्रह्म अर्थात् प्रजापति इन दोनों की वृद्धि करता है। अथवा "वा"=चार्थे[1]। यथा "अथापि [वा] समुच्चयार्थे भवति, वायुर्वात्वा मनुर्वात्वा" (तै० संहिता १।७।७।२; निरुक्त २।२।५)। समुच्चयार्थ में तृतीय ब्रह्म अर्थात् प्रजापति उन की वृद्धि करता है जो कि प्रजापति-ब्रह्म को हृदय में लाते और साथ ही सत्यवचन सदा बोलते हैं। तृतीय ब्रह्म है,

---

१. चार्थे=समुच्चयार्थे।

प्रजापति-ब्रह्म, जगत् का कर्त्ता और पालक ब्रह्म। ध्यानाभ्यास में प्रजापति ब्रह्म तृतीय धाम है। प्रथम धाम हैं भ्रूमध्य, नासिकाग्र आदि। द्वितीय धाम है जीवात्मा, इसके प्रत्यक्ष करने में ध्यानियों की स्थिति। जो अभी जीवन्मुक्त नहीं हुए उन मुमुक्षुओं की स्थिति तृतीयधाम में होती है। यथा "यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त" (यजु० ३२।१०)। नाम धेनोः=धेनु अर्थात् वेदवाणी का साक्षात् तथा परम्परया प्रतिपाद्य नाम है ओ३म्। यथा "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत् ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्" (कठ० उप० २।१५)। धेनुः वाङ्नाम (निघं० १।११)। तथा जीवन्मुक्त मुमुक्षु, चतुर्थ ब्रह्म की कृपा से ओ३म् में लीन रहते और ओ३म् का ही जप करते रहते हैं। ये शरीर त्याग के पश्चात् तुरीय ब्रह्म में ही विचरते, और उसी में मग्न रहते हैं। परन्तु ध्यानी और सत्यवक्ता का जीवन यतः संसारी होता है, वे अभी जीवन्मुक्तावस्था में नहीं होते, अतः वे प्रजापति-ब्रह्म के साक्षात्कार में रत रहते हैं, जो प्रजापति-ब्रह्म कि प्रजाओं के उत्पादन और पालन के साथ सम्बद्ध रहता है, इस संसार के साथ सम्बद्ध रहता है]।

स वेद पुत्रः पितरं स मातरं स सूनुर्भुवत् स भुवत् पुनर्मघः ।
स द्यामौर्णोदन्तरिक्षं स्वः स इदं विश्वमभवत् स आभवत् ॥२॥

(सः पुत्रः) वह पुत्र परमेश्वर (पितरम्) द्यौः पिता को, (सः मातरम्) वह पृथिवी माता को (वेद) जानता है, (सः सूनुः) वह जगत् का प्रेरक (भुवत्) हुआ है, (सः) वह (पुनर्मघः) वार-वार ऐश्वर्यवान् (भुवत्) हुआ है। (सः) वह (द्याम्, अन्तरिक्षम् स्वः) द्युलोक को, अन्तरिक्ष और स्वर्लोक को (और्णोत्) निज व्याप्ति द्वारा आच्छादित किये हुआ है।(सः) वह (इदम्, विश्वम्) इस विश्व को (अभवत्) प्राप्त है, (सः) वह (आ अभवत्) सर्वत्र सत्तावान् हुआ है, विद्यमान है।

[परमेश्वर, द्यौः पिता और पृथिवी माता का पुत्र है, इन दोनों की विविध घटनाओं द्वारा परमेश्वर की सत्ता का परिज्ञान होता है, अतः परमेश्वर को द्यौः और पृथिवी का पुत्र कहा है। सूनुः का अर्थ पुत्र नहीं, क्योंकि पुत्र का कथन पूर्व हो चुका है, अतः सूनुः का अर्थ है प्रेरक, षू प्रेरणे (तुदादिः)। अभवत्=भू प्राप्तौ (चुरादिः) आ अभवत्=आ (सर्वत्र)+

अभवत् (भू सत्तायाम् भ्वादिः)। पुनर्मघः=मघ का अर्थ है धन अर्थात् ऐश्वर्य। प्रलय काल में परमेश्वर जगत्‌रूपी धन से रहित हो जाता है, और जगत् को पैदा कर वह पुनः मघवान् हो जाता है। यह अवस्था वार-वार के प्रलय और सृष्टि में होती रहती है। परमेश्वर को "मघवा" भी कहते हैं, मघवा=मघवाला, धन वाला]।

सूक्त २

अथर्वा। आत्मा। त्रिष्टुभ्।

अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम् ।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥१॥

(अथर्वाणम्) निश्चल अर्थात् कूटस्थ, (पितरम्) जगत् के उत्पादक (देवबन्धुम्) सूर्य-चन्द्र आदि द्योतमान पदार्थों को [नियत स्थानों में] बान्धने वाले, (मातुर्गर्भम्) पृथिवी माता के गर्भरूप, (पितुः असुम्) पितृरूप द्यौः के प्राणभूत, (युवानम्) सदा युवा (इमम्) इस (यज्ञम्) यजनीय अर्थात् देवरूप में पूजनीय परमेश्वर को (यः) जो (मनसा) मनन पूर्वक (चिकेत) सम्यक्तया जानता है, वह (नः) हमें (प्रवोचः) उस का प्रवचन करे, (तम्) उसे (इह, इह) इन-इन विविध स्थानों में (ब्रवः) कहे।

[वोचः=वक्तुः ब्रवः=ब्रवीतु, पुरुषव्यत्यय। अथर्वा="थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः" (निरुक्त ११।२।१९)। वह अथर्वा—परमेश्वर पृथिवी माता में गर्भरूप से विद्यमान है। मातृगर्भस्थ शिशुपिण्ड का स्वरूप अज्ञायमान होता है। और समय पर प्रकट होकर वह ज्ञातस्वरूप हो जाता है, इसी प्रकार परमेश्वर पृथिवी माता में विद्यमान होता हुआ भी अज्ञातरूप में रहता है, और समय पर किसी ऋषि, मुनि, सन्त, महात्मा में प्रकट हो कर ज्ञातस्वरूप हो जाता है।

"पितुः असुम्", पिता है द्यौः। द्युलोक का वह असु है, प्राणरूप है। परमेश्वरीय-प्राण के कारण द्युलोक नियम पूर्वक मानो चेष्टावान् हुआ है]।

सूक्त ३

अथर्वा । आत्मा । त्रिष्टुभ् ।

अया विष्ठा जनयन् कर्वराणि स हि घृणिरुरुर्वराय गातुः ।
स प्रत्युदैद् धरुणं मध्वो अग्रं स्वया तन्वा तन्वमैरयत ॥१॥

(अया=अनया) इस (विष्ठा=विष्ठया) विविध स्थिति के कारण (कर्वराणि) जगत् के कर्मों को (जनयन्) पैदा करता हुआ (सः हि) वह [अथर्वा-परमेश्वर] ही (घृणिः) दिन के समान चमकता है, (उरुः) और वह सर्वाच्छादक है। (वराय) वह वरण किये गए उपासक के लिये (गातुः) मार्ग प्रदर्शक होता है। (सः) वह परमेश्वर (धरुणम्) हमारा धारण करने वाले सूर्य के (प्रति उदैत्) प्रति सदा उदित रहता है, सूर्य जो कि (मध्वः अग्रम्) जल आदि पदार्थों या मधुर अन्नों के उत्पादन में अग्र है, मुखिया है। (स्वया तन्वा) परमेश्वर निज विस्तार द्वारा (तन्वम्) विस्तृत ब्रह्माण्ड को (ऐरयत) प्रेरित करता है।

[अया=तृतीयाया याजादेशः (सायण)। कर्वराणि=कर्वरम् कर्मनाम (निघं० २।१)। घृणिः अहर्नाम (निघं० २।९); घृ दीप्तौ (जुहोत्यादिः)। दिन प्रदीप्त ही होता है। उरुः= ऊर्णु ञ् आच्छादने (अदादिः)। मध्वः, मधु उदकनाम (निघं० १।१२), अथवा मधुर अन्न। धरुणम्=सूर्य हमारा धारण करता है, और परमेश्वर सूर्य का धारण करता है, एतदर्थ वह सूर्य में मानो सदा उदित रहता है। जैसे कि कहा है "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म" (यजु० ४०।१७)। तन्वा, तन्वम्=तनु विस्तारे (तनादिः)। परमेश्वर विविध पदार्थों में स्थित होकर उन के कर्मों को नियन्त्रित करता है]।

सूक्त ४

अथर्वा । वायुः । त्रिष्टुभ् ।

एकया च दशभिश्चा सुहूते द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या च ।
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च वियुग्भिर्वाय इह ता वि मुञ्च ॥१॥

(सुहूते) उत्तम आहुतियों को प्राप्त परमेश्वर की प्राप्ति के लिये, (वियुग्भिः) [शरीर-रथ के साथ] विशेषरूप में जुती हुई (एकया च दशभिः च) एक और दस अर्थात् ११ शक्तियों समेत, (च) और (इष्टये) इच्छा की पूर्ति के लिये (द्वाभ्याम्, विंशत्या) दो के साथ बीस अर्थात् २२ शक्तियों समेत; (च) और (वहसे) शरीर-रथ के वहन के लिये (तिसृभिः च त्रिंशता च) तीन तथा तीस अर्थात् ३३ शक्तियों समेत (वायो) हे वायुनामक परमेश्वर! (मैं तेरे प्रति आत्माहुति, आत्मसमर्पण करता हूं) (ताः) उन समग्र शक्तियों को (इह) इस जीवन में (विमुञ्च) मुझ से विमुक्त करदे, छुड़ा दे।

(१) सुहुते, इष्टये, वहसे, तीनों पद चतुर्थ्येकवचनान्त हैं। सुहुते=सु+हुत् (हु, क्विप्, तुक्)+ङे (चतुर्थी विभक्ति का एकवचन)। वहसे=वह्+असुन्+ङे (चतुर्थी विभक्ति का एकवचन)। इष्टये=यह स्पष्टतया चतुर्थी विभक्ति का एकवचनान्त रूप है। इन तीनों पदों की चतुर्थी विभक्ति "तुमुन्" अर्थ में है। अतः इन के अर्थ "प्राप्ति के लिये"। तथा "पूर्ति के लिये" किये हैं। यथा "फलाय गच्छति ग्रामम्" का अभिप्राय है "फलानि, आहर्तुम्, गच्छति ग्रामम्"। "आहर्तुम्" तुमुन् प्रत्ययान्त है।

(२) "वियुग्भिः" और "विमुञ्च" प्रयोगों द्वारा शरीर-रथ को सूचित किया, जिस के साथ शक्तियों को परमेश्वर ने जोता है, और जिससे उन्हें वह विमुक्त करता है। "इष्टये" द्वारा इच्छा प्रकट की है मोक्ष के लिये, जिसे कि "विमुञ्च" पद द्वारा विमुक्ति या मुक्ति सूचित की है।

(३) एक और दश शक्तियां हैं, १ मन, ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां—ये शरीर रथ के साथ जुती हुई हैं। इन ११ शक्तियों को उपनिषद् में "हय" कहा है। यथा "इन्द्रियाणि हयानाहुः" (कठ० १।३।४)। इसलिये शरीर है रथ, जिस के साथ कि इन्द्रिय-हय अर्थात् अश्व जुते हुए हैं। इसलिये शरीर को रथ कहा है। यथा "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु" (कठ० १।३।३)।

(४) एकादश शक्तियां हैं कारण शरीर की। २२ शक्तियां हैं, ११ कारणशरीर की+११ सूक्ष्म शरीर की। ३३ शक्तियां हैं, ११ कारण शरीर की+११ सूक्ष्म शरीर की+११ स्थूल शरीर की। ये शक्तियां कारण शरीर में अनभिव्यक्तावस्था में, सूक्ष्मशरीर में सूक्ष्मरूप में, और स्थूलशरीर में पूर्णरूप से अभिव्यक्तावस्था में रहती हैं। शक्तियां तो केवल ११ ही हैं, परन्तु त्रिविध शरीरों में इन की त्रिविध स्थितियों के कारण इन्हें ३३ कहा है, ११+११+११=३३। ये ३३ आध्यात्मिक देव हैं, जिन्हें के वैदिक साहित्य में ३३ देवता कहा है।

(५) एकया, द्वाभ्याम्, तिसृभिः—द्वारा मन को सूचित किया है। सात्त्विक शक्तिसम्पन्न मन कारण शरीर में, सात्त्विक और राजसिक शक्तियों सम्पन्न मन सूक्ष्मशरीर में, तथा सात्त्विक-राजसिक-तामसिक शक्तियों सम्पन्न मन स्थूलशरीर में प्रेरणाएं देता है।

(६) विशेष:—मन्त्र में शब्द तो स्पष्ट हैं, परन्तु रहस्यार्थक हैं। इस रहस्य को यथामति मैंने प्रकट किया है। विचारभेद अवश्य सम्भव है। अथर्ववेद (१०।७।२७) के अनुसार ३३ देवों के यथार्थ स्वरूपों को कतिपय वेदवेत्ता या ब्रह्मवेत्ता ही जानते हैं। यथा "यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे। तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवानेके ब्रह्मविदो विदुः"॥ अतः ३३ देवों के स्वरूप रहस्यमय ही हैं। तथा ३३ देवों का विभाग, ग्यारह-ग्यारह के समूहरूप में, द्यौः, अन्तरिक्ष और पृथिवी में दर्शाया है। यथा "ये देवा दिव्येकादश स्थ"; "ये देवा अन्तरिक्ष एकादश स्थ"; "ये देवाः पृथिव्यामेकादश स्थ" (अथर्व० १९।२७।११,१२,१३)। इसी प्रकार यजुर्वेद में भी ग्यारह-ग्यारह के समूहरूप में ३३ देवों की स्थिति "दिवि, पृथिव्याम्, अप्सु" द्वारा दर्शाई है (७।१९), अप्सु=अन्तरिक्षे। यथा "आपः अन्तरिक्षनाम (निघं० ५।३) "दिव्, अन्तरिक्ष, पृथिवी" आधिदैविक स्थान हैं ३३ आधिदैविक देवों के। आध्यात्मिक दृष्टि से "कारणशरीर" द्यौः है, "सूक्ष्म शरीर" अन्तरिक्ष है, तथा "स्थूल शरीर" पृथिवी है। तथा इसी प्रकार अध्यात्म दृष्टि से सिर है दिव्, जो कि ज्ञानप्रकाश का स्थान है, छाती है अन्तरिक्ष, जिस में श्वास-प्रश्वास की वायु सदा प्रवाहित होती रहती है, तथा पेट है पृथिवी, जो कि अन्न का स्थान है। वायु=सर्वगति वाला परमेश्वर। वा गतिगन्धनयोः (अदादिः), तथा "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः" (यजु० ३२।१) में परमेश्वर को "वायु" भी कहा है।

सूक्त ५

(१-५)। अथर्वा। आत्मा। त्रिष्टुभ्, ३ पंक्तिः; ४ अनुष्टुभ्।

य॒ज्ञेन॑ य॒ज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन्।
ते ह॒ नाकं॑ महि॒मानः॑ सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः ॥१॥

(देवाः) विद्वान् लोग (यज्ञेन) ज्ञानयज्ञ से (यज्ञम्) पूजनीय ईश्वर

की (अयजन्त) पूजा करते हैं, (तानि) वे ईश्वर की पूजा आदि (धर्माणि) धर्म (प्रथमानि) अनादिरूप से मुख्य (आसन्) हैं। (ते) वे विद्वान् (महिमानः) महत्त्व से युक्त हुए (यत्र) जिस सुख में (पूर्वे) इस समय से पूर्व हुए (साध्याः) साधनों को जीतते हुए (देवाः) प्रकाशमान विद्वान् (सन्ति) हैं, उस (नाकम्) सब दुःख रहित मुक्ति सुख को (ह) ही (सचन्त) प्राप्त होते हैं। (यजु० ३१।१६) के दयानन्द के भाष्य के अनुसार अर्थ दिया है।

अथवा

(देवाः) दिव्यगुणी उपासक (यज्ञेन) देवत्वेन पूजन, संगतिकरण, तथा आत्मसमर्पण की विधि द्वारा (यज्ञम्) यजनीय-परमेश्वर को (अयजन्त) पूजते रहे हैं, (तानि) वे (धर्माणि) धर्मकृत्य (प्रथमानि) मुख्य तथा श्रेष्ठ (आसन्) रहे हैं। (ते) वे उपासक (महिमानः) महिमा को प्राप्त हुए (ह) निश्चय से (नाकम्) दुःखरहित स्थान को (सचन्त) प्राप्त होते हैं, (यत्र) जिस स्थान में (पूर्वे) पूर्वसृष्टिकाल के (साध्याः) साधनीय योग-साधनों को सिद्ध किये (देवाः) दिव्यगुणी उपासक (सन्ति) विद्यमान हैं।

[यज्ञेन=यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु (भ्वादिः), परमेश्वर को मुख्य देव जान कर उसी देव की पूजा करनी, उस के साथ ध्यानाभ्यास-पूर्वक निज संग प्राप्त करना, उसके प्रति आत्मसमर्पण करना,—ये मुख्य तथा श्रेष्ठ धर्म कृत्य हैं, जिन्हें कि "तानि" द्वारा निर्दिष्ट किया है। "नाकम्" पद दुःख रहित स्थान विशेष का सूचक है। यथा "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः। योऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम" (यजु० ३२।६) में द्यौः, पृथिवी, अन्तरिक्षरूप आधिदैविक लोकों के साथ "नाकः" पद पठित है, अतः "नाकः" भी आधिदैविक स्थान विशेष प्रतीत होता है, इसी प्रकार "स्वः" भी आधिदैविक स्थान विशेष ही है। पूर्वे=अथवा सद्गुणों द्वारा परिपूर्ण। सद्गुण हैं देव पूजा आदि, पुर्व पूरणे (भ्वादिः)। महिमानः=उपासना द्वारा महिमा को प्राप्त। साध्याः=साधकाः, अर्श आदित्वात् अच् प्रत्ययः (सायण)]।

य॒ज्ञो ब॑भूव॒ स आ ब॑भूव॒ स प्र ज॑ज्ञे॒ स उ॑ वावृधे॒ पुनः॑।
स दे॒वाना॒मधि॑पतिर्बभूव॒ सो अ॒स्मासु॒ द्रवि॑ण॒मा द॑धातु ॥२॥

(यज्ञः) यजनीय परमेश्वर (बभूव) सत्तावान् है, (सः) वह (आ बभूव) सर्वत्र सत्तावान् हुआ है, (सः) वह (प्र जज्ञे) प्रज्ञानी है, (सः उ)

वह ही (पुनः) बार-बार सृष्टि में (वावृधे) गुण-कर्मों की दृष्टि से वृद्धि को प्राप्त होता रहता है। (सः) वह (देवानाम्) सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि देवों का (अधिपतिः बभूव) स्वामी हुआ है, (सः) वह (अस्मासु) हम में (द्रविणम्) आध्यात्मिक तथा आधिदैविक धन (आ दधातु) स्थापित करे।

यद् देवा देवान् हविषाऽयजन्तामर्त्यान् मनसामर्त्येन ।
मदेम तत्र परमे व्योमन् पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य ॥३॥

(देवाः) दिव्यगुणी उपासक, (हविषा) आत्मसमर्पण रूपी हवि द्वारा (अमर्त्येन मनसा) अमर्त्य मन द्वारा (यत्) जो (अमर्त्यान् देवान्) अमर्त्य दिव्य गुणों को (अयजन्त[1]) अपने साथ सुसंगत करते हैं, सम्बद्ध करते हैं, (तत्र) उस अवस्था में (परमे व्योमन्) परमरक्षक परमेश्वर में [स्थित हुए] (मदेम) हम उपासक हर्ष को प्राप्त हों, और (सूर्यस्य उदितौ) सूर्य के उदित होने पर [प्रातः काल के] ध्यान में (पश्येम) परमेश्वर को साक्षात् हम देखें।

[मनसा—"मन" मानो अमर्त्य है, जब तक मोक्ष नहीं होता आत्मा के साथ मन रहता है। अथवा मोक्ष हो जाने पर भी उन मुक्तात्माओं के साथ मन बना ही रहता है जो कि परोपकारार्थ पुनर्जन्म के अभिलाषी होते हैं। यथा "स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दशेयं मातरं च" (ऋ० १।२४।१)। व्योमन्=वि=अव् (रक्षणे)+मन् (उणा० ४।१४२); मन् प्रत्ययस्य टिलोपो धातोरुपधावकारयोरूठ् (दयानन्द)। देवान्="देवाः पुरुषमाविशन्"; (अथर्व० १४।१०।१३,१८); तथा "आशिषश्च प्रशिषश्च संशिषो विशिषश्च याः। चित्तानि सर्वे संकल्पाः शरीरमनु प्राविशन् (अथर्व० ११।१०।२७); तथा "सत्यं यज्ञो यशो बृहत्। बलं च क्षत्रमोजश्च शरीरमनु प्राविशन् (अथर्व० ११।१०।२०) इत्यादि। ये देव हैं जिन को कि उपासक अपने में सुसंगत करते हैं]।

यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत ।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे ॥४॥

(देवाः) दिव्य उपासक (यत्) जो कि (पुरुषेण) ब्रह्माण्ड-पुरी में शयन करने वाले या उस में निवास करने वाले परमेश्वररूपी (हविषा) हवि

१. यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु। मन्त्र में "संगतिकरण" अर्थ अभिप्रेत है।

द्वारा (यज्ञम्) ध्यान यज्ञ का (अतन्वत) विस्तार करते हैं, (तस्मात्) इस कारण (नु) निश्चय से (ओजीयः) ध्यानयज्ञ अधिक ओजस्वी (अस्ति) है, (यत्) यतः (विहव्येन) द्रव्ययज्ञ के बिना (ईजिरे) वे यज्ञ करते हैं।

[पुरुषेण=पुरि शेते, वसति वा। मन्त्र में द्रव्ययज्ञ की अपेक्षा से ध्यानयज्ञ को अधिक ओज वाला कहा है। यथा-"श्रेयान् द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परंतप" (गीता ४।३३) तथा (यजु० ३१।१६)। अतन्वत, ईजिरे प्रयोग वर्तमानार्थक हैं, यथा "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" (अष्टा० ३।४।६) द्वारा लुङ् आदि का प्रयोग वर्तमान में भी होता है]।

मुग्धा देवा उत शुनाऽयजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधायजन्त ।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥५॥

(मुग्धाः) मोह अर्थात् अज्ञान से ग्रस्त (देवाः) वे मदान्वित यजमान हैं जो कि (शुना उत) श्वा द्वारा भी (अयजन्त) यज्ञ करते हैं, (उत गोः अङ्गैः) तथा गौ के अङ्गों द्वारा भी (पुरुधा) बहुत प्रकार से (अयजन्त) यज्ञ करते हैं। (यः) जो कोई (इमम् यज्ञम्) इस द्विविध यज्ञ को (मनसा) मनन पूर्वक (चिकेत) सम्यक् रूप में जानता है (तम्) उस ज्ञानी को (नः) हमारे प्रति (प्रवोचः) तू कह, (तम्) उस [के नाम] को (इह इह) इन नाना स्थानों में (ब्रवः) तू घोषित कर।

[मुग्धाः=कार्याकार्यविवेकरहिताः, देवाः यजमानाः (सायण)। मुग्धाः=मुह वैचित्ये (दिवादिः)। वैचित्यम्=वि+चिती (संज्ञाने, भ्वादिः) अर्थात् सम्यक् ज्ञान से रहित। देवाः=मदान्विताः। दिवु मदार्थक (दिवादिः) मन्त्र में "इमं यज्ञं मनसा चिकेत" शब्द द्वारा "शुना और गोभिः" शब्दों के प्रतीयमान अर्थों में अरुचि प्रकट की गई है। "शुना" का वास्तविक अर्थ है, "वायु द्वारा" यथा "शुनासीरौ" में "शुन" का अर्थ वायु है (निरुक्त ६।४।४०)। "शुनेन" की तृतीया-सुप्-विभक्ति को "डा" आदेश होकर "टि" का लोप हुआ है (अष्टा० ७।१।३९)। अतः शुनेन=शुना, वायुना। वायु को पशु कहा भी है, जिसके द्वारा कि यज्ञ किया जाता है, सम्पन्न होता है। यथा "अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त। वायुः पशुरासीत्तेनायजन्त। सूर्यः पशुरासीत्तेनायजन्त (यजु० २३।१७)। इस प्रकार पशुयज्ञ है, अग्नि,

वायु, और सूर्य द्वारा यज्ञ करना। "गोभिः" पद द्वारा गौ के दुग्ध का कथन हुआ है। यथा "अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति" गोभिः श्रीणीत मत्सरम् "इति पयसः" (निरुक्त २।२।५)। इस प्रकार गौ के दूध, दधि, आज्य द्वारा किया गया यज्ञ गौ के अङ्गों द्वारा किया गया यज्ञ है। तथा गौ का अर्थ है पृथिवी। "गौरिति पृथिव्या नामधेयम्" (निरुक्त २।२।५) पृथिवी के अङ्ग हैं, नानाविध अन्न, ओषधियां, वनस्पतियाँ। पृथिवी के इन नानाविध अङ्गों द्वारा किया गया यज्ञ, "गोरङ्गैः" द्वारा किया गया यज्ञ है]।

सूक्त ६

(१-२)। **अथर्वा। अदितिः देवता। त्रिष्टुभ्; २ भुरिक्।**

अदि॑तिर्द्यौरदि॑तिर॒न्तरि॑क्ष॒मदि॑तिर्मा॒ता स पि॒ता स पु॒त्रः।
विश्वे॑ दे॒वा अदि॑तिः॒ पञ्च॒ जना॒ अदि॑तिर्जा॒तमदि॑तिर्जनि॑त्वम् ॥१॥

(द्यौः) द्युलोक (अदितिः) अक्षीणा-देवमाता प्रकृति है, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (अदितिः) अदिति है, (माता अदितिः) माता अदिति है, (सः पिता) वह पिता [अदितिः] है, (सः पुत्रः) वह पुत्र [अदितिः है]। (विश्वे देवाः) सब सूर्यादि द्योतमान पदार्थ (अदितिः) अदिति हैं, (पञ्चजनाः) पांच जन (अदितिः) अदिति हैं, (जातम्) उत्पन्न जगत् और (जनित्वम्) जो उत्पन्न होगा (अदितिः) वे सब अदिति हैं।

["अदितिरदीना देवमाता" (निरुक्त ४।४।२३), अदिति पर (४६)। अर्थात् प्रकृति माता किसी के प्रति दीन नहीं है, तथा वह अक्षीणा, अनश्वरा है, नित्या है। अ+दीङ् क्षये (दिवादिः)। पञ्चजनाः = उत्पन्न पञ्चभूत, पृथिवी अप्, तेजः, वायु, आकाश। चेतन और जड़ पदार्थ जो उत्पन्न हुए हैं, और जो उत्पन्न होंगे उन्हें अदितिरूप कहा है। अदिति इन सब देवों की माता है, निर्माण करती है। अतः ये सब आदिति माता की सन्तानें हैं। सन्तानों को मातृ-स्वरूप कहा जाता है। यथा "आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्" (शत० ब्राह्मण २४।६।८।२६) इसलिये द्यौः आदि को "आदितिः" कहा है]।

म॒हीमू॒ षु मा॒तरं॑ सुव्र॒ताना॑मृ॒तस्य॒ पत्नी॒मव॑से हवामहे।
तु॒वि॒क्ष॒त्राम॒जर॑न्तीमुरू॒चीं सु॒शर्मा॑ण॒मदि॑तिं सु॒प्रणी॑तिम् ॥२॥

(महीम्) पूजनीया, (सुव्रतानाम् मातरम्) उत्तम-व्रतों वालों की माता (ऋतस्य) सत्य की (पत्नीम्) पालयित्री पालन करने वाली, (तुविक्षत्राम्) बहुविध धनों की स्वामिनी, (अजरन्तीम्) न जीर्ण होने वाली या जरा-रहित, (उरूचीम्) विस्तृत आकाश में व्याप्त, (सुशर्माणम्) उत्तम-सुख से सम्पन्न या (ऊषु) उत्तम-आश्रयरूप, (सुप्रणीतिम्) उत्तम प्रणय वाली (अदितिम्) अदीना या अक्षीणा देवमाता का (अवसे) निजरक्षार्थ (सुहवामहे) हम उत्तम प्रकार भक्ति पूर्वक आह्वान करते हैं।

[महीम्—मह पूजायाम् (भ्वादिः)। ऋतम् सत्यनाम (निघं० ३।१०)। तुवि बहुनाम (निघं० ३।१)। क्षत्रम् धननाम (निघं० २।१०)। उरूचीम् = उरु+अञ्चु गतौ। शर्म सुखनाम (निघं ३।५); तथा गृहनाम (निघं० ३।४)। अदितिः = अ+दीङ् क्षये (दिवादिः)+क्तिन्।

प्रणय = प्रेम। अदितिम् = मन्त्र में अदिति द्वारा अक्षीणा देवमाता पारमेश्वरी माता अभिप्रेत है]।

सूक्त ७

(१-२) **अथर्वा। अदितिः। विराड् जगती।**

सु॒त्रामा॑णं पृथि॒वीं द्याम॑ने॒हसं॑ सु॒शर्मा॑ण॒मदि॑तिं सु॒प्रणी॑तिम्।
दैवीं॒ नावं॑ स्वरि॒त्राम॑नागसो॒ अस्र॑वन्ती॒मा रु॑हेमा स्व॒स्तये॑ ॥१॥

(सुत्रामाणम्) उत्तम त्राण करने वाली, (पृथिवीम्) विस्तीर्ण (द्याम्) द्योतमान (अनेहसम्) पापरहित, (सुशर्माणम्, अदितिम्, सु प्रणीतिम्) अर्थ मन्त्र ७।६।२; (स्वरित्राम्) उत्तम चप्पुओं वाली, (दैवीं) देवसम्बन्धी (अस्रवन्तीम्) स्रवण न करने वाली, (नावम्) नौका पर, (अनागसः) पापरहित हम (स्वस्तये) कल्याण के लिये (आरुहेम) आरोहण करें।

[मन्त्र में जलीय नौका, तथा अदितिरूप पारमेश्वरी-मातृरूप नौका का मिश्रित वर्णन हुआ है। "अनेहसम्" का अर्थ है पापरहित, इसका साक्षात् सम्बन्ध परमेश्वर माता के साथ है, वह पापरहिता है, जलीय नौका के साथ इस का सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। इसी प्रकार "अनागसः" का सम्बन्ध भी पारमेश्वरी-नौका के साथ है। उपासक पापरहित होकर ही पारमेश्वरी-नौका पर आरोहण कर सकते हैं, जलीय नौका पर तो पापी, निष्पापी सभी आरोहण कर सकते हैं। परमेश्वर नौकारूप है। श्वेता० उप० (अ० २। खण्ड ८) में परमेश्वर को "ब्रह्मोडुप" कहा है, यथा—

"**ब्रह्मोडुपेन** प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि", अर्थात् अध्यात्मविद्-उपासक ब्रह्मरूपी-उडुप द्वारा सब भयावह स्रोतों को तैर जाय। भयावह स्रोत हैं, इन्द्रिय स्रोत। उडुप का अर्थ है नौका।

परमेश्वर-माता भी त्रायमाणा है, रक्षिका है, पृथिवी के सदृश विस्तीर्णा है, द्यौः की तरह द्योतमाना है, और सुप्रणीति अर्थात् विशेषतया प्रणय वाली है। वह "स्वरित्रा" माता है, कामक्रोध आदि अरियों से सुगमता से त्राण करती है। वह नौका है इसलिये इस पर आरोहण भी सम्भव है। जलीय-नौका भी विस्तीर्ण [पृथिवीम्] होनी चाहिये, तथा उसमें प्रकाश का प्रबन्ध होना चाहिये [द्याम्], तथा उस में उत्तम गृह भी होने चाहियें [शर्म गृहनाम निघं० ३।४] ताकि यात्री उनमें विश्राम कर सकें तथा वह छिद्ररहित होनी चाहिये [अस्रवन्तीम्] ताकि नदी या समुद्र का जल उसमें स्रवण न कर सके]।

वाजस्य नु प्रसवे मातरं महीमदितिं नाम वचसा करामहे।
यस्या उपस्थ उर्व१न्तरिक्षं सा नः शर्म त्रिवरूथं नि यच्छात् ॥२॥

(वाजस्य) बल अर्थात् शक्ति के (नु) शीघ्र (प्रसवे) उत्पादन के निमित्त, (अदितिम् नाम) अदिति नाम वाली (महीम्, मातरम्) पूजनीया परमेश्वर-माता को (वचसा) स्तुति-प्रार्थना-वचनों द्वारा (करामहे) हम स्वकीया करते हैं, अपनाते हैं। (यस्याः) जिसकी (उपस्थे) गोद में (उरू) विस्तृत (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष है, (सा) वह अदिति-माता (नः) हमें (त्रिवरूथम्) तीन-गृहों व्यापी (शर्म) सुख (नियच्छात्) प्रदान करे।

[वाजः बलनाम (निघं० २।९)। वरूथम् गृहनाम (निघं० ३।४)। त्रिवरूथम्=तीन गृह=कारण, सूक्ष्म, स्थूल शरीर, जो कि जीवात्माओं के निवास के लिये गृहरूप हैं। शर्म सुखनाम (निघं० ३।६)](४)।

तथा

(वाजस्य) अन्न के (प्रसवे) उत्पादन के निमित्त, (महीम्) महती (अदितिम्, मातरम्) पृथिवी माता को (वचसा) वेदोक्त विधि द्वारा (करामहे) अन्नोत्पादनयोग्या हम करते हैं। (यस्याः) जिस पृथिवी माता के (उपस्थे) उपस्थ में अर्थात् उस की समीप स्थिति में (उरू) विस्तृत (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष है, (सा) वह पृथिवी-माता (त्रिवरूथम्) तीन मंजिलों वाला (शर्म) गृह (नः) हमें (नियच्छात्) प्रदान करे।

[वाजः अन्ननाम (निघं० २।७)। अदितिः पृथिवीनाम (निघं० १।१)। शर्म गृहनाम (निघं० ३।४)। वरूथम् गृहनाम (निघं० ३।४)। वरूथम्=वृञ् आवरणे, आवृत, घिरा हुआ, इष्टकाचयन द्वारा दीवारों से घिरा हुआ गृह। "प्रसवे, उपस्थे" इन शब्दों द्वारा तथा अदिति के साथ अन्तरिक्ष के सम्बन्ध दर्शाने द्वारा, अदिति और अन्तरिक्ष में, पत्नी-पतिभाव सूचित किया है,। पतिरूप अन्तरिक्ष से वर्षाजल को, पुरुष-शक्ति रूप में, निर्दिष्ट किया है, जिसे प्राप्त कर पत्नीरूप अदिति, अन्नरूपी-सन्तान, प्राप्त करती है। वेद में वर-वधू या पति-पत्नी के भाव को "द्यौः पृथिवी" द्वारा भी सूचित किया है। यथा "द्यौरहं पृथिवी त्वम्, ताविह सं भवाव, प्रजामा जनयावहै" (अथर्व० १४।७।७१)]।

सूक्त ८

अथर्वा। अदितिः। आर्षी जगती।

दितेः पुत्राणामदितेरकारिषम् अव देवानां बृहतामनर्मणाम्।
तेषां हि धाम गभिषक् समुद्रियं नैनान् नमसा परो अस्ति कश्चन ॥१

(दितेः) दिति के (पुत्राणाम्) पुत्रों अर्थात् दैत्यों के (धाम) स्थान को (अकारिषम्) मैंने कर दिया है। (देवानाम्) देवों के पुत्रों के लिये, जो देव कि (बृहताम्) गुणों में महान् हैं, और (अनर्मणाम्) अर्म अर्थात् क्षति नहीं पहुंचाते।

[हे अदिति-माता] (अव) अतः मेरी रक्षा कर। (तेषाम्) उन दिति के पुत्रों का (धाम) स्थान (समुद्रियम्) हृदय-समुद्र[1] में था, (गभिषक्) और गम्भीर या गहरा[2] था, अतः (एनान्) इन देवों या देवपुत्रों को [मैंने स्वीकृत किया है] (नमसा) नम्रतापूर्वक। क्योंकि (कश्चन) कोई भी [दिति का पुत्र] (परः) इन से उत्कृष्ट (न अस्ति) नहीं है।

[ऋग्वेद (१०।३६।११) मन्त्र निम्नलिखित है। यथा "महदद्य महतामा वृणीमहेऽवो देवानां बृहतामनर्वणाम्" इस मन्त्र में "देवानाम्" पद से पूर्व "अवः" पद पठित है, जोकि रक्षार्थक है। इस लिये व्याख्येय मन्त्र के "अव" पद को, "अव" धातु, लोट्, मध्यमपुरुष, एकवचन मान कर अर्थ

१. हृदय में रक्तरूपी जल भरा रहता है, अतः इसे समुद्र कहा है।
२. हृदय के अन्तःस्थल में था।

किया है। दिति के पुत्र हैं, प्रकृति में[3] रममाण संसारी मनुष्यों के, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आदि भाव। इन का स्थान हृदय-समुद्र था और गहरा था। इन्हें इस स्थान से प्रच्युत करके, इस स्थान को, मैंने देवों या देवपुत्रों के लिये अर्पित कर दिया है। देव या देवपुत्र हैं—सत्य, श्रद्धा, पवित्रता, देवपूजन परोपकार आदि। देव मेरे हृदय-समुद्र में बसे रहें, एतन्निमित्त मैं हे अदिति-माता! तेरे से निज रक्षार्थ प्रार्थना करता हूं। मैंने नम्रतापूर्वक इन देवों या देवपुत्रों को स्वीकृत किया है। समुद्र-हृदय-समुद्र (अथर्व० सिन्धुसृत्याय १०।२।११)। स्वीकृत किया है -यह अर्थ ऋग्वेद १०।३६।११ के "वृणीमहे" के अनुकूल है, जिसका अर्थ है "हम वरण करते हैं"। धाम=धामानि त्रयाणि भवन्ति, नामानि, स्थानानि, जन्मानि (निरुक्त ९।३।२७)]।

सूक्त ९

उपरिबभ्रव। बृहस्पतिः। त्रिष्टुभ्।

भद्राद॑धि॒ श्रेय॑: प्रेहि॒ बृह॒स्पति॑: पुर ए॒ता ते॑ अस्तु।
अथे॒मम॒स्या वर॒ आ पृ॑थि॒व्या आ॒रे शत्रूं॑ कृणुहि॒ सर्व॑वीरम् ॥१॥

(भद्रात् अधि) भद्रमार्ग से (श्रेयः) श्रेयमार्ग की ओर (प्रेहि) तू जा, (बृहस्पतिः) बृहद्-ब्रह्माण्ड का पति परमेश्वर (ते) तेरा (पुरएता) अग्रगामी (अस्तु) हो, मार्गदर्शक हो। (अथ) तदनन्तर हे बृहस्पति! (इमम्) इस श्रेयमार्गी को (अस्याः पृथिव्याः) इस पृथिवी के (वरे) उत्कृष्ट स्थान में (आ) पूर्णतया (कृणुहि) स्थापित कर, और (सर्ववीरम्) सब प्रबल शक्तियों समेत (शत्रुम्) इसके शत्रु को (आरे) दूर (कृणुहि) कर।

[सूक्त (७) के मन्त्र में दैत्यभावों के स्थान में दिव्यभावों को हृदय में स्थापित करने का वर्णन हुआ है। यह है भद्रमार्ग। इस भद्रमार्ग से श्रेयमार्ग की ओर जाने का कथन इस मन्त्र में हुआ है। श्रेयमार्ग की ओर जाने में परमेश्वर को अगुआ कर उसका पदानुगामी बनना चाहिये, ताकि श्रेयमार्गी पथभ्रष्ट न हो जाय। इस श्रेय मार्ग पर चलते हुए कामादि शत्रु, निज

३. प्रकृति है दिति, खण्डित होने वाली, क्षीण होने वाली, और अदिति है परमेश्वर-माता जोकि अनश्वर और अक्षीण है। दिति=दो अवखण्डने (दिवादिः)।

प्रबल शक्तियों सहित, इसे श्रेयमार्ग से विचलित करने की चेष्टा करते हैं, उन्हें परमेश्वर की प्रार्थना, उपासना पूर्वक दूर करते रहना चाहिये]।

सूक्त १०

(१-४) उपरिबभ्रव। पूषा। त्रिष्टुभ्; ३ त्रिपदा आर्षी गायत्री; ४ अनुष्टुभ्।

प्रप॑थे प॒थाम॑जनिष्ट पू॒षा प्रप॑थे दि॒वः प्रप॑थे पृथि॒व्याः।
उ॒भे अ॒भि प्रि॒यत॑मे स॒धस्थे॒ आ च॒ परा॑ च चरति प्रजा॒नन् ॥१॥

(पथाम्) मार्गों में से (प्रपथे) श्रेष्ठमार्ग पर चलते हुए, (पूषा) पोषक परमेश्वर (अजनिष्ट) प्रकट होता है, (दिवः) अर्थात् दिव्य (प्रपथे) श्रेष्ठ मार्ग पर, तथा (पृथिव्याः) पार्थिव (प्रपथे) श्रेष्ठ मार्ग पर [चलते हुए को]। (उभे) ये दोनों मार्ग (प्रियतमे) अत्यन्त प्रिय लगते हैं, (सधस्थे) और जीवन में साथ-साथ स्थित रहते हैं। (प्रजानन्) प्रज्ञानी व्यक्ति (अभि) इन दोनों मार्गों को संमुख कर (आ च) इधर के अर्थात् प्रेय के मार्ग की ओर, (परा च) और परले अर्थात् श्रेयमार्ग की ओर [युगपत्] (चरति) चलता है।

[जीवन के दो मार्ग हैं, दिव् का मार्ग अर्थात् देवों का मार्ग, श्रेयमार्ग, और पार्थिव जीवन का मार्ग, प्रेयमार्ग। इन दोनों मार्गों पर साथ-साथ चला जा सकता है (सधस्थे) यदि इन दोनों मार्गों पर उत्कृष्टरूप में—अर्थात् दोनों मार्गों के लिये निर्दिष्ट समन्वित निज कर्त्तव्यों का पालन करते हुए, चला जाय, (प्रपथे) तो दोनों मार्गों में परमेश्वर की प्राप्ति हो सकती है। परमेश्वर पूषा है, वह दोनों मार्गों पर युगपत् चलने वाले को पुष्टि प्रदान करता रहता है]।

पू॒षेमा आशा॒ अनु॑ वेद॒ सर्वा॒: सो अ॒स्मान् अभ॑यतमेन नेषत्।
स्व॒स्ति॒दा आघृ॑णि॒: सर्व॑वी॒रोऽप्र॑युच्छन् पु॒र ए॑तु प्रजा॒नन् ॥२॥

(पूषा) पुष्टिदायक परमेश्वर (सर्वाः इमाः आशाः) हमारी सब आशाओं, इच्छाओं को (अनु) निरन्तर (वेद) जानता है, (सः) वह (अस्मान्) हमें (अभयतमेन) सर्वथा भय रहित मार्ग द्वारा (नेषत्) ले चले, [हमारा नेता बन कर उस मार्ग पर हमें चलाए]। वह (स्वस्तिदाः) कल्याण-प्रदाता है,

(आघृणिः) ज्ञानदीप्ति सम्पन्न है, (सर्ववीरः) सबका विशेषतया प्रेरक है, वह (अप्रयुच्छन्) विना प्रमाद किये, (प्रजानन्) सर्वज्ञ होता हुआ (पुरः एतु) हमारा पुरोगामी अर्थात् अगुआ होकर (एतु) आए, हमें प्राप्त हो।

[आशाः=आङः शासु इच्छायाम् (अदादिः)। आघृणिः=घृ दीप्तौ (जुहोत्यादिः)। सर्ववीरः=सर्व+वि+ईरः; प्रेरकः। अप्रयुच्छन् अर्थात् सर्वदा सावधान हुआ]।

पूषन् तव॑ व्र॒ते व॒यं न रि॑ष्येम क॒दा च॒न।
स्तो॒तार॑स्त इ॒ह स्म॑सि ॥३॥

(पूषन्) हे पुष्ट करने वाले परमेश्वर! (तव) तेरे (व्रते) व्रत में वर्तमान (वयम्) हम (कदाचन) कभी भी (न रिष्येम) न हिंसित हों। (इह) इस जीवन में (ते) तेरा (स्तोतारः) स्तवन करने वाले (स्मसि) हम हैं।

["तव व्रते", मन्त्र (२) के अनुसार पूषा का व्रत "अप्रयुच्छन्" द्वारा निर्दिष्ट किया है। इस व्रत को धारण करते हुए हम उपासक भी हिंसित नहीं होते, क्योंकि विना प्रमाद के सर्वदा सावधान हुए हम निज कर्तव्य पालन करते हैं और परमेश्वर का स्तवन करते हैं]।

परि॑ पू॒षा प॒रस्ता॒द्धस्तं॑ दधातु॒ दक्षि॑णम्।
पुन॑र्नो न॒ष्टमाज॑तु॒ सं न॒ष्टेन॑ गमेमहि ॥४॥

(परस्तात्) परात्पर वर्तमान (पूषा) पोषक परमेश्वर, (दक्षिणम् हस्तम्) वृद्धिकारक हमारे दाहिने हाथ को (परिदधातु) परिपुष्ट करे। ताकि (नष्टम्) नष्ट हुआ धन (नः) हमें (पुनः) फिर (आ अजतु) प्राप्त हो, और (नष्टेन) नष्ट हुए धन के साथ (संगमेमहि) हम संग करें।

[नष्ट हुए धन की पुनः प्राप्ति के लिये दाहिने हाथ में शक्ति चाहिये, ताकि परिपुष्ट हाथ द्वारा परिश्रम करके हम पुनः धन प्राप्त कर सकें। धन से अभिप्राय है "कृषिधन", जिसका विनाश अवर्षा, अत्युष्णता और विद्युत्प्रपात द्वारा हो जाता है। (सूक्त १२, मन्त्र १)। दक्षिणम्=दक्ष वृद्धौ (भ्वादिः)। परिदधातु=परि+डुधाञ् धारणपोषणयोः (जुहोत्यादिः)। परस्तात्= "पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः" (कठ० उप० १।३।११)।

सूक्त ११

शौनक। सरस्वती। त्रिष्टुभ्।

यस्ते॒ स्तनः॑ शश॒युर्यो म॑यो॒भूर्यः॑ सु॑म्न॒युः सु॒हवो॒ यः सु॒दत्रः॑।
येन॒ विश्वा॒ पुष्य॑सि॒ वार्या॑णि॒ सर॑स्वति॒ तमि॒ह धात॑वे कः ॥१॥

(सरस्वति) हे ज्ञानसम्पन्ना पत्नी! (ते) तेरा (यः स्तनः) जो स्तन (शशयुः) शिशु को शयन कराने वाला है, (यः मयोभूः) जो उसे सुखदायक है, (यः सुम्नयुः) जो उसके मन को प्रसन्न करने वाला है, (सुहवः) शिशु द्वारा सुगमता से आह्वान योग्य है, प्राप्त किया जा सकता है (सुदत्रः) जो उत्तम दुग्ध देता है, (येन) जिस द्वारा (विश्वा वार्याणि) सब वरणीय अर्थात् श्रेष्ठ गुणों को [शिशु में] (पुष्यसि) तू पुष्ट करती है, (तम्) उस स्तन को (इह) इस गृहस्थ जीवन में (धातवे) शिशुपानार्थ (कः) परिपुष्ट कर।

[सरस्वति, "सरस्=विज्ञानम्" (उणा० ४।१९०, दयानन्द)। मयः सुखनाम (निघं० ३।६)। सुम्नयुः=सु+मनस्+या (प्रापणे)+डुम् (औणादिक प्रत्यय)। धातवे=धेट् पाने (भ्वादिः)+तुमर्थे तवेन् प्रत्यय। सुदत्रः=सु+दा (दाने)+त्रैङ् (पालने), उत्तम दुग्ध देकर पालन करने वाला]।

सूक्त १२

शौनक। सरस्वती। त्रिष्टुभ्।

यस्ते॑ पृ॒थु स्त॑नयि॒त्नुर्य ऋ॒ष्वो दैवः॑ के॒तुर्विश्व॑मा॒भूष॑ती॒दम्।
मा नो॑ वधीर्वि॒द्युता॑ देव॒ स॒स्यं मोत व॑धी र॒श्मिभिः॒ सूर्य॑स्य ॥१॥

(यः) जो (ते) तेरा (पृथुः) अन्तरिक्ष में विस्तृत (स्तनयित्नुः) गर्जता मेघ है, (यः) जोकि (ऋष्वः) महाविस्तारी, (दैवः) द्योतमान (केतुः) उत्पन्न होने वाले कृष्यन्न का ज्ञापक है, और (इदम्, विश्वम्, आभूषति) इस सब भूमण्डल को भूषित करता है [अन्न प्रदान द्वारा], (देव) हे [पूषा] देवः (विद्युता) विद्युत्पात द्वारा (नः) हमारे (सस्यम्) कृष्यन्न को (मा)

न (वधीः) नष्ट कर, (उत) तथा (सूर्यस्य रश्मिभिः) सूर्य की रश्मियों द्वारा (मा वधीः) न नष्ट कर।

[दैवः =देवः; स्वार्थे अण्। ऋष्वः महत् नाम (निघं० ३।३)। केतुः =किती संज्ञाने। विद्युत्-प्रपात द्वारा तथा सूर्य की प्रतप्त रश्मियों द्वारा कृषि नष्ट हो जाती है। मन्त्र में प्रकरण प्राप्त पूषा का सम्बोधन अभिप्रेत है। दैवः=देवः="दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा" (निरुक्त ७।४।१५)]।

सूक्त १३

(१-४) शौनक। सभा, पितरः। ३ इन्द्रः; ४ मन्त्रोक्तदेवता; अनुष्टुभ्, १ भुरिक्। त्रिष्टुभ्।

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु ॥१॥

(प्रजापतेः) प्रजा-के-पति सम्राट् की (दुहितरौ) दो दुहिताओं के सदृश उस की अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाली, (संविदाने) और एकमत हुईं, (सभा च समितिः[1] च) सभा और समिति (मा) मेरी (अवताम्) रक्षा करें। (येन) जिस [सभ्य और सामित्य का] (संगच्छै) संग करूं (सः) वह (उप) मेरे पास आकर (मा) मुझे (शिक्षात्) शिक्षित करे, निज सम्मति प्रदान करे। (पितरः) हे पितरो! (संगतेषु) तुम लोगों के संगमों में (चारु) रुचिकर शब्द (वदानि) मैं बोलता हूं या बोलूं।

[७।१३।३ में "इन्द्र" पद है। इन्द्र है सम्राट्। यथा "इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७)। मन्त्र में वक्ता है "सभापति" जिसे सम्राट् ने नियुक्त किया है, जो सभा-समिति का संचालन करता है। सभा है लोकसभा, प्रजा द्वारा चुनी गई; और समिति है राजसभा, वारुणसभा

१. सभा, समिति, आमन्त्रण—ये तीन नागरिक संस्थाएं हैं, जिनका कि उत्तरोत्तर क्रम से उत्क्रमण हुआ है (अथर्व० ८।१०।१-१३)। अतः "समिति" सैनिक संस्था नहीं। "समिति" यतः "राजसमिति" है, अतः युद्धकर्म या सैनिकविभाग की संचालिक-संस्था "समिति" कही जा सकती है। इस दृष्टि से भी समिति नागरिक ही हैं। वेद की दृष्टि में युद्ध के लिये निश्चय करना, सैनिक-संस्था का काम नहीं।

प्रादेशिक राजाओं की सभा। यथा "राजानः समिताविव" (यजु० १२।८०)। संगतेषु=सभा समिति के संयुक्त अधिवेशन। दुहितरौ=दुह प्रपूरणे (अदादिः)। दुहिताएं जैसे पिता की इच्छानुसार चलकर पिता की अभिलाषाओं को पूर्ण करती हैं, वैसे सभा-समिति सम्राट् की अभिलाषाओं को पूर्ण करे। सभा-समिति के जिस सदस्य को सभापति सम्मत्यर्थ बुलाए वह सभापति के पास जा कर अपनी सम्मति प्रदान करे। सभा-समिति के सदस्यों को सभापति, उनके संमानार्थ "पितर" कहता है, वे साम्राज्य के रक्षक हैं, अतः पितरः हैं। शाखान्तर में "वदानि" के स्थान में "वदामि" भी पाठ है।

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥२॥

(सभे) हे लोकसभा! (ते) तेरे (नाम) नाम को (विद्म) हम जानते हैं, (वै) निश्चय से (नरिष्टा नाम) साम्राज्य के नर-नारियों द्वारा तू इष्ट (असि) है, चाही हुई है। (ते) तेरे (ये के च) जो कोई भी (सभासदः) सभासद् हैं (ते) वे (मे) मुझ सभापति के लिये (सवाचसः) एक वाणी वाले (सन्तु) हों।

[मन्त्र में लोकसभा का वर्णन है। वह "नरिष्टा" है, "नृ+इष्टा" नर-नारियों को अभीष्ट है, उन द्वारा चाही हुई है। सवाचसः=संविदानाः (मन्त्र १)। एकवाणी=सब की एक सम्मति]।

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे।
अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥३॥

(एषाम्) इन (समासीनानाम्) निज स्थानों में इकट्ठे बैठे हुए सभासदों के (वर्चः) तेज को, (विज्ञानम्) और निश्चय को (अहम्) मैं सभापति (आददे) स्वीकार करता हूं। (इन्द्र) हे सम्राट्! (माम्) मुझे (अस्याः सर्वस्याः) इस सब (संसदः) संसद का (भगिनम्) भागी (कृणु) कर।

[वर्चः=तेज, और विज्ञान है इन ज्ञानियों का निश्चय। सभापति सम्राट् को कहता है कि मैं यह स्वीकार करता हूं कि संसद में समासीन सब वर्चस्वी हैं, वैदुष्य से सम्पन्न हैं, तथा विज्ञान से सम्पन्न हैं। अतः इनके सम्मत-परामर्श को मैं स्वीकार करूंगा। अतः इस संसद् का मुझे भागी अर्थात् अधिकारी बना। वर्चः=वैदुष्यसम्पन्न प्रभावविशेष (सायण)]।

यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा ।
तद् व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥४॥

हे सदस्यो ! (यद्) जो(वः) तुम्हारा (मनः) समुदित मन(परागतम्) [प्रस्तुत विषय से] परे गया हुआ है, पराङ्मुख हुआ-हुआ है, या (यद् इह वा इह वा) जो इधर-उधर [के विषय के साथ] (बद्धम्) बन्धा हुआ है, संलग्न है, (वः) तुम्हारे (तत्) उस समुदित मन को (आवर्तयामसि) [मैं सभापति तथा मन्त्रीगण] लौटाते हैं, ताकि (वः) तुम्हारा समुदित (मनः) मन (मयि) मुझ सभापति [द्वारा प्रस्तावित विषय] में (रमताम्) रमण करे।

[वेदानुसार स्त्रियों को भी संसद् की सदस्या होने का अधिकार ज्ञात होता है¹]।

सूक्त १४

(१-२) अथर्वा। द्विषतां वर्चोहरणम्, सोमम्। १,२ अनुष्टुभ्।

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे ।
एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे ॥१॥

(उद्यन् सूर्यः) उदित होता हुआ सूर्य (यथा) जैसे (नक्षत्राणाम्) ताराओं के (तेजांसि) तेजों दीप्तियों का (आददे) अपहरण करता है, (एवा=एवम्) इस प्रकार (स्त्रीणां च) द्वेषियों की स्त्रियों के (द्विषतां, पुंसाम्, च) द्वेष करते हुए पुरुषों के (वर्चः) प्रभावविशेष का (आददे) मैं अपहरण करता हूं।

[मन्त्र में वक्ता निर्दिष्ट नहीं हुआ। सम्भवतः सूक्त (१६) में निर्दिष्ट सभापति अभिप्रेत हो, और सभा-समिति के संसदों में के शासकदल के विरोधी दल के स्त्री-सदस्यों और पुरुष-सदस्यों को द्विषतां द्वारा निर्दिष्ट किया हो, अथवा सभापति द्वेषी राष्ट्र के स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में कथन कर रहा है]।

---

१. इस अधिकार के लिये मन्त्र १२।३।५२ द्रष्टव्य है। इस मन्त्र में "समित्याम्" द्वारा स्त्री तथा पुरुष के समिति में अनृतभाषण की चर्चा हुई है।

यावन्तो मा सपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यथ ।
उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे ॥२॥

(सपत्नानाम्) शत्रुओं में से (यावन्तः) जितने तुम (आयन्तम्) आते हुए (मा) मुझ को(प्रतिपश्यथ) प्रतिकूल रूप में देखते हो, उन (द्विषताम्) द्वेष करने वालों के (वर्चः) प्रभावविशेष का(आ ददे)मैं अपहरण करता हूं, (इव) जैसे कि (उद्यन् सूर्यः) उदय को प्राप्त होता हुआ सूर्य (सुप्तानाम्) सोए हुओं के वर्चस् का अपहरण करता है।

[अभिप्राय पूर्वगत मन्त्रवत् है। "आयन्तम् मा" द्वारा सम्भवतः संसद् के अधिवेशन में आते हुए सभापति का निर्देश हुआ है। अथवा इन दोनों मन्त्रों में यह इन्द्र अर्थात् सम्राट् का कथन हुआ है। इन्द्र अर्थात् सम्राट् (सूक्त १३।३)। मन्त्र में यह भी दर्शाया है कि सूर्य के उदय-काल में सोए हुओं का वर्चस् नष्ट हो जाता है। यह काल सन्ध्याकाल है, सोए रहने का काल नहीं]।

सप्तम काण्ड का प्रथम अनुवाक समाप्त

सूक्त १५ अनुवाक २

(१-४) अथर्वा। सविता। अनुष्टुभ्; ३ त्रिष्टुभ्; ४ जगती।

अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुम् ।
अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम् ॥१॥

(ओण्योः) द्युलोक और पृथिवीलोक के (सवितारम्) उत्पादक,(कविक्रतुम्) कवियों की प्रज्ञा या कर्म वाले, (सत्यसवम्) सत्य के प्रेरक या सत्यज्ञान के प्रेरक, (रत्नधाम्) रमणीय गुणों के धारण करने वाले, (प्रियम्) प्रिय, (मतिम्) मननीय या ज्ञानस्वरूप (त्यम् देवम्) उस परमेश्वर देव को (अभि) लक्ष्य कर उसकी (अर्चामि) मैं स्तुति करता हूं, या पूजा करता हूं।

[ओण्योः; ओण्यौ द्यावापृथिवीनाम (निघं० ३।३०)। "अवतेः औणादिको निः प्रत्ययः, "ज्वर-त्वर" (अष्टा० ६।४।२०) इत्यादिना

ऊठ, गुणः (सायण) । क्रतुः प्रज्ञानाम; कर्मनाम (निघं० ३।६; २।१)। परमेश्वर कवि है। यथा "कविर्मनीषी" (यजु० ४०।८), तथा परमेश्वर का काव्य है वेद। "देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति" (अथर्व० १०। ८।३२)। अर्चामि = ऋच स्तुतौ; अर्च पूजायाम् (तुदादिः; भ्वादिः)। सवम् = षू प्रेरणे (तुदादिः)।

ऊर्ध्वा यस्याम॒तिर्भा अदि॑द्युतत् सवी॑मनि ।
हिर॑ण्यपाणिरमिमीत सु॒क्रतुः॑ कृपात् स्व॒ः ॥२॥

(यस्य) जिस की (सवीमनि) प्रेरणा में (अमतिः) व्यापन शीला (भाः) दीप्ति (ऊर्ध्वा) ऊपर की ओर (अदिद्युतत्) चमक रही है, (हिरण्य-पाणिः) सुवर्णमय हाथों वाले सूर्य के सदृश जो मानो निज हाथों द्वारा हिरण्य आदि प्रदान कर रहा है, (सुक्रतुः) उस सुकर्मा परमेश्वर ने (कृपात्) कृपा से (स्वः) स्वर्गीय सुख का (अमिमीत) निर्माण किया है।

[सवीमनि = षू प्रेरणे। अमतिः = व्यापनशीला (सायण)। अभिप्राय यह कि जो परमेश्वर ऊर्ध्व दिशा में सूर्य, तारागण आदि को प्रदीप्त कर रहा है, वह ही सुवर्ण आदि धन प्रदान कर हमें सुखी कर रहा है। "कृपात्"[1]; "कृपा" कृप् सामर्थ्ये क्विप् (सायण)। अथवा "कृप्+कः+पञ्चम्येक-वचन"। यथा "इगुपधज्ञा प्रीकिरः कः" (अष्टा० ३।१।१३५)।

सावी॒र्हि दे॑व प्रथ॒माय॑ पि॒त्रे व॒र्ष्माण॑मस्मै वरि॒माण॑मस्मै ।
अथा॒स्मभ्यं॑ सवित॒र्वार्या॑णि दि॒वोदि॑व॒ आ सु॑वा॒ भूरि॑ प॒श्वः ॥३॥

(देव) हे परमेश्वर देव! (अस्मै) इस (प्रथमाय) मुख्य (पित्रे) पिता के लिये, (अस्मै) इस पिता के लिये (वर्ष्माणम्) सुखवर्षी तथा स्नेही (वरिमाणम्) तथा श्रेष्ठ पुत्र (सावीः) प्रेरित अर्थात् प्रदान कर। (अथ) तदनन्तर (अस्मभ्यम्) हमें (सवितः) हे प्रेरक (देव) देव! (दिवोदिवः) प्रतिदिन (वार्याणि) वरणीय फल तथा (भूरि=भूरीन्) प्रभूत (पश्वः) पशु (आसुव हि) निश्चय से प्रदान कर।

[अस्मै अस्मै = इस--इस मुख्य पिता के लिये, अर्थात् प्रत्येक गृह में जो जो मुख्य पिता हैं, उन्हें। वर्ष्माणम् = सुखवर्षी या स्नेही (वर्ष स्नेहने,

१. सायणभाष्य में "कृपात्" के स्थान में "कृपा" पाठ है। कृपात् = सम्भवतः कृप+पञ्चम्येकवचन।

भ्वादिः)। गृहस्थ में जो-जो मुखिया हैं, उन में से प्रत्येक को सुखवर्षी तथा स्नेही पुत्र के प्रदान की प्रार्थना की गई है। तदनन्तर ही अन्य गृहवासियों को श्रेष्ठ प्रतिफल मिल सकते हैं। उन पुत्रों के पालन-पोषण के लिये गौ आदि प्रभूत पशुओं की प्राप्ति भी प्रार्थित की गई है। वरिमा = Excellance, superiority (आप्टे)]।

दमू॑ना दे॒वः स॑वि॒ता वरे॑ण्यो॒ दध॒द् रत्नं॒ दक्षं॑ पि॒तृभ्य॒ आयूं॑षि ।
पिबा॒त् सोमं॑ म॒मद॑देनमि॒ष्टे परि॑ज्मा चि॒त् क्रमते अस्य॒ धर्म॑णि ॥४॥

(दमूनाः) दानी मन वाला, (वरेण्यः) वरणीय, (सविता देवः) उत्पादक परमेश्वर-देव (पितृभ्यः) माता पिताओं के लिये (रत्नम्, दक्षम्, आयूंषि) रत्न बल तथा आयु को (दधत्) प्रदान करता हुआ, (सोमम्) इनके उत्पन्न भक्तिरस का (पिबात्) पान करे, (इष्टे) और ध्यानेष्टि में (एनम्) इस प्रत्येक ध्याता को (ममदत्) प्रसन्न करे, (अस्य) इस परमेश्वर के (धर्मणि) धारण-सामर्थ्य में (ज्मा चित्) पृथिवी भी (परिक्रमते) परिक्रमा कर रही है।

[दमूनाः = दानमनाः (निरुक्त ४।१।५) दधत् = विदधत्। दक्षः बलनाम (निघं० २।६)। सोमम् = उत्पन्न भक्तिरस। ज्मा = पृथिवी (निघं० १।१)। पृथिवी की परिक्रमा द्वारा परमेश्वर के सामर्थ्य को प्रकट किया है]।

सूक्त १६

भृगुः । सविता । त्रिष्टुप् ।

तां स॑वितः स॒त्यस॑वां सुचि॒त्रामाहं वृ॑णे सुम॒तिं वि॒श्ववा॑राम् ।
याम॑स्य कण्वो॒ अदु॑हत् प्रपी॑नां स॒हस्र॑धारां महि॒षो भगा॑य ॥१॥

(सवितः) हे उत्पादक परमेश्वर! (सत्यसवाम्) सत्य की प्रेरिका, (सुचित्राम्) महनीया, पूजनीया, (विश्ववाराम्) सब द्वारा वरणीया अर्थात् स्वीकरणीया (तां सुमतिम्) उस उत्तम-मति को (अहम्) मैं (आवृणे) याचना करता हूं, (अस्य) इस परमेश्वर की (प्रपीनाम्) ज्ञानवृद्धा, तथा (सहस्रधाराम्) हजारों को धारण करने वाली या हजारों धाराओं वाली (याम्) जिस वेदवाक् या सुमति को (महिषः कण्वः) महान् मेधावी ने (भगाय) निज सौभाग्य के लिये (अदुहत्) दोहा है। अदुहत् = वर्तमाने लङ्। "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" (अष्टा० ३।४।६)।

[अदुहत्, प्रपीनाम्, सहस्रधाराम्" द्वारा गौः अर्थापन्न होती है। यह मन्त्र "तै० सं०" में भी पठित है (४।२।५।५); वहां "महिषो भगाय के स्थान में "पयसा महीं गाम्" पाठ है। इस से भी ज्ञात होता है कि व्याख्येय मन्त्र में "गौ" अभिप्रेत है, जिससे कि सुमति का दोहन हुआ है। वह गौ है वेदवाक्, वेदवाणी। गौः वाङ्नाम (निघं० १।११)। वेदवाक् "प्रपीना" है ज्ञानवृद्धा है, प्यायी वृद्धौ (भ्वादिः)। वह "सहस्रधारा" भी है, सुमति दुग्ध प्रदान द्वारा हजारों का धारण-पोषण करती है। "दुह" धातु द्विकर्मक है। इस लिये भी "सुमतिम्" और "गाम्" [वेदवाक्] ये दो "कर्म" पद अपेक्षित हैं]।

सूक्त १७

भृगुः। **सविता**। त्रिष्टुप्।

बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं ज्योतयैनं महते सौभगाय ।
सशितं चित् संतरं सं शिशाधि विश्व एनमनु मदन्तु देवाः ॥१॥

(बृहस्पते) हे बृहती अर्थात् महती-वेदवाक् के पति! (सवितः) हे उत्पादक परमेश्वर! (एनम) इसे [कण्व] की (वर्धय) वृद्धि कर, (एनम्) इसे (महते सौभगाय) महा-सौभाग्य के लिये (ज्योतय) ज्ञान-ज्योति प्रदान कर। (संशितम्) तीक्ष्ण बुद्धि वाले को (चित्) भी (संतरम्) सम्यक् अतिशय रूप में (संशिशाधि) ज्ञान ज्योति द्वारा सम्यक् तथा तीक्ष्ण बुद्धि वाला कर, ताकि (विश्वे देवा) सब विद्वान् (एनम्, अनु) इसे अनुकूलरूप में प्राप्त कर, (मदन्तु) हर्षित हों।

["बृहस्पते"; बृहस्पति द्वारा वेद प्रकट हुए (ऋ० १०।७१।१)। इस से कण्व (१६।१) वेदस्वाध्यायी ज्ञात होता है। "संशिशाधि" पद "शो तनूकरणे" (दिवादिः) का लोट् लकार में रूप है। तनूकरण का अभिप्राय तीक्ष्ण करना। अतः "कण्व" अर्थात् मेधावी (निघं० ३।१५) की मेधा को तीक्ष्ण करने का कथन "संशिशाधि" द्वारा हुआ है, और वह सात्त्विक तीक्ष्णता वेद के अधिक स्वाध्याय द्वारा अभिप्रेत है। अतः कण्व है ब्रह्मचारी दाध्यायी। इस प्रकार (१६।१) का सम्बन्ध (१७।१) के साथ प्रकरणानुकूल हो जाता है। "मदन्तु देवाः" का सम्बन्ध भी ब्रह्मचारी के साथ उपपन्न है। यथा "तं जातं द्रष्टुमभि संयन्ति देवाः" (अथर्व ११।७।३), अर्थात् उस ब्रह्मचारी को देखने के लिये देव लोग उसकी ओर मिलकर जाते हैं]।

सूक्त १८

(१-४) भृगुः। **सविता आदि बहुदेवता। अनुष्टुभ्; १ त्रिपदा आर्षी गायत्री; ३, ४ त्रिष्टुभ्।**

धाता दधातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः ।
स नः पूर्णेन यच्छतु ॥१॥

(धाता) धारण पोषण करने वाला (ईशानः) ईश्वर (नः) हमारे (रयिम्) धन को (दधातु) परिपुष्ट करे (जगतस्पतिः) जो कि जगत् का स्वामी है (सः) वह (पूर्णेन) भरपूर धन के [प्रदान] के साथ-साथ (नः) हमें (यच्छतु) उपरामवृत्ति भी प्रदान करे।

[यच्छतु=यम उपरमे (भ्वादिः)। दधातु=डुधाञ् धारणपोषणयोः (जुहोत्यादिः)। अभिप्राय यह कि ईश्वर हमें भरपूर धन के साथ-साथ उपराम वृत्ति भी दे, ताकि उस धन के होते हम उस में लिप्त न हो जांय]।

धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम् ।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः ॥२॥

(धाता) धारण-पोषण करने वाला परमेश्वर, (दाशुषे) दान करने वाले के लिये, (प्राचीम्) प्रगतिदायक, (अक्षिताम्) न क्षीण होने वाली (जीवातुम्) जीवनकारिणी सम्पत्ति (दधातु) दे, या उसे परिपुष्ट करता रहे। (वयम्) हम (विश्वराधसः) सब को धन देने वाले (देवस्य) परमेश्वर की (सुमतिम्) इस सुमति का (धीमहि) ध्यान करें।

[मन्त्र (१) में प्रभूत धन के होने पर भी उपराम वृत्ति का वर्णन हुआ है। "दाशुषे" द्वारा भी धन प्राप्त करने वाले की दान भावना द्वारा उपराम-वृत्ति को सूचित किया है। यह उपराम वृत्ति सुमति है, जिसे कि "विश्वराधस्" ने प्रदान किया है,—इसे हमें सदा ध्यान में रखना चाहिये। राधः धननाम (निघं० २।१०)]।

धाता विश्वा वार्या दधातु प्रजाकामाय दाशुषे दुरोणे ।
तस्मै देवा अमृतं सं व्ययन्तु विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥३॥

(प्रजाकामाय) प्रजा की कामना वाले, (दाशुषे) दानवृत्तिवाले के लिये (दुरोणे) उस के गृह में (धाता) धारण-पोषण करने वाला परमेश्वर (विश्वा) सब प्रकार के (वार्या) वरणीय धन (दधातु) दे, और उन्हें परिपुष्ट करे। (तस्मै) उस के लिये (देवाः) देव, (विश्वेदेवाः) अर्थात् सब देव, तथा (सजोषाः) प्रेममयी (अदितिः) अदीना पारमेश्वरी देवमाता (अमृतम्) अविनाशी मोक्ष सुख (संव्ययन्तु) प्रदान करें।

[प्रजा की कामना वाले गृहस्थी को भी दान देना चाहिये। इस दान वृत्ति वाले गृहस्थी को गृहस्थ में भी मोक्षसुख प्राप्त हो जाता है, और मोक्षसुख की प्राप्ति में सब देव और परमेश्वर उसके सहायक हो जाते हैं। देव हैं दिव्यगुणी विद्वान्। संव्ययन्तु=व्येञ् संवरणे (भ्वादिः)। संवरण=ढांपना। अर्थात् ऐसे गृहस्थी को मोक्षसुख के आवरण द्वारा सब देव और अदिति मिल कर ढांप देते हैं, ढांप कर सुरक्षित कर देते हैं जिससे लोभादि कुवृत्तियों की मार से वह बचा रहता है]।

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपतिर्नो अग्निः।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणो यजमानाय द्रविणं दधातु ॥४॥

(धाता) कृषि विभाग, (रातिः) दान विभाग, (सविता) तथा राष्ट्र की उत्पत्तियों और उन से प्राप्त लाभों का अधिकारी, ये तीनों अधिकारी, (इदम्) प्रजा द्वारा प्राप्त इस धन का (जुषन्ताम्) प्रीतिपूर्वक सेवन करें, [निर्दय पूर्वक इस धन का उपयोग न करें]; (अग्निः) और राष्ट्र का अग्रणी अर्थात् मुखिया-नेता (प्रजापतिः) प्रजाओं का रक्षक या स्वामी राजा (नः) हम प्रजाजनों का (निधिपतिः) निधि रक्षक हो; (त्वष्टा) राष्ट्र की रूप सम्पत्ति का अधिष्ठाता, (विष्णुः) तथा यज्ञादि धार्मिक कर्मों का अधिकारी (प्रजया संरराणः) प्रजा के साथ रममाण हुआ, (यजमानाय) राष्ट्रयज्ञ के कर्ता प्रजाजन के लिये, (द्रविणम्) धन को (दधातु) परिपुष्ट करे।

[धाता=जीवनकारिणी अन्न सम्पत्ति प्रदाता (अथर्व० ७।१८।१)। रातिः=रा दाने। सविता=प्रसवानामधिपतिः (अथर्व० ५।२४।१)। अग्निः=अग्रणीर्भवति (निरुक्त ७।४।१४)। विष्णुर्वै यज्ञः (मै० ४।४।७)। त्वष्टा=तस्य त्वष्टा विदधद् रूपमेति (यजु० ३१।१७) तथा (ऋ० १०। ११०।६)]।

सूक्त १९

(१-२) **अथर्वा। पृथिवी, पर्जन्यः। १ चतुष्पदा भुरिगुष्णिक्; २ त्रिष्टुप्।**

प्र नभस्व पृथिवि भिन्द्धी३दं दिव्यं नभः।
उद्नो दिव्यस्य नो धातरीशानो वि ष्या दृतिम् ॥१॥

(पृथिवि) हे विस्तृत अन्तरिक्ष! (प्र नभस्व) तू प्रकर्ष में हिंसित हो जा, और (इदम्) इस (दिव्यम्, नभः) दिव्य मेघ का (भिन्द्धि) भेदन कर। (धातः) हे धारण-पोषण करने वाले (ईशानः) अधीश्वर! तू (दिव्यस्य उद्नः) दिव्य उदक की (दृतिम्) चमड़े की थैली के सदृश मेघरूपी थैली को (नः) हमारे लिये (आ विष्य) खोल दे।

[पृथिवि=प्रथ विस्तारे, यथा "प्रथते विस्तीर्णा भवतीति पृथिवी" (उणा० १।१५०); तथा "पृथिवी अन्तरिक्षनाम" (निघं० १।३)। अन्तरिक्ष मेघीय विद्युत् द्वारा हिंसित होता है, ताड़ित होता है—यह कल्पना की गई है। प्रतिक्रिया या बदले में अन्तरिक्ष विद्युत के गृहभूत मेघ का भेदन करता है। इस से दिव्य उदक प्रवाहित होने लगता है जैसे कि चर्म की थैली के फटने पर उस से उदक प्रवाहित होने लगता है। दृतिः=Leather bag (आप्टे)। दिव्यम्=विभवम्। नभस्व=णभ हिंसायाम् (भ्वादिः)]।

न घ्रंस्तताप न हिमो जघान प्र नभतां पृथिवी जीरदानुः।
आपश्चिदस्मै घृतमित् क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित् तत्र भद्रम् ॥२॥

[पृथिवी को] (घ्रन्) ग्रीष्म काल ने (न तताप) नहीं तपाया (हिमः) हेमन्त ऋतु में (न जघान) न इस का हनन किया है, (जीरदानुः) जीवनप्रदा (पृथिवी) पृथिवी [न] (प्रनभताम्) न हिंसित हो। (आपः चित्) जल भी (अस्मै) इस पृथिवी के स्वामी के लिये (घृतम् इत्) घृत ही (क्षरन्ति) क्षरित करते हैं, (यत्र) जिस स्थान में (सोमः) जल होता है (तत्र) वहाँ (सदम्, इत्) सदा ही (भद्रम्) सुख और कल्याण होता है। सोमः=Water (आप्टे)।

[मन्त्र ७।१९।१ में पृथिवी का अर्थ है अन्तरिक्ष, और ७।१९।२ में अर्थ है भूमि। घ्रन्=घृ दीप्तौ (जुहोत्यादिः)। घ्रन्=घृ+शतृ। अभिप्राय यह

ग्रीष्म ऋतु प्रखर गर्मी द्वारा जब पृथिवी को नहीं तपाती, और न हेमन्त अर्थात् बर्फीली-ऋतु इस का हनन करती है तब पृथिवी जीवनीय अन्नादि का प्रदान करती है। परन्तु वर्षा ऋतु जब जल प्रदान करती है तब मानो वह जल नहीं प्रदान करती अपितु जलरूप में घृतादि पदार्थ प्रदान कर रही होती है। जहां जल होता है वहां ओषधियां, वनस्पतियां प्रभूत मात्रा में उत्पन्न होकर सुख प्रदान करतीं और प्रजा का कल्याण करती हैं। जघान का अभिप्राय है कि हेमन्त ऋतु में बर्फ के कारण अतिशीत होने से ओषधियां, वनस्पतियां मुर्झा जाती हैं यह पृथिवी का हनन है]।

सूक्त २०

ब्रह्मा। प्रजापतिः। जगती।

प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु सुमनस्यमानः।
संजानाना: संमनसः सयोनयो मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु ॥१॥

(प्रजापतिः) प्रत्येक गृहस्थ प्रजा का पति (इमाः प्रजाः) इन प्रजाओं को (जनयति) उत्पन्न करता है, (धाता) धारण करने वाला (सुमनस्यमानः) सुप्रसन्न मन वाला हो कर (दधातु) प्रजाओं का धारण-पोषण करे। (सयोनयः) एक राष्ट्रगृह में उत्पन्न हुए प्रजाजन (संजानानाः) ऐकमत्य को प्राप्त हुए (संमनसः) मानो एक मन वाले हों, (पुष्टपतिः) पुष्ट अन्न का पति, अर्थात् भूमि में उत्पन्न अन्न का स्वामी अर्थात् प्रत्येक भूमिपति (मयि) मुझ राजा में (पुष्टम्) पुष्ट अन्न (दधातु) स्थापित करे, दिया करे।

["प्रजापति" द्वारा प्रत्येक भूमिपति गृहस्थी का वर्णन अभिप्रेत है, प्रत्येक गृहस्थी राष्ट्र के लिये उत्कृष्ट सन्तानें पैदा करे। "धाता" है राष्ट्र का अधिकारी जो कि प्रजाजनों के धारण-पोषण का निरीक्षक है। "सयोनयः" द्वारा एक-राष्ट्र-गृह के प्रजाजन अभिप्रेत हैं, "योनिर्गृहनाम" (निघं० ३।४)। "पुष्टम्" द्वारा पुष्ट अन्न के "करांश" का वर्णन हुआ है। "करांश" का अभिप्राय है राष्ट्र द्वारा निश्चित टैक्स रूप में प्रदेय अन्नांश। मन्त्र ७।१६।२॥ में "जीरदानुः" द्वारा जीवनीय अन्नादि का वर्णन हुआ है, जिसे कि व्याख्येय मन्त्र में "पुष्टम्" द्वारा कथित किया है]।

सूक्त २१

(१-६) अथर्वा। अनुमतिः। अनुष्टुभ्, ३ त्रिष्टुभ्, ४ भुरिक्, ५ जगती, ६ अतिशाक्वरगर्भा जगती।

अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम्।
अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुषे मम ॥१॥

(अद्य) आज अर्थात् प्रतिदिन (अनुमतिः) अनुकूल मति वाली पत्नी (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञकर्म को (देवेषु) वायु आदि देवों में (अनुमन्यताम्) अनुकूलरूप में माने, (च) और (मम) मेरी (अग्निः) गार्हपत्य अग्नि (दाशुषे) मुझ दाता के लिये (हव्यवाहनः) हव्यों का वहन करनेवाली [हो], (भवताम्) [इस प्रकार से दोनों मेरे यज्ञ को सफल करने वाले] हों। दोनों=अनुमति पत्नी और यज्ञाग्नि।

[नः=गृहस्थ के सदस्य। अनुमति है पति-पत्नी के विचारों में अनुकूलता, सांमनस्य, न कि वैमनस्य। "अद्य" का अभिप्राय है—प्रतिदिन]।

अन्विदनुमते त्वं मंससे शं च नस्कृधि।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥२॥

(अनुमते) हे अनुकूल मति वाली पत्नी! (त्वम्) तू (अनुमंससे इत्) अनुकूल रूपता को ही अनुकूलरूप मानती है, (च) और इस प्रकार (नः) हमें तू (शम्) सुख-शान्ति (कृधि) प्रदान कर। (देवि) हे देवि! पत्नी! (आहुतम्) आहुतिरूप में आहुत हुई (हव्यम्) वीर्यरूपी हवि की (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक रक्षा कर, (नः) और हमें (प्रजाम्) प्रशस्त अपत्य (ररास्व) प्रदान कर।

[प्रजाम्=प्र (प्रशस्त)+जाः (अपत्यनाम निघं० १।२)। आहुतम् "पञ्चम्यामाहुतौ, आपः पुरुषवचसो[1] भवन्ति" (अ० ५ खण्ड ८; ९।

१. योषा वाव गौतमाग्निः, तस्या उपस्थ एव समित्, यदुपमन्त्रयते स धूमः, योनिरर्चिः, यदन्तः करोति तेऽङ्गाराः, अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥१॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति, तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति ॥२॥ इत्यष्टमः खण्डः॥ इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति। स उल्बावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते ॥१॥

सन्दर्भ १,२,४) । मन्त्र में गर्भाधानाहुति अभिप्रेत है, गर्भाधान संस्कार-विधिपूर्वक। निरुक्त में भी "अनुमति" आदि को देवपत्नीरूप में माना है, न कि चन्द्रमा की कलाविशेष। यथा "अनुमतिः राकेति देवपत्न्यौ" इति नैरुक्ताः । "पौर्णमास्यौ" इति याज्ञिकाः (११।३।३०)] ।

अनुं मन्यतामनुमन्यमानः प्रजावन्तं रयिमक्षीयमाणम् ।
तस्यं वयं हेडसि माऽपि भूम सुमृडीके अस्य सुमतौ स्याम ॥३॥

(अनुमन्यमानः) [अनुमति—पत्नी द्वारा] अनुकूलरूप में माना गया पति, (प्रजावन्तम्) प्रजासमेत (अक्षीयमाणम् रयिम्) न क्षीण होने वाले अर्थात् प्रभूत धन की (अनुमन्यताम्) स्वीकृति हमें प्रदान करे। (तस्य) उस पति के (हेडसि) क्रोध में (अपि) भी (वयम्) हम गृहवासी (मा भूम) न हों, (अस्य) ताकि इस पति द्वारा (सुमृडीके) प्रदत्त उत्तम-सुख में, तथा [इस की] (सुमतौ) सुमति में (स्याम) हम हों।

[२१ वें सूक्त के "सायण" प्रदिष्ट पाठों, तथा शाखान्तर प्रदिष्ट पाठों में बहुत भेद पाया जाता है। इस लिये अर्थ अनिश्चित है] ।

यत् ते नाम सुहवं सु प्रणीतेऽनुमते अनुमतं सुदानु ।
तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् ॥४॥

(सुप्रणीते) उत्तम प्रणय वाली ! (अनुमते) तथा अनुकूलमति वाली हे पत्नी ! (यत्) जो (ते) तेरा (नाम) "अनुमति" रूप नाम है, जो कि (सुहवम्) सुखपूर्वक आह्वान योग्य, (अनुमतम्) सब द्वारा अनुमत अर्थात् अभिमत है, (सुदानु) और सुखदायी है, (तेन) उस नाम द्वारा (न यज्ञम्) हमारे गृहस्थ यज्ञ को (पिपृहि) तू पालित कर। (विश्ववारे) हे सब द्वारा वरणीया (सुभगे) उत्तम भगों वाली अनुमति ! (नः) हमें (सुवीरम्, रयिम्) उत्तम वीर सन्तानरूपी धन (धेहि) प्रदान कर।

[पत्नी का नाम है अनुमति। वह पति के अनुकूला है। पति के साथ वैमनस्या नहीं होती। यह नाम सुगमता पूर्वक आह्वान योग्य है। अनुमति प्रणय वाली है, प्रेममयी है यह नाम सर्वानुमत है, और सुखदायक है, तथा सब गृहस्थियों द्वारा वरणीय है, ग्रहण योग्य है सभी चाहते हैं कि उन की

पत्नियाँ अनुमतिवाली हों, पतियों के अनुकूल मतियों वाली हों। ऐसी पत्नियां उत्तम सन्तानरूपी धन प्रदान करती हैं] ।

एमं यज्ञमनुमतिर्जगाम सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै सुजातम् ।
भद्रा ह्यस्याः प्रमतिर्बभूव सेमं यज्ञमवतु देवगोपा ॥५॥

(इमम्, यज्ञम्) इस गृहस्थ यज्ञ में (अनुमतिः) अनुकूलमति वाली पत्नी (आ जगाम) आई है, जो गृहस्थ-यज्ञ (सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै) सुक्षेत्रपन के लिये और उत्तम वीरता के लिये (सुजातम्) उत्तम [विवाह-विधि से] पैदा हुआ है। (अस्याः) इस अनुमति की (भद्रा) सुखप्रदा तथा कल्याणकारी (प्रमतिः) शोभना मति (हि) निश्चय (बभूव) प्रकट हुई है। (सा) वह अनुमति पत्नी (देवगोपा) पति के माता, पिता आदि देवों द्वारा सुरक्षित हुई (इमम्, यज्ञम्) इस गृहस्थ-यज्ञ की (अवतु) रक्षा करे।

["सुक्षेत्रतायै" क्षेत्रों अर्थात् सन्तानों के उत्तम शरीर पैदा करने के लिये तथा उन शरीरों में वीरता प्रदान करने के लिये। अनुमति-पत्नी के ये दो कर्तव्य दर्शाए हैं। क्षेत्र हैं शरीर। यथा "इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते" (गीता १३।१)। शरीरों को सुक्षेत्र बना कर उनमें सद्गुणरूपी बीज बोने चाहियें, और वीरता की भावनाएं भरनी चाहियें। देव हैं विवाहित अनुमति के श्वशुर आदि] ।

अनुमतिः सर्वमिदं बभूव यत् तिष्ठति चरति यदु च विश्वमेजति ।
तस्यास्ते देवि सुमतौ स्यामानुमते अनु हि मंससे नः ॥६॥

(यत् तिष्ठति) जो स्थित है, (चरति) चलता है, (यद्, उ, च) और जो (विश्वम्) सब ब्रह्माण्ड (एजति) प्रदीप्त हो रहा है, या कम्पित हो रहा है, (इदम्, सर्वम्) यह सब (अनुमतिः) अनुमति परमेश्वर मातारूप (बभूव) है। (देवि) हे परमेश्वर-मातृदेव! (ते) तेरी (तस्याः) उस (सुमतौ) सुमति में (स्याम) हम हों, या रहें। (अनुमते) हे अनुमति मातः ! (नः) हमें (अनु मंससे) अपनी अनुकूता में मान।

[अनुमति है, समग्र ब्रह्माण्ड में अनुकूलरूप में वर्तमान परमेश्वर माता। वह किसी के प्रतिकूल नहीं है, अपितु सब के प्रति अनुकूलरूप में

वर्तमान है, सब की उन्नति चाहती अभिप्राय यह है कि जैसे माता पुत्र[1] रूप में प्रकट होती है, यथा "आत्मा वै पुत्रनामासि" (निरुक्त ३।१।४), वैसे परमेश्वर माता भी ब्रह्माण्ड-रूप में प्रकट हो रही है। प्रलय काल में ब्रह्म, प्रकृति और जीवात्मा निष्क्रिय थे। ब्रह्म की सक्रियता में ब्रह्माण्ड पैदा हुआ। अतः मानो ब्रह्म, ब्रह्माण्डरूप में प्रकट हुआ। उस परमेश्वर-माता की सुमति में रहने की प्रार्थना हुई है, या इच्छा प्रकट हुई है। साथ ही यह कहा है कि हम तेरी अनुकूलता में वर्तमान हैं—यह तू मान, अतः हमारी सदा उन्नति कर। एजति=एजृ दीप्तौ, तथा एजृ कम्पने, दोनों धातुएं (भ्वादिः)। कम्पित होना=गतिशील होना। मंससे=लेट् लकार "सिप्"]।

सूक्त २२

१ ब्रह्मा। आत्मा। शक्वरी विराड्गर्भा जगती।

समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम्।
स पूर्व्यो नूतनमाविवासत् तं वर्तनिरनु वावृत एकमित् पुरु ॥१॥

(विश्वे) हे सब लोगो! (समेत) परस्पर इकट्ठे होओ, (वचसा) स्तुति वचन द्वारा (दिवः पतिम्) द्युलोक के पति परमेश्वर की [स्तुति करो], जो परमेश्वर कि (एकः) एक है, (विभूः) सर्वव्यापक है, और (जनानाम्) उपासक जनों का (अतिथिः) अतिथि है। (सः) वह (पूर्व्यः) सनातन, (नूतनम्) नवीन-नवीन ब्रह्माण्ड में (आ विवासत्) आ-आ कर निवास करता रहता है। (तम्, एकम्, इत्, अनु) उस एक परमेश्वर के ही अनुकूल हुई (वर्तनिः) पृथिवी (पुरु) बार-बार (वावृते) वृत्ताकार चक्र में घूमती है।

[अतिथिः; जैसे गृहस्थों में अतिथि कभी-कभी आता है, वैसे उपासक जनों में भी परमेश्वर कभी-कभी प्रकट होता है]।

---

१. माता के गुण जैसे सन्तति में प्रकट होते हैं, वैसे परमेश्वर-माता के गुण सृष्टिकर्तृत्व, न्यायकारित्व, अनुग्रह आदि ब्रह्माण्ड में प्रकट हो रहे हैं।

सूक्त २३

(१-२) ब्रह्मा। ब्रध्नः। द्विपदा एकावसाना विराड्गायत्रीः २ त्रिपदा अनुष्टुभ्।

अयं सहस्रमा नो दृशे कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्मणि ॥१॥

(अयम्) यह परमेश्वर (कवीनाम्, मतिः) कवियों की मतिरूप है, और (विधर्मणि) विविध प्रकार धारण करने वाली वस्तुओं में (सहस्रम् ज्योतिः) हजार ज्योतिरूप है, वह (आ नः) पूर्णतया हमारे (दृशे) दृष्टि-गोचर हुआ है।

[परमेश्वर कवि है, वेद उस के काव्य हैं, वह आदि कवि है, उससे पूर्व कोई कवि नहीं हुआ, कविता करने की मति उसी ने दी, अतः वह कवि के लिये मतिरूप है। ब्रह्माण्ड में धारक वस्तुएं हजारों हैं; सूर्य, चन्द्र, अग्नि विद्युत्, नक्षत्र और तारागण असंख्य हैं। परमेश्वर इन हजारों ज्योतियों में चमकता है। परन्तु वह है एकज्योतिरूप ही। "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (मुण्डक २।१०)। वह परमेश्वर जिसे कि सूक्त (२२) में अतिथि कहा है, हम कवियों में वह पूर्णतया दृष्टिगोचर हो गया है]।

ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयन्।
अरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमत्तमाश्चिते गोः ॥२॥

(ब्रध्नः) महाब्रह्म (समीचीः) समीचीन (अरेपसः) पाप विनाशनी, (सचेतसः) सचेत करने वाली (मन्युमत्तमाः) अत्यन्त चमकीली (उषसः) [आध्यात्मिक] उषाओं को (स्वसरे) किसी भी दिन (समैरयन्) प्रेरित करता [भवति] हो जाता है, (गोः चिते) जबकि स्तुति वाणियों का चयन[1] होता है।

[ब्रध्नः=महान् (उणा० ३।५, दयानन्द) [परमेश्वर]। मन्यु=मन्यते कान्तिकर्मा (निघं० २।६)। गोः चिते=गौः वाङ्नाम (निघं० १।११)।

---

१. चयन की भावना को "भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम" द्वारा भी सूचित किया है (यजु० ४०।१६)।

स्तुति वाणियों का जब चयन हो जाता है, चित्त में संचय हो जाता है, तब परमेश्वर उषाओं को भेजता है। ये उषाएं परमेश्वर प्राप्ति के पूर्वरूप हैं। श्वेता० उप० (२।११) में पूर्वरूप निम्नलिखित कहे हैं। यथा "नीहारधूमार्कानलानिलानाम्। खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्। एतानि रूपाणि पुरस्सराणि[1] ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे"। मन्त्र में चित्त में उषाओं[2] का चमकना भी पुरस्सर अर्थात् पूर्वरूप दर्शाया है]।

सूक्त २४

यमः। दुःष्वप्ननाशनम्। अनुष्टुभ्।

दौःष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥१॥

(दौःष्वप्न्यम्) दुःस्वप्न और दुःस्वप्न की बेचैनी, (दौर्जीवित्यम्) दुराचार का जीवन और उससे प्राप्त कष्ट, (रक्षः) राक्षसी भाव, (अभ्वम्) योगज विभूति का अभाव (अराय्यः) अदान अर्थात् कंजूसी की भावनाएं (दुर्णाम्नीः) बुरे नामों वाली व्याधियां, (दुर्वाचः) दुर्वचन, (ताः सर्वाः) इन सब को (अस्मत्) अपने से (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं, दूर करते हैं।

[मन्त्र (२३।१,२) में परमेश्वर की स्तुति और तद्द्वारा आध्यात्मिक उषाओं का वर्णन हुआ है। इस योग-विभूति की प्राप्ति होने पर मन्त्र सूक्त (२३) की भावनाएं चरितार्थ होती हैं। अभ्वम्=अ+भू+प्रथमैकवचन। "इको यणचि" द्वारा उकार को वकार। अराय्य,=अ+रा (दाने)+युक्+ङी+प्रथमा बहुवचन। दुर्वाचः=असत्य भाषण, कटवचन परकीय निन्दा वचन आदि]।

सप्तम काण्ड का द्वितीय अनुवाक समाप्त

---

१. कोहरा, धुआं, सूर्य, आग, वायु, सितारे या जुगनू, विद्युत्, स्फटिक, चन्द्रमा।

२. ये आध्यात्मिक-उषाएं चमकती हैं, जब भी योगी ध्यानावस्थित हो जाय। प्राकृतिक उषाएं तो केवल सूर्योदय से पूर्व कुछ काल के लिये ही चमकती हैं।

सूक्त २५

ब्रह्मा। इन्द्र, अग्नि आदि नाना देवता। त्रिष्टुभ्।

यन्न इन्द्रो अखनद् यदग्निर्विश्वे देवा मरुतो यत् स्वर्काः।
तदस्मभ्यं सविता सत्यधर्मा प्रजापतिरनुमतिर्नि यच्छात् ॥१॥

(नः) हमारे (इन्द्रः) सम्राट् ने (यत्) जो खनिज पदार्थ (अखनत्) खोदा, (यत्) जो (अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री ने, (यत्) जो (विश्वे देवाः) वैश्य प्रजा ने, (स्वर्काः) चमकीले वस्त्रों वाले या चमकीले वस्त्रधारी (मरुतः) सैनिकों ने खोदा, (तत्) उस सब को—(सविता) प्रेरक, (सत्यधर्मा) सत्य-धर्म वाला (प्रजापतिः) प्रजाओं का पति राजा, (अनुमतिः) हम प्रजाओं के अनुकूल मति वाला हो कर (अस्मभ्यम्) हम प्रजाजनों को (नियच्छात्) नियम पूर्वक प्रदान कर दे।

[मन्त्र में राष्ट्र की खनिज सम्पत्ति का वर्णन हुआ है। राष्ट्र में कोई भी खनिज सम्पत्ति को खोदे, उस पर स्वामित्व राष्ट्र की प्रजा का है। राजा वह सम्पत्ति नियम पूर्वक प्रजा को प्रदान, करता रहे। फिर प्रजा के निर्णय पर सम्पत्ति का वितरण किया जाय। विश्वे देवाः=विड् [वैश्य], विश्वेदेवाः (श० ब्रा० १०।४।१।६)। मरुतः="देवसेनानामभिभञ्जतीनां मरुतो यन्त्वग्रम्," (यजु० १७।४०)। स्वर्काः=सु+अर्कः (तपने चुरादिः) अर्कः वज्रनाम (निघं० २।२०)]।

सूक्त २६

(१-२) मेधातिथिः। विष्णुः, वरुणः। त्रिष्टुभ्।

ययोरोजसा स्कभिता रजांसि यौ वीर्यैर्वीरतमा शविष्ठा।
यौ पत्येते अप्रतीतौ सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः ॥१॥

(ययोः) जिन दो के (ओजसा) ओज द्वारा (रजांसि) लोक-लोकान्तर (स्कभिता=स्कभितानि) थमे हुए हैं, (यौ) जो दो (शविष्ठा=शविष्ठौ) शक्तिशाली हैं, और (वीर्यैः) शक्तियों द्वारा (वीरतमा=वीरतमौ) सर्वाधिक शक्तिशाली हैं, (यौ) जो दो (पत्येते) ऐश्वर्यशाली हैं, (सहोभिः) अपनी-अपनी शक्तियों द्वारा (अप्रतीतौ) अज्ञायमान हैं, (विष्णुम्) रश्मियों द्वारा व्याप्त सूर्य को, (वरुणम्) और वरणीय परमेश्वर को, (पूर्वहूतिः) स्तुति में मेरा प्रथम-आह्वान (अगन्) प्राप्त हो। पत्येते=पत्यते ऐश्वर्यकर्मा (निघं० २।२१)।

[ब्रह्माण्ड को थामने में दो मुख्य पदार्थ हैं, "वरुण परमेश्वर" (अथर्व० ४।१६।१-९), और सूर्य। ब्रह्माण्ड में सूर्य असंख्य हैं, जो कि अपने-अपने सौर-मण्डल में मुख्यशक्ति रूप हैं। मन्त्र में "सूर्यम्" जात्येकवचन है। ये दोनों अत्यन्त शक्तिशाली हैं, अतः "वीरतमौ" हैं। ये दोनों किस प्रकार ब्रह्माण्ड को थाम रहे हैं यह यथार्थ में अप्रतीत है, अज्ञात[1] है। अगन्=गमेः छान्दसे लुङि, च्लेः लुकि "मो नो धातोः" (अष्टा० ८।२।६४) इति मकारस्य नत्वे रूपम् (सायण)]।

यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते प्र चानति वि च चष्टे शचीभिः।
पुरा देवस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः ॥२॥

(यस्य) जिस [विष्णु और वरुण] के (प्रदिशि) निर्देश अर्थात् आज्ञा में (यत् इदम्) जो यह सब (विरोचते) विशेषतया प्रदीप्त हो रहा है, (च) और (प्र अनति) प्राण ले रहा है, (च) और (शचीभिः) कर्मों और प्रज्ञाओं द्वारा (विचष्टे) देख रहा है। तथा (देवस्य) जिस देव [विष्णु और वरुण] के (धर्मणा) धारण द्वारा तथा (सहोभिः) बलों द्वारा (पुरा) पुराकाल से [यह सब प्रदीप्त हो रहा है] उस (विष्णुम्, वरुणम्) रश्मियों द्वारा व्याप्त सूर्य को, और वरणीय परमेश्वर को (पूर्वहूतिः) मेरा पूर्व-आह्वान (अगन्) प्राप्त हो।

[विचष्टे पश्यतिकर्मा (निघं० ३।११)। शची कर्मनाम; प्रज्ञानाम (निघं० २।१; ३।९)। "विरोचते" द्वारा जड़-जगत् का; तथा "प्रानति" और "विचष्टे" द्वारा चेतन-जगत् का वर्णन हुआ है]।

---

१. जैसे दो दलों के सांमुख्य में रस्से के माध्यम द्वारा समतुलन होता है वैसे किस शक्ति द्वारा इन गतिमान् लोक-लोकान्तरों में समतुलन हो रहा है, यह वस्तुतः अज्ञात है। वैज्ञानिक कहते हैं कि इन में समतुलन ईथर द्वारा हो रहा है, जोकि कल्पना मात्र है। क्या यह इतना सुदृढ़ है जो कि लोक-लोकान्तरों के पारस्परिक खिचाव में टूटता नहीं। वैदिक सिद्धान्त में इन लोक-लोकान्तरों की "विधृति" अर्थात् स्थिति परमेश्वर द्वारा हो रही है, जो परमेश्वर सूर्यों में भी व्याप्त हुआ इन का नियमन कर रहा है। यथा—'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म' (यजु० ४०।१७)।

सूक्त २७

(१-८) मेधातिथिः। विष्णुः। त्रिष्टुभ्; २ त्रिपदा विराड्गायत्री; त्र्यवसाना षट्पदा विराट् शक्वरी; ४-७ गायत्रीं; ८ त्रिष्टुभ्।

विष्णोर्नु कं प्रा वोचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥१॥

(विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (नु कम्) (वीर्याणि) बलों का (प्र अवोचम्) मैंने प्रवचन किया है, (यः) जिसने कि (पार्थिवानि) पृथिवी और अन्तरिक्ष के (रजांसि) लोकों का (विममे) निर्माण किया है तथा (यः) जिस (उरुगायः) महा स्तुति वाले ने (त्रेधा विचक्रमाणः) तीन प्रकार से पराक्रम करते हुए (उत्तरम्) ऊपर के (सधस्थम्) सह स्थान को (अस्कभायत्) थामा है।

[पृथिवी=भूलोक तथा अन्तरिक्ष (निघं० १।१; तथा निघं० १।३)। सधस्थम्=नक्षत्रों और तारागणों की सहस्थिति का स्थान, द्युलोक। तीन प्रकार से=तीन लोकों में]।

प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्याणि मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
परावत आ जगम्यात् परस्याः ॥२॥

(विष्णुः) व्यापक परमेश्वर (तत्=तानि) उन निज (वीर्याणि) सामर्थ्यों को (प्रस्तवते) स्वयं प्रस्तुत करता है। (मृगः न) सिंह के सदृश वह (भीमः) न्याय की दृढ़ता या कर्मफल के प्रदान में भयानक है, (कुचरः) वह पृथिवी में विचर रहा है, (गिरिष्ठाः) पर्वत में स्थित है, तथा मेघ में स्थित है। (परावतः परस्याः) दूर देश की द्यौ से भी दूर देश से (आ जगम्यात्) वह आ जाता है।

[परमेश्वर अपने सामर्थ्यों का स्वयं स्तवन करता है, अन्यथा उसके सामर्थ्यों का परिज्ञान हम अल्पज्ञों को कैसे सम्भव था। वह कर्मानुसार न्याय करने और नियन्त्रण में भयानक है, सुदृढ़ है। तभी कहा है कि "भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः"। "कुचरः"=कु (पृथिवी)+चरः। गिरिष्ठाः=गिरि

पर्वते', तथा मेघे तिष्ठति (निघं० १।१०)। आजगम्यात् = वह दूर से दूर तक और समीप से समीप में व्याप्त है, अतः सबको दर्शन दे सकता है]।

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधि क्षियन्ति भुवनानि विश्वा ।
उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि ।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर ॥३॥

(यस्य) जिस के (उरुषु) विस्तृत (त्रिषु विक्रमणेषु) तीन विक्रमणों में (विश्वा भुवनानि) सब भुवन (अधिक्षियन्ति) वसते हैं, (विष्णो) हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! (ऊरु) और विस्तृत (विक्रमस्व) विक्रम कर, (नः क्षयाय) हमारे निवास के लिये (ऊरु) विस्तृत (कृधि) कर। (घृतयोने) हे घृतोत्पत्ति के कारणरूप विष्णु ! (घृतं पिब) हमारी घृताहुतियों का पान कर, और (यज्ञपतिम्) यज्ञ के पति यजमान को (प्रतिर) बढ़ा, (प्र) और अधिक बढ़ा।

[तीन विक्रमण हैं, पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक, और ये हैं भी विस्तृत। प्रार्थी इन तीनों से परे और विस्तार चाहता है। परमेश्वर तो है भी सर्वव्यापक। प्रार्थी मोक्षावस्था पाकर तीन विस्तृत लोकों से भी परे विहरण चाहता है, जहां-जहां कि विष्णु विद्यमान है, अतः विष्णु की सत्ता सर्वत्र हो यह अभिलाषा प्रकट की गई है। जिस विष्णु ने घृतादि भोज्य पदार्थ उत्पन्न किये उस के प्रति पूर्वाहुतियां देने के पश्चात् ही व्यक्ति को उसका उपभोग करना विहित है। घृत का नाम यह दर्शाने के लिये पठित है कि "आयुर्वै घृतम्" घृत आयुवर्धक है।

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदा ।
समूढमस्य पांसुरे ॥४॥

(विष्णुः) सर्वव्यापक परमेश्वर ने (इदम्) यह ब्रह्माण्ड (विचक्रमे) विक्रान्त किया है (त्रेधा) उसने तीन प्रकार से (पदा) पादों को (निदधे) स्थापित किया है (अस्य) इसके तीन पाद (पांसुरे) मानो धूली वाली

१. गिरिः मेघनाम (निघं० १।१०)। अथवा गिरिष्ठाः = वेदवाणी में स्थित, व्याप्त, व्याख्यात। गीः = गीः वाङ्नाम (निघं० १।११)। तथा "उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत (यजु० २६।१५); अतः गिरिष्ठाः = उपह्वरे गिरीणाम्।

भूमि में (समूढम्) छिपे हुए हैं। समूढम्, पदम् = पदजातम्, अन्तर्हितम्, अज्ञातरूपम्।

[अभिप्राय यह कि विष्णु है तो तीनों लोकों में व्यापक परन्तु अस्मदादि सामान्य मनुष्यों को उसकी सत्ता का स्पष्ट भान नहीं होता, ऐसा ही भान होता है जैसे धूलिधूसरित पाद का। "ऋषि दयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य में उन्होंने "त्रेधा पदा" का भाव दर्शाया है, प्रथम प्रकाश वाले सूर्यादि, दूसरा प्रकाशरहित पृथिवी आदि, और जो तीसरा परमाणु आदि अदृश्य जगत् है उस सब को कारण से रचकर अन्तरिक्ष में स्थापन किया है" (५।१५)। समूढम् = मोहसमन्वितम्, अज्ञातरूपम्। मूढम् = मुह वैचित्ये (दिवादिः) + क्तः (भावे)]।

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।
इतो धर्माणि धारयन् ॥५॥

(गोपाः) रक्षक, (विष्णुः) सर्वव्यापक (अदाभ्यः) अपराभवनीय परमेश्वर ने (त्रीणि पदा) तीन पादों का (विचक्रमे) विक्षेप किया। (इतः) इन पादों द्वारा (धर्माणि) ब्रह्माण्ड के धारक तत्त्वों का (धारयन्) धारण करते हुए।

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥६॥

(विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (कर्माणि) जगत् के कर्मों को (पश्यत) देखो, (यतः) जिन से (इन्द्रस्य) परमेश्वर के (युज्यः सखा) योग्य मित्र जीवात्मा ने (व्रतानि) निज कर्तव्यकर्मों या व्रतों को (पस्पशे) देखा या अपने साथ दृढ़बद्ध किया।

[प्राकृतिक-शासनविधि को देखा करो, और उसे निज व्रतों में ढाला करो, तभी विष्णु के योग्य सखा बन पाओगे। जीवात्मा और विष्णु—ये दोनों आपस में सखा हैं। यथा "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" (ऋ० १।१६४।२०; अथर्व० ९।९।२०-२१)]।

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥७॥

(विष्णोः) व्यापक परमेश्वर के (तत्) उस (परमम्) सर्वोत्कृष्ट (पदम्)

प्रापणीय स्वरूप को, (सूरयः) मेधावी उपासक (सदा पश्यन्ति) सदा देखते हैं, सदा साक्षात् करते हैं, (दिवि) द्युलोक में (आततम्) रश्मियों द्वारा फैली हुई (चक्षुः इव) सूर्यरूपी आंख के सदृश।

[परमम् पर(उत्कृष्ट)+मा (लक्ष्मी अप्टे)। पदम् =पद्यते गम्यते प्राप्यते इति पदम्। दिवि=अधिकरण में सप्तम्यन्त पद; दिव् अर्थात् द्युलोक चक्षुः (सूर्य) का आधार है। चक्षुः=सूर्य, यथा "चक्षोः सूर्योऽग्रजायत" (यजु० ३१।१२)।

अभिप्राय यह कि मेधावी उपासक जब भी चाहें तो वे ध्यानावस्थित होकर विष्णु का दर्शन पा सकते हैं, जैसे कि साधारण व्यक्ति दिन के समय जब भी चाहें तो सूर्य का दर्शन कर सकते हैं। सूर्य को चक्षु कहा है, जो चक्षु कि द्युलोक में हैं। जैसे चक्षु गोल है वैसे सूर्य भी गोल है, जैसे चक्षु प्रकाशमय और पदार्थों का दर्शन कराती है, वैसे सूर्य भी प्रकाशमय तथा पदार्थों के दर्शन कराने में चक्षु का भी सहायक है। यजुर्वेद में आदित्य में परमेश्वर की स्थिति कही है। यथा—

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्।
ओ३म् खं ब्रह्म ॥४०।१७॥

परमेश्वर इस मन्त्रार्थ द्वारा स्वयं अपनी स्थिति का निर्देश करता है। कि "जो वह आदित्य में पुरुष है वह मैं हूं, ओ३म् खं ब्रह्म"। इस प्रकार परमेश्वर प्रत्येक आदित्य द्वारा उस-उस के आदित्य परिवार का शासन तथा नियन्त्रण करता है]।

दिवो विष्ण उत वा पृथिव्या महो विष्ण उरोरन्तरिक्षात्।
हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैराप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात् ॥८॥

(विष्णो) हे सर्वव्यापक परमेश्वर! (दिवः) द्युलोक से, (उत वा) अथवा (पृथिव्याः) पृथिवी से, (विष्णो) हे सर्वव्यापक परमेश्वर! (महः, उरोः) महाविस्तृत (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से, (बहुभिः, वसव्यैः) बहुत धनराशि द्वारा (हस्तौ[1]) दोनों हाथ (पृणस्व) भर ले, और (दक्षिणात्)

१. अथवा "हमारे दोनों हाथ भर दे, और इस निमित्त हमारे दाहिने तथा बाएं पार्श्वों से हमें प्रदान कर"।

दाएं हाथ से (आ प्रयच्छ) दे, (उत) तथा (सव्यात्) बाएं से (आ प्रयच्छ) दे।

[वसव्यैः=वसूनां समूहः "वसोः समूहे च" (अष्टा० ४।४।१४०) इति यत्प्रत्ययः। परमेश्वर के हाथ कविता में हैं, क्योंकि हाथों से दिया जाता है। अथवा "दे उतना धन जितना कि कोई दाएं-बाएं हाथों द्वारा अञ्जलि भर कर देता है"]।

सूक्त २८

मेधातिथिः। इडा। त्रिष्टुभ्।

इडैवास्माँ अनु वस्तां व्रतेन यस्याः पदे पुनते देवयन्तः।
घृतपदी शक्वरी सोमपृष्ठोप यज्ञमस्थित वैश्वदेवी ॥१॥

(इडा एव) वेदवाणी ही (व्रतेन) व्रतकर्मों द्वारा (अस्मान्) हमें (अनु वस्ताम्) निरन्तर आच्छादित[1] करती रहे, (यस्याः) जिस वेदवाणी सम्बन्धी (पदे) प्रतिपाद्य परमेश्वर [की प्राप्ति] के निमित्त, (देवयन्तः) पमेश्वर-की कामना वाले (पुनते) [अपने-आप को] पवित्र करते हैं। (घृतपदी) वेदवाणी के "पद" प्रकाशमय हैं, (शक्वरी) वह शक्ति प्रदान करती, (सोमपृष्ठा) जगदुत्पादक परमेश्वर उसकी पीठ पर है, वह (वैश्वदेवी) सब देवों का वर्णन करती है, (यज्ञम्) हमारे यज्ञकर्म में (उप अस्थित) उपस्थित हुई है।

[व्रतेन=व्रतकर्मों द्वारा पवित्रता होती है, और देव कामना वाले उपासक पवित्र होकर परमेश्वर की प्राप्ति के अधिकारी बनते हैं। वेदवाणी का मुख्य प्रतिपाद्य है परमेश्वर। यथा "यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति" (ऋ० १।१६४।३९), अर्थात् ऋचाएं पढ़कर भी जो परमेश्वर को नहीं जानता या प्राप्त होता वह ऋचाओं से क्या करेगा? घृतम्=घृ क्षरणदीप्त्योः (जुहोत्यादिः)। सोम=षु प्रसवे या षू प्रेरणे (भ्वादिः; तुदादिः)। शक्वरी

१. वेद प्रोक्त व्रतों द्वारा हम अपने को निरन्तर आच्छादित करते रहें, ताकि आसुरी कर्म हम पर प्रहार न कर सकें।

=शक्+क्वनिप्+ङीप्+र । इळा वाङ्नाम (निघं० १।११) । सोम-पृष्ठा; सोमः=षु प्रसवे, उत्पादने; सोमः=उत्पादकः] ।

सूक्त २९

मेधातिथिः । वेददेवताकं । त्रिष्टुभ् ।

वेदः स्वस्तिर्द्रुघणः स्वस्तिः परशुर्वेदिः परशुर्नः स्वस्ति ।
हविष्कृतो यज्ञिया यज्ञकामास्ते देवासो यज्ञमिमं जुषन्ताम् ॥१॥

(वेदः स्वस्तिः) वेद कल्याणकर हो, (द्रुघणः) द्रुम अर्थात् वृक्ष काटने वाला (परशुः) कुल्हाड़ा (स्वस्तिः) कल्याणकर हो, (वेदिः) यज्ञभूमि, (परशुः) तथा कुशा को काटने वाला फरसा (नः) हमें (स्वस्ति) कल्याणकर हो, (हविष्कृतः) हवि को तैयार करने वाले ऋत्विक्, (यज्ञिया) यज्ञ के योग्य यजमान, (यज्ञकामाः) तथा यज्ञ की कामना वाले अन्य लोग (ते) वे सब (देवासः) देव कोटि के विद्वान्, (इमम यज्ञम्) इस यज्ञ का (जुषन्ताम्) प्रीतिपूर्वक सेवन करें ।

[मन्त्र में यज्ञ के उपकरणों, यज्ञ के अधिकारियों, ऋत्विजों, तथा अन्य उपस्थित विद्वानों का वर्णन हुआ है] ।

सूक्त ३०

(१-२) मेधातिथिः । मन्त्रोक्त दैवतम् । त्रैष्टुभम् ।

अग्नाविष्णू महि तद् वां महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम ।
दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमा चरण्यात् ॥१॥

(अग्नाविष्णू) हे अग्नि और विष्णु ! [सूर्य !] (वाम्) तुम दोनों की (तत्) वह (महि महित्वम्) महामहिमा है कि तुम (गुह्यस्य घृतस्य) छिपे घृत के (नाम) नाम अर्थात् नमन, प्रह्वीभाव जिसमें होता है उस दुग्ध का (पाथः) पान करते हो । (दमे दमे) घर-घर में (सप्त) सात (रत्ना=रत्नानि) रत्नों को (दधानौ) धारित-पोषित करते हुए (वाम्) तुम दोनों की (जिह्वा) जिह्वा (घृतम्) छिपे घृत की (प्रति) ओर (आचरण्यात्) गति करती है ।

[विष्णु=सूर्यः, विष्लृ व्याप्तौ । व्याप्तरश्मियों के द्वारा सूर्य व्याप्त है । घृत दूध में छिपा होता है । उस समय उसका नाम दूध होता है घृत नहीं । "पाथः" द्वारा भी दूध का ही वर्णन प्रतीत होता है, यह पिया भी जाता है । दुग्धाहुति वैदिक साहित्य सम्मत है । अग्नि को "सप्तजिह्व" कहते हैं । यह दुग्ध की आहुतियों का पान निज ज्वालारूपी जिह्वाओं द्वारा करती है, और सूर्य रश्मिरूपी जिह्वाओं द्वारा पान करता है । जब घर-घर में दुग्धाग्निहोत्र हों, तो यज्ञधूम के सात परिणाम होते हैं, जिन्हें कि सप्त रत्न कहा है । यथा—(१) सुगन्ध; (२) वायुशुद्धि; (३) रोग कीटाणुओं [Germs] का हनन=रक्षोहा (अथर्व० ४।२३।३); (४) अमीवचातन [रोगनाश] (५) स्वास्थ्य, (६) दीर्घायुः, (७) सामयिकवर्षा । मन्त्र में "गुह्य" का अर्थ है गुहा में निहित । घृत की गुहा है दुग्ध, इस में घृत गुह्यरूप में छिपा रहता है । अतः दुग्धाहुतियों द्वारा "गुह्य" घृत की आहुतियां सम्पन्न हो जाती हैं । मन्त्र में "पाथः" का "कर्म" है "नाम", न कि गुह्यघृत] ।

अग्नाविष्णू महि धाम प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्या जुषाणौ ।
दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमुच्चरण्यात् ॥२॥

(अग्नाविष्णू) हे अग्नि और विष्णु [सूर्य] (वाम्) तुम दोनों का (महि धाम) महातेज (प्रियम्) प्रिय है, तुम दोनों (घृतस्य) घृत के (गुह्या=गुह्यानि) अप्रसिद्ध चरु पुरोडाश आदि पदार्थों का (जुषाणौ) प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए (वीथः) भक्षण करते हो । (दमे दमे) घर-घर में (सुष्टुत्या=सुष्टुत्यौ) उत्तम विधि से स्तुति प्राप्त करते हो, (वावृधानौ) हमें बढ़ाते हो (वाम्) तुम दोनों की (जिह्वा) जिह्वा (घृतम् प्रति) घृत की ओर [आ कर] इसे (उच्चरण्यात्) ऊर्ध्वगति प्रदान करे ।

[घृत द्वारा तैयार किये गये हव्यों की आहुतियां अग्नि के तेज में, तथा सूर्य के उदित होने पर देनी चाहियें । ये दोनों तेजावस्थाएं आहुतियों के निमित्त प्रिय हैं । "सुष्टुत्या" का अभिप्राय है कि मन्त्रोच्चारण पूर्वक आहव्य देवों के गुणधर्मों का कथन करते हुए आहुतियां देना । आहुतियों द्वारा घर-घर में वृद्धि होती है । "उच्चरण्यात्" अग्नि में आहुति देने, तथा सूर्य के उदित हुए आहुति देने से यज्ञधूम की गति ऊर्ध्व अन्तरिक्ष में जा कर फैल जाती है । "उच्चरण्यात्"=उत् (ऊर्ध्वम्)+चरण्यात् (चरण गतौ, कण्ड्वादिः)] ।

सूक्त ३१

भृग्वङ्गिराः । द्यावापृथिवी, मित्रः, ब्रह्मणस्पतिः, सविता च ।

स्वाक्तं मे द्यावापृथिवी स्वाक्तं मित्रो अकरयम् ।
स्वाक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं सविता करत् ॥१॥

(द्यावापृथिवी) द्युलोक तथा पृथिवी ने (मे=माम्) मुझे (स्वाक्तम्) अच्छे प्रकार तथा पूर्णतया कान्तिसम्पन्न (अकः) किया है, (अयम्, मित्रः) इस "दिन के काल" ने (स्वाक्तम्) कान्तिसम्पन्न किया है। (ब्रह्मणस्पतिः) अन्न के पति मेघ ने (मे[1]=माम्) मुझे (स्वाक्तम्) कान्तिसम्पन्न किया है, तथा (सविता) प्रातःकालीन सूर्य ने (स्वाक्तम्) कान्तिसम्पन्न (करत्) किया है।

[स्वाक्तम्=सु+आ+अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु (रुधादिः)। अकः=करोतेः छान्दसे लुङि, च्लेर्लुकि, गुणे, तिपो लोपे रूपभ्; करत्=करोतेः लुङि च्लेः अङ् (सायण)।

द्युलोक ने ताप-प्रकाश प्रदान द्वारा, पृथिवी ने खान-पान आश्रय-प्रदान द्वारा, दिन के समय ने आजीविका-प्रदान द्वारा, मेघ ने वर्षा द्वारा जल और तद्द्वारा अन्न-प्रदान द्वारा तथा प्रातःकालीन सूर्य ने उषा-प्रदान द्वारा कान्ति सम्पन्न किया है। मित्रः "मित्रावरुणौ अहोरात्रौ" (तां० २५।१०।१०)।

ब्रह्मणस्पति का अभिप्राय वेदपति विद्वान् या परमेश्वर भी सम्भव है। वेद द्वारा नैतिक तथा व्यवहार सम्बन्धी शिक्षा प्रदान द्वारा कान्ति सम्पन्न करना। ब्रह्म अन्ननाम (निघं २।७); तथा ब्रह्म का अर्थ मन्त्र या वेद तो प्रसिद्ध ही है। अथर्ववेद को ब्रह्मवेद भी कहते हैं। ब्रह्मणस्पतिः=मेघः ("अश्मास्यम्", ऋ० २।१४।४); (निरुक्त १०।१।१३)]।

सूक्त ३२

भृग्वङ्गिराः । इन्द्रः । भुरिक् त्रिष्टुभ् ।

इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य यावच्छ्रेष्ठाभिर्मघवञ्छूर जिन्व ।
यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट यमु द्विष्मस्तमु प्राणो जहातु ॥१॥

१. अथवा "मेरे लिये द्यौः आदि ने कान्ति प्रदान की है"। स्वाक्तम्=सु+आ+अञ्ज्+क्तः (भावे)।

(मघवन्, शूर इन्द्र) हे धनवाले और शूर सम्राट्! (यावत्) जितने भी (श्रेष्ठाभिः) श्रेष्ठ (बहुलाभिः) और संख्या में बहुत (ऊतिभिः) रक्षा साधनों द्वारा सम्भव हो [उतने रक्षा साधनों द्वारा] (अद्य) आज (नः) हमारी [रक्षा कर], (जिन्व) और हमें प्रीणित अर्थात् प्रसन्न तथा संतुष्ट कर। (यः) जो (नः) हमारे साथ (द्वेष्टि) द्वेष करता है (सः) वह (अधरः) नीचे (पदीष्ट) पतित हो, (यमु) और जिसके साथ (द्विष्मः) हम द्वेष करते हैं (तमु) उसे (प्राणः जहातु) प्राण छोड़ जाय।

[इन्द्र=सम्राट्, संयुक्त राष्ट्रों का राजा, साम्राज्याधिपति। यथा "इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७)। अद्य=प्रतिदिन। जिन्व=जिवि प्रीणनार्थः (भ्वादिः)। साम्राज्य में नाना राजाओं के नाना राष्ट्र सम्मिलित होते हैं। जो शत्रुराष्ट्र साम्राज्य के साथ द्वेष करता है, या जिस शत्रुराष्ट्र के साथ बहुसंख्यक हम राजा लोग द्वेष करते हैं, उस राष्ट्र के राजा को प्राणदण्ड देना चाहिये, यह वेदाज्ञा है]।

सूक्त ३३

ब्रह्मा । आयुष्यम् । अनुष्टुभ् ।

उप प्रियं पनिप्नतं युवानमाहुतीवृधम् ।
अगन्म बिभ्रतो नमो दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥१॥

(प्रियम्) प्रिय, (पनिप्नतम्) स्तुत्य तथा व्यवहारकुशल, (युवानम्) युवा तथा (आहुतीवृधम्) यज्ञाहुतियों द्वारा बढ़ाने वाले [सम्राट्] को (उप अगन्म) हम प्राप्त हुए हैं (नमः) नमस्कार या अन्न को (बिभ्रत) धारण करते हुए; वह [सम्राट्] (मे) मेरी (आयुः) आयु को (दीर्घम् कृणोतु) दीर्घ करे।

[सूक्त (३२) से "इन्द्र" का अनुवर्त्तन हुआ है। सम्राट् ऐसा होना चाहिये जो प्रत्येक प्रजाजन को प्रिय हो, जो यज्ञकर्मों द्वारा प्रजा की आयु को बढ़ाए, युवा तथा व्यवहारकुशल हो। नमः अन्ननाम (निघं २।७) अर्थात् साम्राज्य में उत्पन्न अन्न का षष्ठांश भाग, "कररूप" में स्वेच्छया प्रदान करते हुए। पनिप्नतम्=पण व्यवहारे स्तुतौ च। पन च (भ्वादिः), यङ्लुकि रूपम् (सायण)]।

सूक्त ३४

ब्रह्मा । मन्त्रोक्तनानादेवता: । पथ्यापंक्तिः ।

सं मा सिञ्चन्तु मुरुतुः सं पूषा सं बृहुस्पतिः ।
सं मायम॒ग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे ॥१॥

(मा) मुझे (मरुतः) मानसून वायुएं (संसिञ्चन्तु) [जल द्वारा] सम्यक् सींचें, (पूषा) रश्मियों से पुष्ट सूर्य (सं संसिञ्चतु) [रश्मियों द्वारा] सींचे, (बृहस्पतिः) विद्युत् या वायु भी (सं=संसिञ्चतु) जल और शुद्ध वायु द्वारा सींचे। (मा) मुझे (अयम्, अग्निः) यह अग्नि (संसिञ्चतु) यज्ञधूम द्वारा सींचे, (प्रजया च) प्रजा और (धनेन च) धन द्वारा सींचे, और (मे) मेरी (दीर्घम् आयुः) दीर्घ आयु (कृणोतु) करे।

[मरुतः=मानसून वायुएं (अथर्व० ४।२७।४,५)। पूषा=यद् रश्मिपोषं पुष्यति (निरुक्त १२।२।१६)। बृहस्पतिः (निरुक्त १०।१।१०)]।

सूक्त ३५

अथर्वा । जातवेदाः । जगती ।

अग्ने॒ जातान् प्र णुदा मे सपत्नान् प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व ।
अधस्पदं कृणुष्व ये पृतन्यवोऽनागसस्ते वयमदितये स्याम ॥१॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (मे) मेरे (जातान् सपत्नान्) पैदा हुए शत्रुओं को (प्र नुद) परे धकेल, (जातवेदः) हे जातप्रज्ञ प्रधानमन्त्रिन्! (अजातान्) जो अभी शत्रुरूप में पैदा नहीं हुए उन्हें (प्रति) अपनी ओर (नुदस्व) प्रेरित कर, अपनाने का यत्न कर। (ये) तथा जो (पृतन्यवः) सेना द्वारा युद्धेच्छु हैं उन्हें (अधस्पदम्) निज पैरों तले (कृणुष्व) कर ताकि (ते वयम्) वे हम (अनागसः) निष्पाप हुए (अदितये) अविनाश के लिये (स्याम) हों।

[प्रजाजन या सम्राट् की उक्ति अग्रणी के प्रति है (ते वयम्) "वे हम" अर्थात् प्रजावर्ग और शासक। शत्रुओं के न रहते हम धर्मकृत्य कर के निष्पाप हो कर अविनाश के लिये हों। अदितये=अ+दोङ् क्षये+क्तिन्। जातवेदाः=जातप्रज्ञानः (निरुक्त ७।५।१९)]।

सूक्त ३६

(१-३) अथर्वा । जातवेदाः । अनुष्टुभ्; १,३ त्रिष्टुभ् ।

प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा सहस्व प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व ।
इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय विश्वं एनमनुं मदन्तु देवाः ॥१॥

(अन्यान् सपत्नान्) सूक्त (३५) में कथित सपत्नों से भिन्न प्रकार के सपत्नों का (सहसा) साहसपूर्वक (प्रसहस्व) पराभव कर, (जातवेदः) हे जातप्रज्ञ प्रधानमन्त्रिन्! (अजातान्) जो अभी शत्रुरूप में पैदा नहीं हुए उन्हें (प्रति) अपनी ओर (नुदस्व) प्रेरित कर, अपनाने का यत्न कर। (इदम् राष्ट्रम्) इस निज राष्ट्र को (सौभगाय) सौभाग्य प्राप्ति के लिये (पिपृहि) पालित तथा सुख सामग्री से पूरित कर। ताकि (विश्वे देवाः) राष्ट्र के सब देव (एनम्, अनु) इस राजा को अनुकूलरूप पाकर (मदन्तु) हर्षित हों।

["अन्यान सपत्नान्"—ये हैं राष्ट्र के आभ्यन्तर-सपत्न, प्रचलित शासन के विरोधी दल। एक पति राजा की द्विविध प्रजाएं हैं—शासनानुकूल प्रजा, तथा शासनविरोधी प्रजा, शासनविरोधी प्रजा का पराभव साहसपूर्वक करना चाहिये, इसमें ढील न होनी चाहिये। पिपृहि=पृ पालन-पूरणयोः (जुहोत्यादिः) ह्रस्वान्तोऽयमित्येके]।

इमा यास्ते शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत ।
तासां ते सर्वासामहमश्मना बिलमप्यधाम् ॥२॥

[हे स्त्री!] (इमाः याः ते) ये जो तेरी (शतम्, हिराः) सौ सिराएं हैं, (उत) और (सहस्रम् धमनीः) हजार धमनियां हैं, (ते) तेरी (तासाम् सर्वासाम्) उन सब सिराओं और धमनियों के (बिलम्) मुखों को (अहम् अपि अधाम्=पि अधाम्) मैंने बन्द कर दिया है, जैसे कि (अश्मना) पत्थर द्वारा (बिलम्) बिल को बन्द कर दिया जाता है।

[हिराः का अर्थ है गर्भाशय की सिराएं, नीले रक्त की नाड़ियां। और धमनीः का अर्थ है धम-धम शब्द करती हुई शुद्धरक्त की गर्भस्थ नाड़ियां। इन्हें Veins and Arteries कहते हैं। शतम्, सहस्रम् शब्द अज्ञात संख्या के निर्देशक हैं। इन्हें बन्द करने का प्रयोजन यह है ताकि इन

में रक्त का प्रवाह न हो, और न "रज:कणों" का ही प्रवाह हो। रज:कणों के अभाव में गर्भस्थिति नहीं होती]।

परं योनेरवरं ते कृणोमि मा त्वा प्रजाभि भून्मोत सूनुः।
अस्वं१ त्वाप्रजसं कृणोम्यश्मानं ते अपिधानं कृणोमि ॥३॥

(ते) तेरी (योने:) योनि के (परम्) पहले भाग को (अवरम्) नीचे की ओर (कृणोमि) मैं करता हूं, [इस प्रकार] (त्वा अभि) तुझे लक्ष्य करके (मा प्रजा भूत्) न कन्या हो, (उत) और (मा सूनु:) न पुत्र हो। (त्वा) तुझे (अस्वम्) प्रसूतिरहित (अप्रजसम्) अर्थात् प्रजारहित (कृणोमि) मैं करता हूं: (अश्मानं ते अपिधानं कृणोमि) तेरे मार्ग को मैं बन्द कर देता हूं जैसे कि पत्थर द्वारा बिल को बन्द कर दिया जाता है। मन्त्र २,३ में "ते" पद एकवचन में है। इसलिये जो कोई नारी सन्तान-प्रतिबन्ध चाहे उसके लिये इन प्रयोगों का विधान हुआ है, अनिच्छुक पर नहीं। योनि के पन्दे और योनि के मुख के व्यत्यास में पौरुषप्रसङ्ग नहीं हो सकता। ये प्रयोग, अल्पकालिक भी हो सकते हैं, और स्थिर भी। अपिधानम् = पिधानम्, बन्द करना[1]]।

सूक्त ३७

अथर्वा। मन्त्रोक्त देवता:। अनुष्टुभ्।

अक्ष्यौ॒ नौ मधु॑संकाशे॒ अनी॑कं नौ स॒मञ्ज॑नम्।
अ॒न्तः कृ॑णुष्व॒ मां हृ॒दि मन॒ इन्नौ॑ स॒हास॑ति ॥१॥

(नौ) हम दोनों की (अक्ष्यौ) दोनों-दोनों आंखें [मधुसंकाशे] मधु के सदृश [मधुर] हों, (नौ) हम दोनों के (अनीकम्) मुख (समञ्जनम्) सम्यक् कान्तिसम्पन्न हों। (माम्) मुझे (हृदि अन्त:) हृदय के भीतर (कृणुष्व) कर, (नौ) हम दोनों का (मन: इत्) मन भी (सह) परस्पर सहकारी (असति) हो।

१. गर्भपात धर्मविरुद्ध है। परन्तु राष्ट्रिय आवश्यकता, महिमा और व्यक्ति के स्वास्थ्य की दृष्टि से सन्तान-निरोध अनुपादेय नहीं। अपितु उपादेय है। सन्तान निरोध के लिये ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ उपाय है।

[यह सूक्त विवाह संस्कार में विनियुक्त हुआ है। पति-पत्नी के जीवनों में मधुरता, प्रसन्नता तथा अनुराग दर्शाया है। समञ्जनम् = सम् (सम्यक्) + अञ्जू (व्यतिम्रक्षणकान्तिगतिषु; रुधादि)। इस द्वारा वर-वधू में पारस्परिक प्रसन्नता प्रकट की है। 'हृदि अन्त:' द्वारा वर और वधू दोनों एक-दूसरे को सदा अपने-अपने हृदय के भीतर रखने का संकल्प करते हैं। इस द्वारा पारस्परिक अनुराग द्योतित किया है। असति = अस् (भुवि), लेट् लकार + अट् का आगम]।

सूक्त ३८

अथर्वा। लिङ्गोक्त देवता। अनुष्टुभ्।

अ॒भि त्वा॒ मनु॑जातेन॒ दधा॑मि॒ मम॒ वास॑सा।
यथाऽसो॒ मम॒ केव॑लो॒ नान्यासां॑ की॒र्तया॑श्च॒न ॥१॥

(मनुजातेन[1]) मनोऽनुराग द्वारा उत्पादित (मम) मेरे अर्थात् अपने (वाससा) वस्त्र द्वारा [हे पति! या वर!] (त्वा) तुझे मैं (अभि दधामि) बान्धती हूं। (यथा) जिस प्रकार कि तू (मम केवल:) केवल मेरा ही (अस:) हो, और (अन्यासाम्) अन्य नारियों का (न कीर्त्तयाः चन) कीर्तन न करे।

[यह मन्त्र भी विवाह संस्कार सम्बन्धी है। वधू निज मनोऽनुराग पूर्वक जिस वस्त्र को बुनकर तय्यार करती है उस वस्त्र के द्वारा स्वयं, न कि पुरोहित, पति को बान्धती है, उस के वस्त्र के साथ अपने वस्त्र का गठ-जोड़ करती है। और इस विधि द्वारा पति को केवल अपना पति घोषित करती है। अस: = अस् (भुवि), लेट् लकार + सिप् (इकारलोप, "इतश्च लोप: परस्मैपदेषु") + अट् का आगम]।

१. अथवा "मननपूर्वक तय्यार किये गए" वस्त्र द्वारा। मन्त्रेण जातेन, मनो वा निष्पन्नेन" (सायण)।

सूक्त ३९

(१-५) अथर्वा । वनस्पतिः । अनुष्टुभ्; ३ चतुष्पदा उष्णिक् ।

इदं खनामि भेषजं मां पश्यमभिरोरुदम् ।
परायतो निवर्त्तनमायतः प्रतिनन्दनम् ॥१॥

(इदम्) इस (भेषजम्) औषध को (खनामि) मैं खोदती हूं, (मां पश्यम्) जो कि मुझे देखती है, अर्थात् मेरे स्वार्थ को दृष्टि में रखती है, (अभिरोरुदम्) और [मेरे वियोग में पति को] रुला देती है, जो (परायतः) दूर गए पति को (निवर्तनम्) लौटा लाती है, (आयतः) और लौट आए के (प्रति नन्दनम्) के प्रति आनन्दकारी होती है ।

[यह भेषज कोई वानस्पतिक वस्तु नहीं, अपि तु पत्नी का पति के प्रति गाढ़ अनुराग है । किसी भी वनस्पति की आखें नहीं होतीं जिन द्वारा कि वह पत्नी को निज-अनुकूलता में देखे । खनामि द्वारा हृदय के अन्तःस्थल में विद्यमान गाढ़-अनुराग का प्रकटीकरण ही अभिप्रेत है, यही महाभेषज है, जो कि पत्नी के वियोग में पति को रुला देती है, विह्वल कर देती है, गए को लौटा लाती और लौट आए को प्रसन्न कर देती है] ।

येना निचक्र आसुरीन्द्रं देवेभ्यस्परि ।
तेना नि कुर्वे त्वामहं यथा तेऽसानि सुप्रिया ॥२॥

(आसुरी) प्रज्ञावान् पति की प्रज्ञावती पत्नी (येन) जिस भेषज द्वारा (देवेभ्यः परि) [पति की] इन्द्रियों को वर्जित करके, (इन्द्रम्) पति की आत्मा को (निचक्रे) वश में करती रही है, (तेन) उस भेषज द्वारा (अहम्) मैं पत्नी (त्वाम्, निकुर्वे) तुझे वश में करती हूं, (यथा) ताकि (ते) तेरी (सुप्रिया) अत्यन्त प्रिया (असानि) मैं हो जाऊं ।

[असुः प्रज्ञानाम (निघं० ३।९) । असुरः=प्रज्ञावान्, बुद्धिमान् । आसुरी=बुद्धिमान् की बुद्धिमती पत्नी । तथा असुरत्वम्=प्रज्ञावत्त्वम् (निरुक्त १०।३।३४) पद त्वष्टा (२१) । देवेभ्यः=देवाः इन्द्रियाणि (यजु० ४०।४) यथा "नैनद् देवाऽआप्नुवन् पूर्वमर्षत्" । परि=अपपरी वर्जने (अष्टा० १।४।८८) इति परिः कर्मप्रवचनीयः, पञ्चम्यपाङ्परिभिः (अष्टा० २।३।१०) इति पञ्चमी; देवेभ्यः परि=देवान् वर्जयित्वा (सायण) । अभिप्राय यह कि जहां पति और पत्नी दोनों बुद्धिमान् हों वहां

परस्पर में अत्यन्त प्रेम बना रहता है । वहां ऐन्द्रियिक शृङ्गारविषय की परवाह न होकर आत्मिक सम्बन्ध की अधिक परवाह होती है । इन्द्र=जीवात्मा । यथा "इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गम्०" (अष्टा० ५।२।९३) । निकुर्वे, निकारः=Subjugation (आप्टे)=स्वाधीनं कुर्वे, वशीकरोमि] ।

प्रतीची सोमंमसि प्रतीच्युत सूर्यम् ।
प्रतीची विश्वान् देवान् तां त्वाऽच्छावदामसि ॥३॥

[हे पत्नी !] (सोमम्) चन्द्रमा की (प्रतीची) प्रतिरूपता को प्राप्त हुई (असि) तू है, (उत) तथा (सूर्यम्) सूर्य की (प्रतीची) प्रतिरूपता को प्राप्त तू है । (विश्वान् देवान्) सब देवों की (प्रतीची) प्रतिरूपता को प्राप्त तू है, (ताम्, त्वा) उस तुझ के (अच्छ) संमुख (आवदामसि) हम सब यह कहते हैं ।

[मन्त्र में पति के सम्बन्धियों ने पत्नी की प्रशंसा में कहा है कि तू सौन्दर्य में चांद और सूर्य के प्रतिरूप है, और दिव्यगुणों में देवपुरुषों के सदृश है । प्रतीची=प्रतिरूपताम् अञ्चति प्राप्नोति इति । अच्छ=अच्छाभी आभिमुख्ये] ।

अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद ।
ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥४॥

(अहम्) मैं पत्नी (वदामि) [गृह्य व्यवहारों में] बोला करूं, (नेत् त्वम्) न कि तू; (त्वम्) तू (सभायाम् अह) राजकीय तथा सामाजिक सभा में (वद) बोला कर । (त्वम्) तू (मम इत्) मेरा ही (केवलः) केवल (असः) हो, (अन्यासाम्) अन्य नारियों का (न, कीर्तयाः चन) कीर्तन भी न किया कर ।

[मन्त्र में पत्नी ने आपस में कार्यविभाग का कथन किया है । गृह्य-कार्यों और गृह्य व्यवहारों में वह निज अधिकार मानती है, और सामाजिक तथा राजनैतिक कार्यों में अधिकार पति का । इस प्रकार दोनों प्रकार की व्यवस्थाएं बनी रहती हैं, और पारस्परिक प्रेम दृढ़ होता जाता है । पति को यह भी परामर्श देती है कि तूने पत्नीव्रत का ध्यान रखना है] ।

यदि॒ वासि॑ ति॒रोज॒नं यदि॑ वा न॒द्य॑स्ति॒रः ।
इ॒यं ह॒ मह्यं॒ त्वामोष॑धिर्ब॒द्ध्वेव॒ न्यान॑यत् ॥५॥

[हे पतिः] (यदि वा) यदि (तिरोजनम्) किसी जनता या जनपद द्वारा तू तिरोहित अन्तर्हित (असि) हुआ है, (यदि वा) अथवा (नद्यः) नदियां (तिरः) तेरी तिरोधायक हुई हैं, तो (इयम्, ओषधिः) यह ओषधि (त्वाम्) तुझ को (बद्ध्वा इव) मानों बान्ध कर, (मह्यम्) मेरे लिये, (ह) निश्चय से (न्यानयत्) वापिस लाएगी, या लाए।

[ओषधि है पत्नी के अन्तःहृदय में पति के प्रति अनुराग। वैमनस्य के कारण पति कहीं चला गया प्रतीत होता है। पत्नी को विश्वास है कि उसका अनुरागाविष्ट सततानुचिन्तन पति को वापिस ले आएगा। सूक्त में भेषज और ओषधि शब्द गौणार्थ में प्रयुक्त हुए हैं। यजुर्वेद में भी भेषज शब्द गौणार्थ में प्रयुक्त हुआ है। यथा—"भेषजमसि भेषजं गवेऽश्वाय पुरुषाय भेषजम्। सुखं मेषाय मेष्यै" (३।५९)। इस पर "उवट" लिखते हैं कि "हे रुद्र! यस्त्वं स्वभावत एव भेषजमौषधं भवसि"। तथा महीधर लिखते हैं कि "हे रुद्र! त्वं भेषजमसि, औषधवत्सर्वोपद्रवनिवारकोऽसि"। तिरः=अन्तर्धानम्। यथा "तिरोऽन्तर्धौ" (अष्टा० १।४।७९)। न्यानयत् =नितरां आनमत्]।

सप्तम काण्ड का तृतीय अनुवाक समाप्त

सूक्त ४०

प्रस्कण्व। मन्त्रोक्त देवत्यम्। त्रिष्टुभ्।

दि॒व्यं सु॑प॒र्णं प॑य॒सं बृ॒हन्त॑म॒पां गर्भं॑ वृ॒ष॒भमोष॑धीनाम् ।
अ॒भी॒प॒तो वृ॒ष्ट्या त॒र्पय॑न्त॒मा नो॑ गो॒ष्ठे र॑यि॒ष्ठां स्था॑पयाति ॥१॥

(दिव्यम्) दिव्यगुणों वाले, (सुपर्णम्) उत्तम पंखों वाले पक्षी के सदृश उड़ने वाले, (पयसम्) जलमय, (बृहन्तम्) महाकाय, (अपाम्, गर्भम्) जलों के गर्भरूप, (ओषधीनाम्, वृषभम्) ओषधियों पर वर्षा करने वाले, (अभीपतः) सूर्य को अभिमुख करके उसके चारों ओर उड़ने वाले ग्रहों को (वृष्टया, तर्पयन्तम्) वृष्टि द्वारा तृप्त करने वाले[1], (रयिष्ठाम्) सम्पत्ति के उत्पादनार्थ [अन्तरिक्ष में] स्थित [मेघ[1] को], (नः गोष्ठे) हमारे गोशाला आदि स्थान में [परमेश्वर] (स्थापयाति) स्थापित करे, या करता है।

[भौमजल की अपेक्षा मेघस्थ जल दिव्यगुणों वाला होता है, उसमें भौम पदार्थ मिश्रित नहीं होते, वह स्वच्छ होता है। अन्तरिक्ष में मेघस्थ जल वायु द्वारा इधर-उधर उड़ता रहता है। मेघ के कारण अन्नादि सम्पत्ति प्राप्त होती है। गोष्ठ पद उपलक्षक है निवास स्थान, खेत आदि का]।

सूक्त ४१

(१-२) प्रस्कण्व। सरस्वान्। त्रिष्टुभ्; १ भुरिज्।

यस्य॑ व्र॒तं प॒शवो॒ यन्ति॒ सर्वे॒ यस्य॑ व्र॒त उ॑प॒तिष्ठ॑न्त॒ आपः॑ ।
यस्य॑ व्र॒ते पु॑ष्ट॒पति॒र्निवि॑ष्ट॒स्तं सर॑स्वन्त॒मव॑से हवामहे ॥१॥

(यस्य व्रतम्) जिस के व्रत का (सर्वे पशवः) सब प्राणी (यन्ति) अनुगमन करते हैं, (यस्य व्रते) जिस के व्रत [के अनुसार] (आपः) जल (उपतिष्ठन्ते) उपस्थित होते हैं [नदी आदि में]। (यस्य व्रते) जिस के (व्रते) व्रत में (पुष्टपतिः) पुष्ट अन्नों का पति [मेघ] (निविष्टः) [अन्तरिक्ष में] नियम से प्रविष्ट होता है (तम्) उस (सरस्वन्तम्) सरण करने वाले मेघों के स्वामी [सूर्य] को, (अवसे) रक्षार्थ (हवामहे) हम बुलाते हैं।

---

१. पृथिवी से अतिरिक्त अन्य ग्रहों में भी बर्फ के रूप में जल की सत्ता है। प्रत्येक ग्रह का निज वैयक्तिक अन्तरिक्ष है, यहां स्थित मेघों द्वारा उन पर वृष्टि होती है, या हुई है।

[सूर्य व्रती है। नियमानुसार उदितास्त होता और ऋतुओं का सर्जन करता है। यह उसका व्रत है, इसका वह उल्लंघन नहीं करता। सब प्राणी तथा जल आदि सूर्य के व्रतानुसार चलते हैं। पुष्टपति है मेघ। वह भी सूर्य निर्दिष्ट व्रतानुसार समय पर अन्तरिक्ष में आ प्रविष्ट होता है। "हवामहे" द्वारा यह सूचित किया है कि अनावृष्टि की अवस्था में यज्ञिय साधन आदि द्वारा सूर्य की शक्ति का आह्वान करना चाहिये। पैप्पलाद शाखा में "हवामहे" के स्थान में "जुहुवेम" पाठ है]।

तथा

जिस के नियम में सब प्राणी चलते हैं, जिसके नियम में जल उपस्थित होते हैं। जिस के नियम में पुष्ट अन्नादि का पति पूषा सूर्य द्युलोक में निर्दिष्ट है उस विज्ञानवान् परमेश्वर को रक्षार्थ, हम पुकारते हैं।

[आपः=वर्षा के जल का बरसना, नदियों आदि के जलों का प्रवहण हो कर तत्तद् स्थानों में उपस्थित होना परमेश्वर के रचे नियमानुसार हो रहा है। प्राणी भी नियम में बन्धे शयन-जागरण तथा अन्य कर्म करते हैं। सूर्य भी द्युलोक में निविष्ट हुआ नियम पूर्वक अन्नों तथा फलों का विपाक ऋत्वनुसार करता है। परमेश्वर सरस्वान् है। सरः विज्ञानम्[1], तद्वान् है। आत्मरक्षार्थ स्तुति-प्रार्थना-उपासना विधि द्वारा निज जीवनों में उस का आह्वान करना चाहिये]।

आ प्रत्यञ्चं दाशुषे दाश्वांसं सरस्वन्तं पुष्टपतिं रयिष्ठाम्।
रायस्पोषं श्रवस्युं वसाना इह हुवेम सदनं रयीणाम् ॥२॥

(प्रत्यञ्चम्) प्रतिपदार्थ में प्राप्त, (दाशुषे) आत्मसमर्पक के लिये (दाश्वांसम्) सद्गुणों के प्रदाता, (सरस्वन्तम्) विज्ञान[1] धन, (पुष्टपतिं) परिपुष्ट पूषा [सूर्य] के पति, (रयिष्ठाम्) ऐश्वर्यों में स्थित अर्थात् ऐश्वर्यशाली, (रायस्पोषम्) भक्तों की सद्गुणरूपी सम्पत्ति के पोषक, (श्रवस्युम्) भक्तों की प्रार्थना को सुनना चाहते हुए, (रयीणाम्) सद्गुणरूपी सम्पत्तियों

१. सरो विज्ञानमुदकं वा विद्यतेऽस्यां सा सरस्वती वाक्, नदी वा (उणा० ४। १९०) दयानन्द। अतः सरः=विज्ञानम्, तद्वान् परमेश्वरः सरस्वान्।

की (सदनम्) आगार परमेश्वर को (वसानाः) निज जीवनों में बसाते हुए, (इह) यहां निज जीवनों या इस पृथिवी पर (आहुवेम) हम उसका आह्वान करते हैं]।

सूक्त ४२

(१-२) प्रस्कण्वः। श्येनः। १ जगती; २ त्रिष्टुभ्।

अति धन्वान्यत्यपस्ततर्द श्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः।
तरन् विश्वान्यवरा रजांसीन्द्रेण सख्या शिव आ जगम्यात् ॥१॥

(नृचक्षाः) नर-नारियों का निरीक्षक, (श्येनः) प्रशंसनीय गति वाला परमेश्वर, (अवसानदर्शः) जो कि जगत् के अवसान का द्रष्टा है वह (धन्वानि अति) मरुस्थलों का अतिक्रमण कर, (अपः प्रति) और समुद्रादि जलों का अतिक्रमण कर (ततर्द) सब जगत् की हिंसा अर्थात् विनाश प्रलय करता रहा है, या कर देता है। वह (विश्वानि अवरा रजांसि तरन्) समग्र अवर कोटि के लोकों को पार करता हुआ, (सख्या इन्द्रेण) निज सखा जीवात्मा के साथ वर्तमान हुआ (शिवः) कल्याण करता है, (आ जगम्यात्) वह हमें प्राप्त हो।

[मन्त्र के पूर्वार्ध में परमेश्वर की संहार शक्ति का कथन हुआ है, और उत्तरार्ध में उस के शिवस्वरूप का। श्येनः="शंसनीयं गच्छति" (निरुक्त ४।४।२४; जसुरि पद ५१); तथा "श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः" (निरुक्त १३(१४)।२(१)।७२।१४)। इन्द्र=जीवात्मा (अष्टा० इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमित्यादि; ५।२।९३)। सब लोक परमेश्वर की शक्ति की अपेक्षा शक्ति में अवर कोटि के हैं, तभी परमेश्वर उन का तर्दन कर सकता है। तर्दन और अवसान समानाभिप्रायक हैं]।

श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः।
स नो नि यच्छाद् वसु यत् पराभृतमस्माकमस्तु पितृषु स्वधावत् ॥२

(श्येनः) देखो मन्त्र (१), (नृचक्षाः) नर-नारियों का निरीक्षक, (दिव्यः) दिव्यगुणी, (सुपर्णः) उत्तम पालक (सहस्रपात्) हजारों पैरों वाला या हजारों का रक्षक (शतयोनिः) सैंकड़ों का योनिरूप, (वयोधाः) अन्नों का धारण करने वाला, उन का स्वामी (सः) वह परमेश्वर (नः) हमें (नियच्छात्) नितरां देवे (वसु) धन; (यत्) जो धन कि (पराभृतम्) दूर से

भी लाया गया हो, वह धन (अस्माकम् पितृषु) हमारे माता-पिता आदि में (स्वधावत् अस्तु) आत्मधारण शक्ति प्रदायक हो ।

[सुपर्णः = सु+पॄ पालनपूरणयोः (जुहोत्यादिः) । सहस्रपात् = सहस्र-पात् (यजु० ३१।१), सर्वगतिकः, या सहस्र+पा रक्षणे । पराभृतम् = परस्मात् स्थानात्+आहृतम्] ।

सूक्त ४३

(१-२) **प्रस्कण्वः । मन्त्रोक्त देवत्यम् । त्रिष्टुभ् ।**

सोमारुद्रा वि वृंहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेश ।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत् ॥१॥

(सोमा रुद्रा) हे सोम-और-रुद्र! (विषूचीम्) विस्वक् अर्थात् फैलने वाले रोग को (विवृहतम्) विनष्ट करो, (या अमीवा) जो अमीवा कि (नः गयम्) हमारे घर में या शरीरों में (आ विवेश) प्रविष्ट हो गया है। (पराचैः) दूर करने के निज साधनों द्वारा (निर्ऋतिम्) कष्टापत्तिरूप विषूची को (दूरम्) दूर कर (बाधेथाम्) इस का नाश करो, (कृतं चित् एनः) और किये पाप को भी (अस्मत्) हम से (प्रमुमुक्तम्) मुक्त करो, छुड़ाओ ।

[विषूची = विषूचिका = Cholera (आप्टे) । वृहतम् = विनाशयतम् (सायण) । अमीवा = अम रोगे (चुरादिः) । "अमीवा" रोगकीटाणु भी है। "गयः गृहनाम (निघं० ३।४) । सोम = जल, और रुद्र = विद्युत् । यथा "अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा । अग्निं च विश्वशम्भुवम्" (अथर्व० १।६।२), सोम का सम्बन्ध आपः के साथ है, और आपः में सब भेषज हैं, और अग्नि है जो कि सब रोगों को शान्त करती है। यह अग्नि विद्युत् है। सोमः = Water (आप्टे) । निर्ऋतिः = कृच्छ्रापत्तिः (निरुक्त २।२।६) । जब रोग समाप्त हो गया, तो यह रोग, जिस पाप का परिणाम था वह भी दूर गया, क्योंकि उस पाप का फल भुक्त हो चुका]।

सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मद् विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम् ।
अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो असत् तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत् ॥२॥

(सोमारुद्रा) हे सोम-और-रुद्र! (युवम्) तुम दोनों (अस्मत् तनूषु) हमारे देहों में (एतानि विश्वा भेषजानि) इन सब भेषजों को (धत्तम्) स्थापित करो। (यत्) जो (कृतम्, एनः) किया पाप (नः तनूषु) हमारे देहों में (बद्धम्) बन्धा पड़ा (असत्) है, (तत्) उसे (अस्मत्) हम से (अवस्यतम्) अवसित करो, उस का अवसान करो, (मुञ्चतम्) उसे छुड़ाओ ।

["तनूषु बद्धम्", और "तनूषु" पदों की दृष्टि से पूर्व के मन्त्र में "गय" का अर्थ शरीर गृह किया है] ।

सूक्त ४४

प्रस्कण्वः । वाक् । त्रिष्टुभ् ।

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः ।
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन् तासामेका वि पपातानु घोषम् ॥१

[हे पुरुष !] (ते) तेरी (एकाः) एक प्रकार की [वाचः] वाणियाँ (शिवाः) कल्याणमयी हैं, (ते) तेरी (एकाः) अन्य प्रकार की वाणियां (अशिवाः) अकल्याणरूप हैं; (सुमनस्यमानः) सुप्रसन्न हुआ (सर्वाः) उन सब वाणियों को (बिभर्षि) तू अपने में धारण करता है। (अस्मिन् अन्तः) इस पुरुष के भीतर (तिस्रः वाचः निहिताः) तीन वाणियां निहित रहती हैं, (तासाम्) उन में से (एका) एक वाणी (घोषम् अनु) ध्वनि के साथ (विपपात) बाहिर गिरती है।

[सायण ने चार वाणियों का निर्देश मन्त्र-व्याख्या में किया है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी । और इनकी विस्तृत व्याख्या भी की है। मन्त्र के तीसरे पाद में "तिस्रः वाचः" द्वारा पुरुष में तीन वाणियों का निधान अर्थात् स्थिति कही है, और उनमें से एक "ध्वनि" रूप वाणी का मुख से पतन कहा है। वाणी "संस्कार रूप" में चित्त में निहित रहती है। यह "संस्कारमयी" वाणी है। यह संस्कारमयी वाणी पदवाक्यरूप में, बोलते समय, प्रथम चित्त में स्थित होती है, प्रकट होती है। इसका उच्चारण करे या न करे, वक्ता की इच्छा पर निर्भर होता है। परन्तु जब वह बोलता है तो चित्तस्थ वाणी ध्वनि के साथ मुख से गिरती है। इस तृतीयावस्था की वाणी को "वैखरी" कहते हैं। वैखरी वाणी तालु, ओष्ठ आदि स्थानों में

अभिव्यक्त हुई मुख द्वारा उच्चरित होती है। चित्तस्थ वाणी "पश्यन्ती" है, इसकी स्थिति को पुरुष विना मुख द्वारा उच्चारण किये भी जान रहा होता है। संस्कारमयी वाणी "परावाणी" है, जो कि वक्ता की इच्छा के विना चित्त में भी अभिव्यक्त नहीं होती। इन अन्त की द्विविध वाणियों का सम्बन्ध तालु-ओष्ठ आदि के साथ नहीं होता। मन्त्र में "मध्यमा" वाणी का प्रसंग नहीं। यद्यपि "चत्वारि वाक् परिमिता पदानि" (अथर्व० ९।१५। २७) चतुर्विध वाक्-पदों का कथन हुआ है]।

सूक्त ४५

प्रस्कण्वः। मन्त्रोक्त देवता। भुरिक्। त्रिष्टुभ्।

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न पराजिग्ये कतुरश्चनैनयोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम् ॥१॥

(विष्णो) हे विष्णु! (इन्द्रः च) और इन्द्र तुम (उभा) दोनों (जिग्यथुः) विजयी होते हो, (न पराजयेथे) पराजित नहीं होते, (एनयोः) इन दोनों में से (कतरः चन) कोई एक [अकेला] भी (न पराजिग्ये) कभी पराजित नहीं हुआ या होता। (यत्) जब (अपस्पृधेथाम्[1]) दोनों किसी के साथ स्पर्धा करते हैं (तत्) तब (त्रेधा) तीन प्रकार से (सहस्रम्) हजारों शत्रु-सैनिकों को (व्यैरयेथाम्) ये तितर-बितर कर देते हैं।

[व्यैरयेथाम्=वि+ईर गतौ कम्पने च (अदादिः)। इन्द्र=सम्राट्, साम्राज्याधिपति। "इन्द्रश्च सम्राट्" (यजु० ८।३७)। विष्णु [सम्भवतः मुख्य सेनापति?]। त्रेधा=स्थल, जल और अन्तरिक्ष में तीन प्रकार के युद्धों में, या जल स्थल और पर्वतीय युद्धों में। "इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्" (ऋ० १।२२।१७) में विष्णु अर्थात् सूर्य के [आधिदैविकार्थ में] "त्रेधा विक्रमों" और "त्रेधा पदनिधानों" का वर्णन हुआ है। राजनैतिक [आधिभौतिक] अर्थ में विष्णु, सम्भवतः मुख्य सेनापति द्वारा तीन स्थानों पर "त्रेधा" द्वारा युद्ध का वर्णन अभिप्रेत हो। सायणाचार्य ने ७।४२।३ की व्याख्या में "विष्णो" का अर्थ सूर्य न कर "व्यापनशीलस्य इन्द्रस्य वा" अर्थ किया है। इस प्रकार प्रकरणानुसार कहीं-कहीं यौगिक पद्धति का आश्रय लेना पड़ता है]।

सूक्त ४६

प्रस्कण्वः। भैषज्यम्। अनुष्टुभ्।

जनाद् विश्वजनीनात् सिन्धुतस्पर्याभृतम्।
दूरात् त्वा मन्य उद्भृतमीर्ष्याया नाम भेषजम् ॥१॥

(विश्वजनीनात् जनात्) सब जनों का हित करने वाले जन से, तथा (सिन्धुतः परि) सिन्धु से (आभृतम्) लाई गई, तथा (दूरात्) दूर के स्थान से भी (उद्भृतम्) पृथिवी से उद्धृत की गई (त्वा) तुझ को (ईर्ष्यायाः) ईर्ष्या का (भेषजम्, नाम) प्रसिद्ध औषध (मन्ये) मैं मानता हूं।

[सर्वहितकारी वैद्य से लाई गई ओषधि, या सर्वहितकारी योगी महात्मा से प्राप्त आध्यात्मिक मानसिक अनुशासन; तथा सिन्धु से प्राप्त सैन्धव आदि; तथा पृथिवी को खोदकर प्राप्त खनिज पदार्थ, तथा वानस्पतिक जड़, ईर्ष्यावृत्ति की औषध है।

वैद्य से प्राप्त दवाई, या योगी महात्मा से प्राप्त मानसिक अनुशासन, ईर्ष्या को दूर कर सकते हैं। ईर्ष्या मानसिक रोग है जो कि हितकारी वैद्य द्वारा प्रदत्त औषधि से शान्त हो सकता है। यह ईर्ष्या मानसिक-वृत्ति है जो कि अन्य मानसिक वृत्तियों के निरोध के सदृश, योगोपायों द्वारा निरुद्ध

---

१ "स्पर्धा" यतः चेतनधर्म है, साथ ही मन्त्र में जय-पराजय का कथन हुआ है, इसलिये इन्द्र अर्थात् सम्राट् का सहयोगी विष्णु सेनापति समझा जा सकता है।

अथवा आधिदैविक दृष्टि में इन्द्र द्वारा अन्तरिक्षस्थ विद्युत् समझी जा सकती है। यथा "वायुर्वा, इन्द्रो वा, अन्तरिक्षस्थानः" (निरुक्त ७।२।५), और विष्णु तो प्रसिद्ध सूर्य ही है। "स्पर्धा" आदि के सम्बन्ध में निरुक्तकार का कथन है कि "यथो एतच्चेतनावद्धि स्तुतयो भवन्तीति, अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते" (७।२।७) समाधानरूप हो सकता है। "सहस्रम्" पद द्वारा हजारों रोगकीटाणु समझने चाहिये जिनका कि विनाश सूर्य करता है। यथा "उद्यन् सूर्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः" (अथर्व० २।३२।१)। उदित तथा अस्त होते सूर्य की लाल रश्मियों में रोगकीटाणुओं के हनन करने का निर्देश मन्त्र ने किया है। सूर्यरश्मि-चिकित्सा द्वारा भी हनन सम्भव है। वेदों में अन्तरिक्षस्थ विद्युत् और मेघरूपी वृत्रासुरों के युद्धों का भी वर्णन होता है। वर्षर्तु में भिन्न-भिन्न स्थानों की दृष्टि से मेघ-वृत्रासुरों की संख्या कई हजार होती ही है। सम्भवतः मन्त्र में विद्युत्-चिकित्सा का निर्देश भी हो जिस द्वारा हजारों रोगकीटाणुओं का हनन हो सके।

हो सकती है, और इस प्रक्रिया को योगीजन दर्शा सकते हैं। ईर्ष्या के निरोध के लिये सिन्धु से, तथा पृथिवी से भी उद्धृत औषधों का प्रयोग करना चाहिये। मन्त्र में किसी विशिष्ट औषध का नाम नहीं लिया। केवल औषध प्राप्ति के उपाय तथा साधन दर्शा दिये हैं। प्रत्येक रोगी के निज स्वभाव तथा मानसिक लक्षणों के अनुसार एक ही रोग के लिये औषधि भिन्न-भिन्न हो जाती है। इसलिये मन्त्रों में प्रायः साधनों का निर्देश किया जाता है किसी विशिष्ट औषध का नहीं]।

सूक्त ४७

अथर्वा। मन्त्रोक्त देवता। ईर्ष्यायापन। अनुष्टुभ्।

अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक्।
एतामेतस्येर्ष्यामुद्नाग्निमिव शमय ॥१॥

(अग्नेः इव) अग्नि के सदृश (दहतः) दग्ध करते हुए (अस्य) इस ईर्ष्यालु के (एताम् ईर्ष्याम्) इस ईर्ष्याभाव को, तथा (पृथक्) इस से भिन्न, (दहतः) दग्ध करती हुई (दावस्य) प्रचण्ड वनाग्नि के सदृश प्रचण्ड (एतस्य) इसके ईर्ष्याभाव को (शमय) हे विश्वजन हितकारी ! तू शान्त कर दे, (इव) जैसे कि (उद्ना) जल द्वारा (अग्निम्) अग्नि को शान्त किया जाता है।

सूक्त ४८

(१-३) अथर्वा। मन्त्रोक्त देवता। अनुष्टुभ्; ३ त्रिष्टुभ्।

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः ॥१॥

(सिनीवालि) हे अन्नवाली अथवा प्रेम से बान्धने वाली, तथा सुन्दर बालों वाली, केशों वाली ! (पृथुष्टुके) प्रथित स्तुति वाली ! अथवा विस्तृत केशगुच्छवाली ! (या देवानाम् स्वसा असि) जो तू देवों अर्थात् दिव्य-कोटि के विद्वानों की बहिन है, वह तू (आहुतम, हव्यम्) गर्भाधान संस्कार में आहुतिरूप में दिये वीर्य हव्य की (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक सेवा कर, सुरक्षा कर (देवि) हे दिव्यगुणों वाली ! (नः) हम पारिवारिक जनों को (प्रजाम् दिदिड्ढि) उत्तम अपत्य प्रदान कर।

[याज्ञिक सम्प्रदायानुसार सिनीवाली है पूर्वा-अमावास्या अर्थात् दृष्ट-चन्द्रा अमावास्या अर्थात् दृष्टेन्दुकुला चतुर्दशी। परन्तु निरुक्तानुसार सिनीवाली और तत्सम्बन्धी कुहू हैं "देवपत्न्यौ" (११।३।३१; पद २२)। अतः मन्त्रव्याख्या निरुक्तानुसार की गई है। मन्त्र में सिनीवाली को देवों की स्वसा कहा भी है। अतः सिनीवाली मानुषी है। साथ ही यह अपत्योत्पादन भी करती है। अन्नभण्डार की स्वामिनी भी है "सिनमन्नं भवति सिनाति भूतानि" (निरुक्त)। अथवा सिनम् = षिञ् बन्धने (स्वादिः) प्रेमपाश द्वारा बान्धने वाली। स्तुका = स्तौतेः निष्ठातकारस्य वर्णोपजनः छान्दसः (सायण)। प्रजाम् = प्र (प्रकृष्ट) + जा[1] (अपत्यनाम), "विजामातुः" शब्द की व्याख्या में (निरुक्त ६।२।९)। दिदिड्ढि = दिश् या दिह् का लोट्]।

या सुबाहुः स्वङ्गुरिः सुषूमा बहुसूवरी।
तस्यै विश्पत्न्यै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन ॥२॥

(या) जो (सुबाहुः) शोभन बाहुओं वाली, (स्वङ्गुरिः) उत्तम अङ्गुलियों वाली, (सुषूमा) उत्तम प्रसवा अर्थात् सुगमता से, विना कष्ट के, सन्तानोत्पादन करने वाली, (बहुसूवरी) नाना सन्तानों का उत्पादन करने वाली है, (तस्यै) उस (विश्पत्न्यै) वैश्यपत्नी (सिनीवाल्यै) सिनीवाली के लिये (हविः जुहोतन) हवि की आहुतियां दो [गर्भाधान संस्कार में]।

[बाहु, अङ्गुलि, सन्तानोत्पन्न करने की शक्ति के वर्णन से सिनीवाली मानुषी ही प्रतीत होती है। यह "सिनी" है, अन्नभण्डार की स्वामिनी है, अतः वैश्य वर्ण की है। विश्पति में "विश्" पद वैश्यवाचक है]।

या विश्पत्नीन्द्रमसि प्रतीची सहस्रस्तुकाभियन्ती देवी।
विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवींषि पतिं देवि राधसे चोदयस्व ॥३॥

(सहस्रस्तुका) हजारों बालों के केशगुच्छे वाली, (अभियन्ती) [विवाह निमित्त] यज्ञशाला की ओर आती हुई, (या) जो (विश्पत्नी देवी) तू वैश्यपत्नी देवी (इन्द्रम्) वैश्यपति (प्रतीची) के प्रति आती है, वह तू (विष्णोः पत्नि) हे [व्यापारार्थ] सर्वत्र जाने वाले पति की पत्नी ! (तुभ्यम्) तुझे (हवींषि)

१. जा अपत्यनाम (निघं० २।२)।

अन्न के भण्डार (राता=रातानि) दिये हैं, सौंप दिये हैं, (देवि) हे देवि ! (पतिम्) पति को (राधसे) धनोपार्जन के लिये (चोदयस्व) प्रेरित करती रह ।

[इन्द्र=वणिक्, वैश्य । यथा "इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि" (अथर्व० ३।१५।१), ३।१५ का यह समग्र सूक्त व्यापारपरक है । इस द्वारा सवर्णी विवाह का निर्देश हुआ है, पति भी इन्द्र अर्थात् वणिक् है और पत्नी भी वैश्यवर्ण की है । पति को व्यापारार्थ देश विदेश जाना पड़ता है अतः इसे विष्णु कहा है "विष्लृ व्याप्तौ" व्यापारार्थ इस की सर्वत्र व्याप्ति होती है, विविध स्थानों में प्राप्ति होती है । अतः पति के कृषिजन्य-हवियों के प्रबन्ध का अधिकार पत्नी को सौंपा गया है । अथर्व० ३।१५ में वणिक् को हवाई जहाजों द्वारा व्यापारार्थ देश विदेश जाने का भी निर्देश दिया है, और कहा है कि "यथा क्रीत्वा धनमाहराणि" (३।१५।२), कि "खरीद कर मैं धन लाऊं" । अथर्व० ३।१५ का समग्र सूक्त पठनीय है] ।

सूक्त ४९

(१-२) अथर्वा । मन्त्रोक्त देवता कुहूः । १ जगती; २ त्रिष्टुभ् ।

कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन् यज्ञे सुहवां जोहवीमि ।
सा नो रयिं विश्ववारं नि यच्छाद् ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥१॥

(कुहूम्) पृथिवी में शब्दनीया, कथनीया (सुकृतम्) सुकर्मों वाली (विद्मनापसम्) गृह्यकृत्यों को जानने वाली, (सुहवाम्) सुगमता से बुलाई जा सकने वाली (देवीम्) कुहू-देवी को (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ में (जोहवीमि) मैं पति बार-बार बुलाता हूं । (सा) वह तू (नः) हम [पारिवारिक जनों] को (रयिम्) धन (नियच्छात्) दे, अर्थात् ऐसा पुत्र दे जो कि (विश्ववारम्) सब द्वारा वरणीय हो, चाहने योग्य हो, और (शतदायम्) सैंकड़ों को दान देने वाला (उक्थ्यम्) और प्रशंसनीय हो, (वीरम्) ऐसा वीर पुत्र (ददातु) हमें दे ।

[कु=पृथिवी; कु=earth (आप्टे)+ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च (भ्वादिः)। विद्मनापसम्=विद्मन (गृह्य)+अपः कर्मनाम (निघं० २।१।) कुहू=पृथिवी में कथनीय, सद्गुणों में प्रशंसनीय । यज्ञे=गृहस्थयज्ञे । कुहू पत्नी सुहवा है, हठीली नहीं । शेषगुण मन्त्रार्थ में स्पष्ट हैं । जोहवीमि=ह्वयतेरिदं रूपं जुहोतेर्वा (सायण) । निरुक्त के अनुसार जूहू देवपत्नी है, अतः स्वयं देवी है । याज्ञिकों के अनुसार कुहू "नष्टचन्द्रा अमावास्या" है] ।

कुहूर्देवानाममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविषो जुषेत ।
शृणोतु यज्ञमुशती नो अद्य रायस्पोषं चिकितुषी दधातु ॥२॥

(देवानाम्) देवों में से (अमृतस्य) अमृत व्यक्ति की (पत्नी कुहूः) पत्नी कुहू है, (हव्या) सत्कारपूर्वक आह्वानीया है, (अद्य) इस समय (नः अस्य हविषः) हमारे इस हविष्यान्न का (जुषेत) सेवन करे, भोजन करे । (शृणोतु) हमारी प्रार्थना को सुने, (यज्ञमुशती) गृहस्थयज्ञ की कामना वाली, (चिकितुषी) तथा सम्यक्-ज्ञानवाली विदुषी, (नः) हमें (रायस्पोषम्) निज ज्ञानरूपी सम्पत्ति (दधातु) प्रदान करे ।

[कुहू के दो स्वरूप[1] हैं, एक तो मन्त्र (१) में वर्णित गृहस्थ के कार्यों की विज्ञता, भोज्यान्न की व्यवस्था का करना, तथा सन्तानोत्पादन; और (मन्त्र २) में वर्णित जीवन्मुक्त की पत्नी का होना, अध्यात्मतत्त्वों का सम्यक्-ज्ञानवाली होना, और इस ज्ञान सम्पति का दान करना तथा सन्तानोत्पत्ति से विरत रहना । दोनों प्रकार की "कुहू" पत्नियां पृथक्-पृथक् पतियों के साथ विवाहयोग्या हैं] ।

सूक्त ५०

(१-२) अथर्वा । मन्त्रोक्त देवता । जगती ।

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना ।
सीव्यत्वपः सूच्याऽच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥१॥

(सुहवाम्) शोभन शब्दों द्वारा बुलाई जाने वाली (राकाम्) दानशीला पत्नी को (सुष्टुती) उत्तम स्तुतिपूर्वक (अहं हुवे) मैं पति बुलाता हूं, (सुभगा) उत्तम ऐश्वर्यों वाली वह (नः शृणोतु) हमारी बात सुने, और (त्मना) स्वयम् [हमारे अभिप्राय को] (बोधतु) जान ले । (अच्छिद्यमानया सूच्या) और अटूट सुई द्वारा (अपः) गृहस्थ के कर्म-पट को (सीव्यतु) सीया करे, (शतदायम्, उक्थ्यम्, वीरम् ददातु) और सैकड़ों को दान देने वाला प्रशस्त वीर पुत्र दे । राका=रा दाने (अदादिः)+क्र+टाप् ।

१. "कुहू" स्त्रियां द्विविधा हैं, गृहस्थ की प्रवृत्ति वाली, और अध्यात्मप्रवृत्ति वाली । विवाहित दोनों हैं । परन्तु प्रवृत्तिभेद है । जैसे कि याज्ञवल्क्य की स्त्रियां थीं, एक कात्यायनी और दूसरी गार्गी । दोनों में प्रवृत्तिभेद था (बृहदा० उपनिषद् अ० ४ । ब्रा० ५ । कण्डिका १-१५) ।

[राका = रां (दानम्) करोतीति (कृ+डः) स्त्रीलिङ्ग । राका दानशीला देवपत्नी है । और सुभगा[1] है, ऐश्वर्यों की स्वामिनी है । पति के कथन को ध्यान से सुनती और कथन के अभिप्राय को जान लेती है । गृह्यकर्मों का सिलसिला जारी रखती, उसे छिन्न भिन्न नहीं होने देती, सम्भवतः गृह्यवस्त्रों को भी सीती । तथा दानी और प्रशस्त वीर अपत्य को माता भी बनती] ।

यास्ते॑ राके सुम॒तय॑ः सु॒पेश॑सो॒ याभि॒र्ददा॑सि दा॒शुषे॒ वसू॑नि ।
ताभि॑र्नो अ॒द्य सु॒मना॑ उ॒पाग॑हि सहस्रापो॒षं सु॑भगे॒ ररा॑णा ॥२॥

(राके) हे दानशीले देवपत्नी ! (याः ते) जो तेरी (सुमतयः) उत्तम मतियां हैं, जोकि (सुपेशसः) घर को सुन्दर रूप में रखतीं, और (याभिः) जिन सुमतियों द्वारा प्रेरित हुई तू (दाशुषे) दानी मनुष्यों को (वसूनि) नानाविध धन (ददासि) देती है, (ताभिः) उन सुमतियों के संग, (सुमनाः) प्रसन्नचित्त वाली तू, (अद्य) आज (नः उपागहि) हमारे समीप आ, (सुभगे) हे उत्तमैश्वर्यों से सम्पन्ने ! (सहस्रापोषम्) हजारों को पोषकधन (रराणा) देती हुई ।

[राका सम्पत्तिशालिनी है, और दानशीला है । सुमति द्वारा प्रेरित हुई यह दान और महादान भी करती है । सदा प्रसन्न रहती । इसे सामाजिक हित के लिये निमन्त्रित किया है । इन मन्त्रों में "अनुमति" का वर्णन नहीं हुआ, यह भी देवपत्नी है, और याज्ञिकों के अनुसार इस का सम्बन्ध चन्द्रमा के साथ है] ।

सूक्त ५१

(१-२) अथर्वा । देवपत्न्यः । १ आर्षी जगती; २ चतुष्पदा पंक्तिः ।

दे॒वानां॒ पत्नी॑रुश॒तीर॑वन्तु नः॒ प्राव॑न्तु न॒स्तुज॑ये॒ वाज॑सातये ।
याः पार्थि॑वासो॒ या अ॒पाम॑पि व्र॒ते ता नो॑ देवीः सु॒हवा॒ः शर्म॑ यच्छन्तु ॥

(उशतीः) रक्षा करने की कामनाओं वाली (देवानाम् पत्नीः) देवों की पत्नियां, (नः अवन्तु) हमारी रक्षा करें, (तुजये) बलप्रदान के लिये, और

१. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥

(वाजसातये) अन्नप्रदान के लिये (नः) हमारी (प्रावन्तु) बार-बार रक्षा करें । (याः) जो पत्नियां (पार्थिवासः) पार्थिव जीवन वाली हैं, (याः) तथा जो (अपाम्) आपः सम्बन्धी अर्थात् ५ ज्ञानेन्द्रियां, १ मन, और १ बुद्धि इनके नियन्त्रण के (व्रते अपि) व्रत में भी हैं, (ताः) वे दोनों प्रकार की (सुहवाः) सुगमता से बुलाई जा सकने वाली (देवीः) देवियां (नः) हमें (शर्म) सुख (यच्छन्तु) प्रदान करें ।

[देवियां दो प्रकार की कही हैं । पार्थिव भोगों वाली, और इन्द्रियों, मन और बुद्धि का निरोध करने वाली । जैसे याज्ञवल्क्य की दो पत्नियां थीं, कात्यायनी और गार्गी । पहली सांसारिक भावनाओं वाली थी, और दूसरी अध्यात्मपरायणा थी (बृहदा० उप०) । तुजि = हिंसाबलादाननिकेतनेषु (चुरादिः) । वाजः अन्ननाम (निघं० २।७) । शर्म सुखनाम (निघं० ६।२) ।

आपः = सप्त आपः = "षडिन्द्रियाणि, विद्या सप्तमी आत्मनि" (निरुक्त १२।४।३८), "सप्त ऋषयः" मन्त्र की व्याख्या में (यजु० ३४।५५)] ।

उ॒त ग्ना व्य॑न्तु दे॒वप॑त्नीरिन्द्रा॒ण्य१॒॑ग्नाय्य॒श्विनी॒ राट् ।
आ रोद॑सी वरुणा॒नी शृ॑णोतु॒ व्यन्तु॑ दे॒वीर्य ऋ॒तुर्जनी॑नाम् ॥२॥

(उत) तथा (ग्नाः) विदुषी (देवपत्नीः) देवपत्नियां, देवों अर्थात् विद्वानों की पत्नियां (व्यन्तु) प्रजननसम्पन्ना हों, (इन्द्राणी) सम्राट् की पत्नी, (अग्नायी) अग्रणी प्रधानमन्त्री की पत्नी, (अश्विनी) दो अश्विनौ में प्रत्येक की पत्नी "अश्विनी" । (रोदसी) रुद्र अर्थात् सेनाधिपति की पत्नी, (वरुणानी) माण्डलिक राजा की पत्नी,—इन में से प्रत्येक (राट्) जिसका कि राज्य--व्यवस्था के साथ सम्बन्ध है, वह प्रत्येक (आशृणोतु) हमारी प्रार्थनाओं को ध्यानपूर्वक सुने, और यथाकाल (देवीः) ये देवियां (व्यन्तु) प्रजननसम्पन्ना हों, (यः) जो (ऋतुः) ऋतुकाल (जनीनाम्) इन जननशक्तिसम्पन्न देवियों का है ।

[इन्द्र, वरुण = "इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३०) । रोदसी = रुद्रस्य पत्नी (निरुक्त १२।४।४६) । अग्निः = अग्रणीर्भवति (निरुक्त ७।४।१६) । अश्विनी = पुण्यकृतौ राजानौ, अश्विनौ (निरुक्त) ।

"अश्विनौ" दो हैं, इन में से प्रत्येक की पत्नी अश्विनी है। गत ८ मन्त्रों में आधिभौतिक पत्नियों का वर्णन हुआ है, अतः व्याख्येय मन्त्र की भी व्याख्या प्रकरणानुसार, आधिभौतिक की गई है। व्यन्तु=वी गतिव्याप्तिप्रजन-कान्त्यसनखादनेषु (अदादिः)। मन्त्र में "प्रजन" अभिप्रेत है। अश्विनौ हैं, सम्भवतः राष्ट्र का नागरिक प्रजाविभाग, तथा युद्धविभाग के दो मुखिया]।

सूक्त ५२

(१-६) **अङ्गिराः । अनुष्टुभ्; ३, ७ अनुष्टुभ्; ४ जगती; ६ भुरिक् त्रिष्टुभ् ।**

यथा॑ वृ॒क्षम॒शनि॑र्वि॒श्वाहा॒ हन्त्य॑प्र॒ति ।
ए॒वाहम॒द्य कि॑त॒वान॒क्षैर्ब॑ध्यासमप्र॒ति ॥१॥

(यथा) जैसे (अशनिः) बिजुली, (अप्रति) विना प्रतिरोध के, (विश्वाहा) सब दिनों में अर्थात् सर्वदा (वृक्षम्) वृक्ष को (हन्ति) नष्ट करती है, (एवा) इसी प्रकार (अद्य) आज, (अप्रति) विना प्रतिरोध के, (अहम्) मैं (कितवान्) जुआरियों का, (अक्षैः) अभियोगों द्वारा, (बध्यासम्) बध करूंगा।

["अहम्" द्वारा कोई राज्याधिकारी प्रतीत होता है, जोकि जुआरियों पर कड़ी दृष्टि रखता है, और उन्हें पकड़ कर न्यायालय में उपस्थित कर अभियोगों द्वारा उन्हें बधदण्ड दिलाकर उन का बध करता है। अक्ष=Leagal Procedure a law suit (आप्टे)। न्यायालय को "धर्मसभा" तथा न्यायाध्यक्ष को "सभाचर" कहा है, (यजु० ३०।६), यथा "धर्माय सभाचरम्"। जूआ सम्बन्धी राज्याधिकारी को "अक्षराज" कहा है जो कि जूए की प्रक्रिया को जानता है, यथा "अक्षराजाय कितवम्" (यजु० ३०।१८)। इसी प्रकार दण्डित के वध करने वाले को "उपमन्थिता", तथा वकील को सम्भवतः "प्रश्नविवाक" [प्राड्विवाक] कहा है, यथा "वधायोपमन्थितारम्" तथा "मर्यादायै प्रश्नविवाकम्" (यजु० ३०।१५; १०)। दो पाठ मिलते हैं, वध्यासम् और बध्यासम्। अतः दो अभिप्राय हैं बध करूंगा, या कारागार में बन्द करूंगा]।

विशेष वक्तव्य—सूक्त में ६ मन्त्र हैं। ये मन्त्र एकविषयक नहीं, अपितु परस्परासम्बद्ध भिन्न-भिन्न विषयों के प्रतिपादक हैं। इस तथ्य को अथर्ववेद के अंग्रेजी में अनुवादकर्त्ता "विलियम ह्विट ह्विटनी" ने भी कहा है। यथा "The hymn is plainly made up of hetroganeous parts".

तु॒राणा॒मतु॑राणां वि॒शाम॑वर्जुषीणाम् ।
स॒मैतु॑ वि॒श्वतो॒ भगो॑ अन्तर्ह॒स्तं कृ॒तं मम॑ ॥२॥

(तुराणाम्) त्वरया अर्थात् शीघ्रतापूर्वक अर्थात् सहसा काम करने वाली, (अतुराणाम्) न शीघ्रतापूर्वक अर्थात् सोच विचार कर काम करने वाली, (अवर्जुषीणाम्[1]) परन्तु द्यूतकर्म से वर्जित न होने वाली [सायण] (विशाम्) [उभयविध] प्रजाओं का (भगः) ऐश्वर्य अर्थात् धन (विश्वतः) सब ओर से (समैतु) मुझे सम्यक्तया प्राप्त हो जाय, क्योंकि (कृतम्[1]) यह काम (मम) मेरे (अन्तर्हस्तम्) हाथों में है। अवर्जुषीणाम्=अथवा अवः[2] (अर्थस्वामित्व के लिये)+जुषीणाम् (द्यूत को सेवित करने वाली) विशाम्।

[राज्याधिकारी द्यूत क्रीड़ा के लिये सब ओर बैठे जुआरियों को आदेश देता है कि तुम लोग जो धन द्यूतक्रिया के लिये लाए हो वह सब मुझे सौंप दो। इस प्रकार का अधिकार मेरे हाथों में है। पैप्पलाद शाखा में "अन्तर्हस्त्यं कृतं मनः" पाठ है, "कृतं मनः"="मनः कृतम्" मैंने निश्चय किया है, जो निश्चय करना मेरे हाथ में है? राज्याधिकारी "अक्षराज" ने मानो द्यूत स्थान पर छापा मार कर कितवों को आदेश दिया है]।

ईडे॑ अ॒ग्निं स्वाव॑सुं॒ नमो॑भिरि॒ह प्र॑स॒क्तो वि च॑यत् कृ॒तं नः॑ ।
रथै॑रिव॒ प्र भ॑रे वा॒जय॑द्भिः प्रदक्षि॒णं म॒रुतां॒ स्तोम॑मृध्याम् ॥३॥

(स्वावसुम्) समग्र सम्पत्ति जिस की अपनी है उस (अग्निम्) सर्वाग्रणी की (नमोभिः) नमस्कारों पूर्वक (ईडे) मैं स्तुति करता हूं,

---

१. मन्त्रोक्त "कृतम्" के नानार्थ सम्भव हैं। (यजु० ३०।१८) में कृत,त्रेता तथा द्वापर शब्दों में "कृत" "सत्ययुग" वाचक प्रतीत होता है। ऋग्वेद में "अक्षैर्मा दीव्यः" (१०।३४।१३) द्वारा द्यूतक्रीड़ा की निषेधविधि है। वेदों में परस्पर विरोधी विधियां नहीं हो सकतीं। अतः सूक्त (५२) के मन्त्रार्थ विवेक पूर्वक किये हैं।

२. "अव" धातु के नाना अर्थों में "स्वाम्यर्थ याचन" अर्थ भी है (भ्वादिः)।

(इह) इस जीवन में (प्रसक्तः) संसर्गप्राप्त अर्थात् सम्बद्ध हुआ वह सर्वाग्रणी (नः) हमारी (कृतम्) कर्मशक्ति का (विचयत्) विशेष चयन करे। (वाजयद्भिः) अन्न संग्रह करने वाले (रथैः) रथों द्वारा (इव) जैसे (प्रभरे) मैं अन्न संग्रह करता हूं, वैसे सैन्यरथों द्वारा मैं (प्रदक्षिणम्) प्रवृद्ध, (मरुताम्, स्तोमम्) सैनिकों-की-धनराशि को (ऋध्याम्) और बढ़ाऊं।

[वाजयद्भिः=वाजम् अन्नं कुर्वद्भिः, वाजशब्दात् करोत्यर्थे णिच् (सायण) । प्रदक्षिणम्=प्र+दक्ष वृद्धौ (भ्वादिः)। मरुताम्=म्रियते मारयति वा स मरुत् (उणा० १।६०), तथा "देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्" (यजु० १७।४०) में मरुतः=सैनिकाः । स्तोमम=समूहम्, धनसमूहम् ।

व॒यं जये॑म॒ त्वया॑ यु॒जा वृ॒तम॒स्माक॒मंश॒मुद॑वा॒ भरे॑भरे ।
अ॒स्मभ्य॑मिन्द्र॒ वरी॑यः सु॒गं कृ॑धि॒ प्र शत्रू॑णां मघवन् वृष्ण्या॑ रुज ॥४॥

(इन्द्र) हे सम्राट ! या सेनापति ! (त्वया युजा) तुझ सहायक द्वारा (वयम्, जयेम) हम सैनिक विजयी हों,(भरेभरे) संग्राम-संग्राम में(वृतम्) घेरे हुए (अस्माकम्, अंशम्) हमारे धनांश को (उदव) उद्गमय, समुन्नत कर। (अस्मभ्यम्) हम सैनिकों के लिये (वरीयः) विस्तृत अर्थात् लम्बा मार्ग (सुगम्) सुगम (कृधि) कर दे, (मघवन्) हे सम्पत्तिशालिन् ! (शत्रूणाम्) शत्रुओं के (वृष्ण्या) बलों को (प्ररुज) पूर्णतया भग्न कर दे।

[इन्द्र के दो अर्थ मन्त्र में हैं, सम्राट् और सेनापति। वरीयः=युद्धस्थल यदि दूर हो तो रथों द्वारा उसे सुगम्य कर देना चाहिये, ताकि सैनिक युद्ध से पूर्व थकावट अनुभव न करें। सैनिक, शत्रु की जिस धन राशि को घेर लें उस का कतिपय अंश सैनिकों का भी होना चाहिये ताकि उन की धन-वृद्धि होती जाय। भरेभरे=संग्रामनाम (निघं० २।१७)। "कृतम्" का अर्थ यदि द्यूताक्ष किया जाय तो उस द्वारा क्या सांग्रामिक विजय प्राप्त हो सकता है ?]।

अजै॑षं त्वा॒ संलि॑खित॒मजै॑षमु॒त सं॒रुध॑म् ।
अवि॒ वृको॒ यथा॒ मथ॑दे॒वा मथ्ना॑मि ते कृ॒तम् ॥५॥

(त्वा) तुझे (अजैषम्) मैंने जीता है (संलिखितम्) परस्पर-लिखी शर्त के अनुसार, (उत) तथा (अजैषम्) मैंने जीता है (संरुधम्) अवरुद्ध किये [किले आदि] को। (यथा) जैसे (वृकः) भेड़िया (अविम्) भेड़ को (मथत्) मथता है, (एवा) इस प्रकार, (ते) तेरे (कृतम्) किये [शत्रुता के] कर्म को (मथ्नामि) मैं मथता हूं।

[संरुधम्=सम्यक्तया अवरुद्ध किये को। अवरोधः=siege(आप्टे)]।

उ॒त प्र॒हाम॑ति॒दीवा॒ जय॑ति कृ॒तमि॑व श्व॒घ्नी वि चि॑नोति का॒ले ।
यो दे॒वका॑मो॒ न धनं॑ रु॒णद्धि॒ समित् तं रा॒यः सृ॑जति स्व॒धाभिः॑ ॥६॥

(उत) तथा (अतिदीवा) अतिविजिगीषु अर्थात् प्रबल सैन्यशक्तिसम्पन्न सेनापति, (प्रहाम्) रण को त्याग कर भागे हुए को, (जयति) सुगमता से जीत लेता है, (श्वघ्नी इव) निज भविष्य के हन्ता के सदृश [शत्रु] (कृतम्) किये शत्रुत्व को (काले) समय पर (विचिनोति) विचारता है। (यः) जो (देवकामः) अग्निदेव की कामना वाला [मन्त्र ३] (धनम्) धन को [द्यूतकर्म में] (न रुणद्धि) नहीं रोकता (तम्) उसे [अग्नि, मन्त्र ३] (स्वधाभिः) निज धारण-पोषण शक्तियों द्वारा (रायः संसृजति, इत्) सम्पत्ति के साथ सम्बद्ध करता ही है।

[प्रहाम्=प्र+ओहाक् त्यागे (जुहोत्यादिः), प्रबल सैन्यशक्ति को देख कर जो युद्धभूमि को त्याग कर भाग जाता है, उसे "जयति"। (श्वघ्नी=श्वः घ्नी, "कल" अर्थात् भविष्य का हनन करने वाला, अथवा श्वघ्नी=स्वघ्नी, निज स्व अर्थात् धन का हनन करने वाला, (द्यूतकर्म में)। रायः=राया (ऋग्वेद १०।४२।६)। विचिनोति; विचयः=search; looking out; investigation (आप्टे)।

गोभि॑ष्टरे॒माम॑तिं दु॒रेवां॒ यवे॑न वा॒ क्षुधं॑ पुरुहूत॒ विश्वे॑ ।
व॒यं राज॑सु प्रथ॒मा धना॒न्यरि॑ष्टासो वृ॒जनी॑भिर्जयेम ॥७॥

(गोभिः) गौओं [के दूध] द्वारा (दुरेवाम्) दुष्परिणामी (अमतिम्) मननशक्ति के अभाव का, मति की जड़ता का (तरेम) हम परिहार करें, (वा) तथा (पुरुहूत) हे बहुतों द्वारा पुकारे गये परमेश्वर ! (विश्वे) हम सब (यवेन) जौ द्वारा (क्षुधम्) क्षुधा को (तरेम) निवारित करें। (राजसु) राजाओं में [निहित] (प्रथमा धनानि) प्रथम कोटि के श्रेष्ठ धनों

को, (अरिष्टासः वयम्) हिंसित न हुए हम [प्रजाजन के नेता] (वृजनीभिः) बलशाली प्रजाओं द्वारा (जयेम) जीतें।

[गोभिः="अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति "गोभिः श्रीणीत मत्सरम्" (ऋ० ९।४६।४), इति पयसः" (निरुक्त २।२।५)। इस प्रकार "गोभिः" का अर्थ है गौओं के दूध द्वारा। गौ का दूध, गोघृत, तथा गोदधि मति की जड़ता को दूर करते हैं। "यव" शब्द व्रीहि का भी उपलक्षक है। ये दोनों क्षुधानिवृत्ति के लिये कहे गए हैं। राजा लोग स्वार्थ-वृत्ति से यदि प्रजा द्वारा प्राप्त धनों का संग्रह करते जायं, तो प्रजा के नेता बलशाली प्रजाशक्ति द्वारा राजाओं से धन छीन लें,—यह वेदाज्ञा है। वृजनम् बलनाम (निघं० २।९)। व्याख्येयमन्त्र में न कितव, न अक्ष, न कृत, शब्द ही पठित हैं, न किसी प्रकार मन्त्र का सम्बन्ध द्यूतक्रीड़ा के साथ है। तो भी सायणाचार्य ने "राजसु" का अर्थ "नृपेषु, राजमानेषु दीव्यत्सु वा पुरुषेषु" कर, मन्त्र का सम्बन्ध द्यूतक्रीड़ा के साथ कर दिया है]।

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित् ॥८॥

(कृतम्) कर्मशक्ति (मे) मेरे (दक्षिणे हस्ते) दाहिने हाथ में है, तो (जयः) विजय (मे) मेरे (सव्ये) बाएं हाथ में (आहितः) निहित है। (गोजित्) गौओं को जीतने वाला, (अश्वजित्) अश्वों को जीतने वाला, (धनंजयः) धनविजयी, (हिरण्यजित्) सुवर्णविजयी (भूयासम्) मैं होऊं।

[दक्षिणे कृतम्=लिखने, खाने, भार उठाने आदि में दाहिना-हाथ कामकारी होता है। कर्मशक्ति द्वारा परिश्रम कर गौ, अश्व, धन, हिरण्य आदि की प्राप्ति होती है, विना काम किये नहीं]।

अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव।
सं मा कृतस्य धारया धनुः स्नाव्नेव नह्यत ॥९॥

(अक्षाः) हे अक्षो! (फलवतीम् द्युवम्) फलवाली द्यूतक्रीड़ा (दत्त) मुझे देओ, जोकि (क्षीरिणीम् गाम्) दुग्धवाली गौ के (इव) सदृश हो। (कृतस्य) "कृत" की (धारया) धारा द्वारा (मा) मुझे (स नह्यत) संनद्ध करो, (इव) जैसे कि (धनुः) धनुष् को (स्नाव्ना) तान्त द्वारा संनद्ध किया जाता है।

["अक्षाः" के दो अर्थ हैं, (१) द्यूतक्रीड़ा के पासे; (२) न्यायालय के अभियोग, मुकद्दमे (देखो मन्त्र १)। फलसम्बन्धी व्यग्रता या चिन्ता दोनों पक्षों में समान है, "अक्षाः" का सम्बोधन भी उभयपक्ष में समान है। परन्तु "धारा" द्वारा जो प्रवाह सूचित होता है वह "कर्म"[1] में तो सम्भव है, परन्तु परिमाण में परिमित "अक्ष" अर्थात् पासे में नहीं। "स्नाव" भी लम्बी होती है, अतः उसे भी धारारूप समझा जा सकता है। अतः मन्त्र-पठित "कृतस्य" का अर्थ "कर्मणः" उचित प्रतीत होता है। "द्युवम्" शब्द भी जहाँ "द्यूतक्रीड़ा" का वाचक है, वह साथ ही "विजयेच्छा" का भी वाचक हो सकता है। यथा "दिवु क्रीडाविजिगीषा" आदि (दिवादिः)]।

सूक्त ५३

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु ॥१॥

(बृहस्पतिः) बृहती-सेना-का-पति, (अघायोः) हत्यारे शत्रु से (नः) हमारी (परिपातु) सब ओर से रक्षा करे, (पश्चात्) पश्चिम से, (उत) तथा (उत्तरस्मात्) उत्तर से, (अधरात्) दक्षिण से (पुरस्तात् उत) और पूर्व से (इन्द्रः) सम्राट् (मध्यतः) मध्यस्थान्तः शत्रुओं से (नः) हमारी [रक्षा करे], वह इन्द्र (सखिभ्यः सखा) सखाओं के लिये सखा है, वह हमारे लिये (वरीयः) वरणीय श्रेष्ठ सुख (कृणोतु) प्रदान करे।

[बृहस्पति सेनापति है (यजु० १७।४०)। इन्द्र है सम्राट्, साम्राज्याधिपति "इन्द्रश्च सम्राट्, वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७)। अथवा "इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतः" पातु]।

सप्तम काण्ड का चतुर्थ अनुवाक समाप्त

---

१. एक काम को लगातार करते रहना यही उस काम की धारा है, प्रवाह है।

सूक्त ५४

(१-२) अथर्वा । सांमनस्यम् । १ ककुम्मती अनुष्टुभ्; २ जगती ।

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः ।
संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम् ॥१॥

(स्वेभिः) स्वकीय जनों के साथ (नः) हमारा (संज्ञानम्) ऐकमत्य अर्थात् समझौता हो, (अरणेभिः) जिन के साथ हमारी बोल-चाल नहीं उन के साथ भी (संज्ञानम्) ऐकमत्य अर्थात् समझौता हो। (अश्विना) हे दो अश्विन-राजाओ ! (युवम्) तुम दोनों (इह अस्मासु) यहां हम में [स्व और अरणों में] (संज्ञानम्) ऐकमत्य अर्थात् समझौता (नि यच्छतम्) नियत करो, सुदृढ़ करो ।

[अरणेभिः=अरमणैः अनुकूलम् अवदद्भिः । रणतिः शब्दार्थः। प्रतिकूलैः पुरुषैः । अथवा अरातिभिः (सायण) । अश्विनौ="पुण्यकृतौ राजानौ" (निरुक्त १२।१।१) । स्वकीय और परकीय राज्यों के दो राजा, जो कि प्रत्येक पुण्यकर्मा हैं, धर्मात्मा हैं, उन के द्वारा पारस्परिक ऐकमत्य] ।

सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन ।
मा घोषा उत् स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते ॥२॥

(मनसा) मन द्वारा (संजानामहै) हम संज्ञान अर्थात् ऐकमत्य को प्राप्त हों, (चिकित्वा) सम्यक्-ज्ञान द्वारा (सम्) हम संज्ञान अर्थात् ऐकमत्य को प्राप्त हों, (दैव्येन मनसा) इस दिव्य मन और सम्यक्-ज्ञान से (मा युष्महि) हम वियुक्त न हों। (बहुले विनिर्हते) महाघाती युद्ध में (घोषाः) आवाजें (मा उत् स्थुः) न उठें। (अहनि आगते) युद्ध का दिन आ जाने पर भी (इन्द्रस्य) सम्राट् की या सेनापति की (इषुः) इषु [बाण] (मा पप्तत्) युद्धस्थल में न गिरे ।

[मनसा अर्थात् विचारपूर्वक, और चिकित्सा अर्थात् सम्यक्-ज्ञानपूर्वक संज्ञान होना चाहिये ताकि यह संज्ञान स्थिरता प्राप्त कर सके। चिकित्वा=चिकित्वना] ।

सूक्त ५५

(१-७) ब्रह्मा । आयुष्यम् उत बार्हस्पत्यम्; आश्विनम् । त्रैष्टुभम्; ३ भुरिज्; ४ उष्णिग्गर्भार्षीपंक्तिः; ५-७ अनुष्टुभ् ।

अमुत्रभूयादधि यद् यमस्य बृहस्पते अभिशस्तेरमुञ्चः ।
प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् देवानामग्ने भिषजा शचीभिः ॥१॥

(बृहस्पते) हे बृहस्पति ! तूने (अमुत्र भूयात् अधि) 'अमुत्र' अर्थात् उस परलोक में "भूयात्" अर्थात् सम्भाव्य उत्पत्ति से तथा (यमस्य) मृत्यु सम्बन्धी (अभिशस्तेः) विनाश से (यत्) जो (अमुञ्चः) तूने हमें मुक्त कर दिया है, तो (अग्ने) हे सर्वाग्रणी ! [आप की प्रेरणा द्वारा] (देवानाम् भिषजौ) देवों में के चिकित्सक (अश्विनौ) दो अश्वी (अस्मत्) हम से (मृत्युम्) शीघ्र मृत्यु को भी (शचीभिः) वचनों द्वारा (प्रत्यौहताम्) निवारित करें ।

[बृहस्पति है परमेश्वर, बृहतः ब्रह्माण्डस्य पतिः, अथवा बृहत्याः वेदवाचः पतिः । बृहस्पति ही अग्नि है, सर्वाग्रणी है । "अमुञ्चः" द्वारा प्रतीत होता है कि आयु के प्रार्थी जीवन्मुक्तावस्था में हैं, वे शतवर्षों तक की आयु के लिये प्रार्थी हैं, या और भी दीर्घायु के लिये प्रार्थी हैं ।

अश्विनौ=अश्विनौ को नासत्यौ भी कहते हैं (ऋ० ७।३६।४) । नासत्यौ="नासिकाप्रभवौ बभूवतुरिति वा" (निरुक्त ६।३।१३) । नासिका से पैदा होते हैं प्राण-और-अपान । ये दो दिव्य पदार्थों—सूर्य, चन्द्र अग्नि, विद्युत् आदि पदार्थों में—चिकित्सकरूप हैं, भिषक् हैं । प्राण-अपान क्रिया द्वारा वायु फुफ्फुसों [फेफड़ों] में जाकर रक्त को शुद्ध करती है, और शुद्ध रक्त शरीर में प्रवाहित होकर शरीर के रोगों का उपचार करता और शक्ति प्रदान करता है, इसलिये अश्विनौ मृत्यु से रक्षा करते हैं। इन्हीं प्राण-अपानों का वर्णन सूक्त के शेष मन्त्रों में हुआ है। प्राणापानौ देवानां भिषजौ] ।

सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम् ।
शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः ॥२॥

(प्राणापानौ) हे प्राण-अपान ! (संक्रामतम्) शरीर में तुम संक्रमण

करो, (शरीरम्) शरीर को (मा) न (जहीतम्) त्यागो। [हे आयु के प्रार्थी!] (ते) तेरे प्राण-अपान (इह) इस तेरे शरीर में (सयुजौ) परस्पर मिले हुए (स्ताम्) हों। (वर्धमानः) वृद्धि को प्राप्त होता हुआ तू (शतम् शरदः जीव) सौ शरद्-ऋतुएं जीवित रह। (अग्निः) यज्ञाग्नि तथा तेरी शारीरिक अग्नि (ते) तेरी (गोपाः) रक्षक, (अधिपाः) अधिपति, तथा (वसिष्ठः) तुझे शरीर में निवास कराने वाली हो।

[मन्त्र (१) में कथित बृहस्पति मन्त्र-प्रवक्ता है। यज्ञाग्नि आयुवर्धक है। "आयुर्यज्ञेन कल्पताम्" (यजु० ९।२१; १८।२९; १२।३३)। तथा शारीरिक अग्नि=शारीरिक तापमान। गोपाः=गुपू रक्षणे। वसिष्ठः=वासयितृतमः]।

आयुर्यत ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा ताविताम्।
अग्निष्टदाहार्निर्ऋतेरुपस्थात् तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते ॥३॥

(पराचैः) पराङ्मुख हो कर चली गईं शारीरिक शक्तियों के कारण (यत्) जो (ते आयुः) तेरी आयु (अतिहितम्) तुझे अतिक्रान्त कर चली गई है, (तौ अपानः प्राणः) वे अपान-प्राण (पुनः) फिर (आ इताम्) उसे वापिस ले आएं। (अग्निः) अग्नि (तत्) उस आयुः को (निर्ऋतेः उपस्थात्) कृच्छ्रापत्ति की गोद से (आ अहाः) छीन लाई है, (तत्) उस आयु को (ते आत्मनि) तेरे शरीर में (पुनः) फिर (आवेशयामि) मैं प्रविष्ट करता हूं।

[मन्त्रप्रवक्ता है बृहस्पति। अग्नि (मन्त्र २) के सदृश। अतिहितम्=अति+हि (गतौ, स्वादिः)। आहाः=आ, अहाः (आ+अट्+हृ हरणे), लुङ्। आहाः=आहार्षीत्]।

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात्।
सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ॥४॥

(इमम्) इसे (प्राणः) प्राण (मा हासीत्) न त्यागे, (अपानः) अपान (अवहाय) इसे त्याग कर (माउ) न (परा गात्) परे चला जाय। (सप्तर्षिभ्यः) सप्तर्षियों के लिये (एनम्) इसे (परि ददामि) मैं सौंपता हूं (ते) वे (एनम्) इसे (स्वस्ति) कल्याणपूर्वक (जरसे) जरावस्था तक (वहन्तु) ले चलें।

[हासीत्=ओहाक् त्यागे, लुङ्। अवहाय=अव+हाक् त्यागे+ल्यप्। सप्तर्षयः=५ इन्द्रियां, १ मन, १ विद्या अर्थात् बुद्धि (यजु० ३४।५५, तथा निरुक्त १२।४।३८), सप्त ऋषयः पद (२५)। ये सप्तऋषि सूक्ष्म शरीर के घटक हैं, जो कि जीवात्मा के साथ मृत्यु पर शरीर से उत्क्रान्त कर जाते हैं। जब तक ये शरीर में रहते हैं, तब तक इनकी सत्ता के कारण प्राण-अपान पुनः सशक्त होकर शरीर में प्रविष्ट किये जा सकते हैं]।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्।
अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥५॥

(प्राणापानौ) हे प्राण-अपान! (प्रविशतम्) तुम दोनों शरीर में प्रवेश करो, (इव) जैसे कि (अनड्वाहौ) शकटवहन-समर्थ दो बैल (व्रजम्) बैल-शाला में करते हैं। (अयम्) यह (जरिम्णः) जरा का (शेवधिः) निधि अर्थात् खजाना (अरिष्टः) अहिंसित हुआ (इह) इस शरीर या लोक में (वर्धताम्) बढ़े, समृद्ध हो।

[अनड्वाहौ के दृष्टान्त द्वारा प्राण-अपान की सशक्तता तथा बल-शालिता दर्शाई है]।

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते।
आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः ॥६॥

(ते) तेरे (प्राणम्) प्राण को (आ सुवामसि) हम तेरी ओर प्रेरित करते हैं, (ते) तेरे (यक्ष्मम्) यक्ष्मा आदि रोग को (परा सुवामि) मैं पराङ्मुख प्रेरित करता हूं। (वरेण्यः) वरणीय (अयम्) यह (अग्निः) यज्ञाग्नि (नः) हमारे रोगी की (आयुः) आयु को (विश्वतः) सब प्रकार से (दधत्) पुनः स्थापित कर दे।

[सुवामसि, सुवामि=षू प्रेरणे (तुदादिः)]।

उद्वयं तमसस्परि रोहन्तो नाकमुत्तमम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥७॥

(उत्तमम्) उत्तम (नाकम्) नाक की ओर (उत् रोहन्तः) आरोहण

उत्क्रमण करते हुए (वयम्) हम, (तमसः[1] परि) अन्धकार को त्याग कर (देवत्रा देवम्) देवों में देव (उत्तमम्, ज्योतिः) उत्तम-ज्योति (सूर्यम्) सूर्य को (अगन्म) हम पहुंचे हैं।[1]

[मन्त्र से प्रतीत होता है कि "नाक" सूर्य से परे है। मन्त्र का सम्बन्ध पूर्व के ६ मन्त्रों के साथ विचारणीय है। सम्भवतः सम्बन्धी के पुनरुज्जीवन के कारण, सम्बन्धियों की प्रसन्नता का यह उद्‌गार है। सम्बन्धी के उग्ररोग के कारण उस के सम्बन्धी शोक-तमस् से घिरे हुए थे। नाक और सूर्य की ज्योति, सम्बन्धियों की प्रसन्नता की प्रदर्शिका है]।

सूक्त ५६

ब्रह्मा। ऋक् साम देवते। अनुष्टुभ्।

ऋचं साम॑ यजामहे याभ्यां कर्मा॑णि कुर्वते॑।
ए॒ते सद॑सि राजतो य॒ज्ञं दे॒वेषु॑ यच्छतः ॥१॥

(ऋचम्, साम) [आश्रित्य] ऋग्वेद और सामवेद के आश्रय (यजामहे) हम यज्ञ करते हैं, (याभ्याम्) जिन दो द्वारा (कर्माणि) कर्मों को (कुर्वते) मनुष्य करते हैं। (एते) ये दोनों (सदसि) संसद् में (राजतः) प्रदीप्त होते हैं, चमकते हैं, और (यज्ञम्) यज्ञ को (देवेषु) वायु, जल, ओषधि आदि में (यच्छतः) प्रदान करते हैं, स्थापित करते हैं।

१. विशेष व्याख्या (तमसः परि) तमस् के परे अर्थात् तमस् का परित्याग कर (उत्तमम् नाकम्) उत्तम नाक की ओर (उत् रोहन्तः), ऊपर आरोहण करते हुए (वयम्) हम (देवत्रा देवम्) देवों में देव (उत्तमम्, ज्योतिः) उत्तम ज्योति (सूर्यम्) सूर्य को (अगन्म) पहुंचे हैं। तमस् के दो अभिप्राय हैं प्रकृति और अज्ञानान्धकार, अविद्या। मन्त्र में नाक और सूर्य दोनों को उत्तम ज्योतिः कहा है। "नाक" है दुःख से रहित "मोक्षसुख" अथवा "स्थानविशेष" जिसके नीचे स्वः है, स्वः के नीचे द्यौः, और द्यौः के नीचे सूर्य अर्थात् आदित्य। सूर्य सौर परिवार का द्योतक है जिसमें ग्रह उपग्रह, केतु और अस्मदादि प्राणी-जगत् का समावेश है। यजुर्वेदानुसार (४०।१७) इस सूर्य अर्थात् आदित्य में "ओ३म् खं ब्रह्म" का निवास है, जिसकी प्राप्ति "अगन्म" द्वारा दर्शाई है। और यह "ओ३म्, खं, ब्रह्म" वस्तुतः उत्तम है। जीवन की दृष्टि से नाक अर्थात् मोक्ष भी उत्तम है। "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा, येन स्वः स्तभितं येन नाकः" (यजु० ३२।६) में, द्यौः, स्वः, और नाकः—तीनों स्थानविशेष प्रतीत होते हैं]।

[कर्माणि=यज्ञ, आभ्युदय-तथा-निःश्रेयस सम्बन्धी कर्म। राजतः=ऋक् और सामगान की शोभा संसदों में होती है, संसद् के सदस्य सामगान की प्रशंसा करते हैं, यह सामगान की शोभा है। "साम" स्वरूप है, जिसे ऋचा पर गाया जाता है। यथा "ऋच्यधिरुढं साम गीयते", इस लिये ऋक् और साम दोनों का कथन हुआ है]।

सूक्त ५७

(१-२) भृगु। शचीपति। अनुष्टुभ्।

ऋच॒ं साम॒ यदप्रा॑क्षं ह॒विरोजो॒ यजु॒र्बल॑म्।
ए॒ष मा॒ तस्मा॒न्मा हिंसी॒द् वेदः॑ पृ॒ष्टः शची॑पते ॥१॥

(ऋचम्, साम) ऋग्वेद और सामवेद से (यत्) जो (हविः, ओजः) हवि और ओज के सम्बन्ध में, और (यजुः) यजुर्वेद से (बलम्) बल के सम्बन्ध में, (अप्राक्षम्) मैंने पूछा है, (तस्मात्) उस पूछने के कारण (पृष्टः) पूछा गया (एषः वेदः) यह वेद (मा) मुझे (मा) न (हिंसीत्) हिंसित करे (शचीपते) हे वेदवाक् के स्वामी परमेश्वर! शची वाङ्‌नाम (निघं० १।११)।

[स्वर और वर्ण का ठीक ध्यान कर वेद के स्वाध्याय द्वारा यज्ञिय हवि[1], ओज और बल आदि का यथार्थज्ञान हो सकता है। परन्तु विपरीत स्वाध्याय द्वारा अयथार्थ ज्ञान होने पर स्वाध्यायी की मानो हिंसा होती है। यथा "दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्-वज्रो

१. ऋग्वेद के याज्यामन्त्रों द्वारा हविः की आहुति दी जाती है, सामगान के लिये ओजस् की आवश्यकता है और याज्ञिक क्रियाओं के सम्पादक यजुर्वेद से बल की आवश्यकता है। यह बल है शारीरिकबल, और ओजस् है प्राणबल। याज्ञिक क्रियाएं यथा "वेदि के लिये भूमिपरिष्कार, वेदिनिर्माण के लिये मिट्टी लाना और परिमाणानुसार वेदि की रचना, आज्य के लिये गोदोहन तथा पुरोडाश और हवि के लिये व्रीहि-अवहनन आदि यजुर्वेद की क्रियाएं हैं, इत्यादि अन्य क्रियाओं के लिये शारीरिक बल की आवश्यकता है, अतः इस बल का सम्बन्ध यजुर्वेद के साथ दर्शाया है। अप्राक्षम्=प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् (तुदादिः)। ज्ञीप्सा=जानने की इच्छा। प्रत्येक व्यक्ति को हविः आदि के ज्ञान के लिये ऋग्वेदादि को स्वयं पढ़ने की इच्छा "अप्राक्षम्" द्वारा प्रकट की गई है]।

यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्" । वेद से पूछने का अभिप्राय है, वेद स्वाध्याय द्वारा ज्ञेय का ज्ञान साक्षात् वेद से ही प्राप्त करना । वेद तो काव्य है, अतः काव्य की रीति से वेद में वस्तुवर्णन होता है] ।

ये ते पन्थानोऽव दिवो येभिर्विश्वमैरयः ।
तेभिः सुम्नया धेहि नो वसो ॥२॥

(वसो) हे वसाने वाले ! (ये ते पन्थानः) जो तेरे मार्ग (दिवः) द्युलोक के (अव) अवस्तात् अर्थात् अधोदेश में हैं, (येभिः) जिन द्वारा (विश्वम्) सब सौर परिवार को (ऐरयः) तू प्रेरणा दे रहा है, (तेभिः) उन मार्गों द्वारा (नः) हमें (सुम्नया) सुख में (धेहि) स्थापित कर ।

[अव दिवः=शतपथब्राह्मण के "अग्निचयन" प्रकरण में "विराजं दिवम्" को पञ्चमी चिति कहा है, और इस के नीचे "ऊर्ध्वमन्तरिक्षात् अर्वाचीनं दिवः" द्वारा आदित्य और आदित्य-परिवार को चतुर्थी चिति कहा है, जिसे कि व्याख्येयमन्त्र में "अव दिवः" कहा है । इस समग्र-आदित्य परिवार (solar system) की प्रेरणा वसुनामक परमेश्वर करता है, जिसे कि मन्त्र (१) में 'शचीपति" भी कहा है । शची का अर्थ "कर्म" भी है, यथा "शची कर्मनाम" (निघं० २।१) । मन्त्र में "ऐरयः" द्वारा प्रेरणा का कथन हुआ है, अतः प्रेरक को कर्माधिपति होना चाहिये । पांच चितियों का वर्णन मत्कृत "शतपथस्थ अग्निचयन समीक्षा" में निम्न प्रकार है । यथा प्रथमा चितिः पृ० ६३; द्वितीया चितिः पृ० १०४; तृतीया चितिः पृ० ११५; चतुर्थी चितिः पृ० १२४; पञ्चमी चितिः पृ० १५० । चतुर्थी चिति को "अवदिवः" कहा है । इस चतुर्थी चिति का सम्बन्ध अस्मदादि प्राणियों के साथ है । सुम्नया=सुम्ने, सप्तमी के स्थान में याच् आदेश । सुम्नम् सुखनाम (निघं० ३।६) । सुम्नम्=जिस द्वारा मन सुप्रसन्न होता है, वह सुख है] ।

सूक्त ५८

(१-८) अथर्वा । वृश्चिकः । अनुष्टुभ्; ४ विराट् प्रस्तारपंक्तिः ।

तिरश्चिराजेरसितात् पृदाकोः परि संभृतम् ।
तत् कङ्कपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत् ॥१॥

(तिरश्चिराजेः) टेढी रेखाओं वाले सर्प से, (असितात्) काले सर्प से,

(पृदाकोः परि) अजगर सांप से (संभृतम्) प्राप्त तथा (कङ्कपर्वणः) कङ्कपर्व से प्राप्त (तत् विषम्) उस विष को (इयम्, वीरुत्) इस लता या ओषधि ने (अनीनशत्) नष्ट कर दिया है ।

[तिरश्चिराजि आदि ४ सर्पविशेष हैं । इनके विष की नाशिका "विरुद्" कही है । सायण के अनुसार ओषधि "मधुक या मधुका" है । सम्भवतः इस ओषधि का वर्णन मन्त्र (२) में हुआ है । "कंक" है सारस या बगुला, कङ्कपर्व का स्वरूप ज्ञातव्य है । असित अर्थात् काले सांप के काटे के लिये "परवल" की जड़ के चूर्ण की नस्म देने का विधान "चक्रदत्त" में हुआ है । यथा "कूलिकामूलनस्येन कालदष्टोपि जीवति" (सर्पदष्ट चिकित्सा)] ।

इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः ।
सा विह्रुतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी ॥२॥

(इयम्) यह (वीरुत्) ओषधि (मधुजाता) मधु की जड़ से या मधुरूप पैदा हुई है, (मधुश्चुत्) मधुस्राविणी है, (मधुला) मधुमती है, (मधूः) मधू नामवाली है । (सा) वह (विह्रुतस्य) अंग को कुटिल कर देने वाले विष की (भेषजी) चिकित्सिका है, (अथो) तथा (मशकजम्भनी) मच्छरों को मारने वाली है ।

[चक्रदत्त में "मधुक" [मौरेठी] का प्रयोग, सर्पविषचिकित्सा के लिये, अन्य कई ओषधियों के योग के साथ "महागर" नामक प्रयोग में हुआ है] ।

यतो दष्टं यतो धीतं ततस्ते निर्ह्वयामसि ।
अर्भस्य तृप्रदंशिनो मशकस्यारसं विषम् ॥३॥

(यतः) जिस स्थान में (दष्टम्) मच्छर ने डसा है, (यतः) जिस स्थान से (धीतम्) उसने रक्त पिया है, (ते) तेरे (ततः) उस स्थान से (निः ह्वयामसि) हम उसके विष को निकाल देते हैं । (अर्भस्य) अल्पकाय (तृप्रदंशिनः) तृप्ति पूर्वक डसने वाले (मशकस्य) मच्छर का (विषम्) विष (अरसम्) नीरस हो जाय ।

[मन्त्र में मच्छर के काटने का वर्णन है । वह जहां काटता है वहां से रक्त तृप्तिपूर्वक पीता है । वह अर्भक है, अल्पकाय होता है । अतः मन्त्र में

सर्प के काटने का वर्णन नहीं। तृप्र=तृप् तृप्तौ+क्विप् (भावे)+रः मत्वर्थीयः। धीतम्=धेट् पाने]।

अयं यो वक्रो विपरुर्व्यङ्गो मुखानि वक्रा वृजिना कृणोषि।
तानि त्वं ब्रह्मणस्पत इषीकामिव सं नमः ॥४॥

(यः अयम्) जो यह तू [हे सर्पदष्ट पुरुष] (वक्रः) कुटिलावयव, (विपरुः) शिथिल सन्धि (व्यङ्गः) विकृताङ्ग हुआ (मुखानि) निज मुखावयवों को (वक्रा) विकृत तथा (वृजिना) वर्जनीयरूपी (कृणोषि) कर लेता है, (तानि) उन अङ्गों को (ब्रह्मणस्पते) हे वेद के विज्ञ! (त्वम्) तू (सं नमः) सम्यक् प्रकार से नम्र अर्थात् ऋजु कर दे, (इषीकाम् इव) जैसे टेढ़े सरकण्डे को नम्र अर्थात् ऋजु किया जाता है।

[बृहस्पति=वेदोक्त विषविद्या का ज्ञाता वेदविद्वान्]।

अरसस्य शर्कोटस्य नीचीनस्योपसर्पतः।
विषं ह्यस्यादिष्यथो एनमजीजभम् ॥५॥

(अरसस्य) निर्वीर्य (नीचीनस्य) नीचे पृथिवी पर विचरते हुए, (उपसर्पतः) समीप आते हुए (अस्य शर्कोटस्य[1]) इस विच्छु? के (विषम् हि) विष को (आ अदिषि) मैंने खण्डित कर दिया है (अथो) तथा (एनम्) इसे (अजीजभम्) मार दिया है।

[मन्त्र (६-८) से शर्कोट बिच्छु प्रतीत होता है, यतः यह पूंछ में विष वाला है। अदिषि=लुङ् लकार, दो अवखण्डने (दिवादिः)। अजीजभम् =जभि नाशने (चुरादिः)]।

न ते बाह्वोर्बलमस्ति न शीर्षे नोत मध्यतः।
अथ किं पापयामुया पुच्छे बिभर्ष्यर्भकम् ॥६॥

(न ते बाह्वोः बलम्) न तेरी बाहुओं में बल (अस्ति) है, (न शीर्षे) न सिर में, (उत न) और न (मध्यतः) मध्यावयव में है। (अथ किम्) तो क्यों (अमुया पापया) उस पापमयी भावना या चाल द्वारा (पुच्छे) पूंछ में (अर्भकम्) अत्यल्प विष को (बिभर्षि) तू धारण करता है?

१. "शर्कोटः" शर् शॄ (हिंसायाम्)+कः (करोति)+अट् (अटति), हिंसा करता हुआ जो विचरता है।

अदन्ति त्वा पिपीलिका वि वृश्चन्ति मयूर्यः।
सर्वे भल ब्रवाथ शार्कोटमरसं विषम् ॥७॥

(त्वा) तुझे (पिपीलिकाः) चूंटियां (अदन्ति) खाती हैं, (मयूर्यः) मोरनियां (विवृश्चन्ति) तुझे छिन्न भिन्न कर देती हैं। (सर्वे) सब (ब्रवाथ) तुम कहो कि (भल) भला हुआ कि (शार्कोटम्) शर्कोट का (विषम्) विष (अरसम्) नीरस हुआ।

य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्येन च।
आस्ये न ते विषं किमु ते पुच्छधावसत् ॥८॥

(यः) जो (उभाभ्याम्) दोनों द्वारा (प्रहरसि) तू प्रहार करता है, (पुच्छेन) पूंछ द्वारा (च) और (आस्येन च) मुख द्वारा (ते) तेरे (आस्ये) मुख में (न विषम्) विष नहीं है (किमु) क्या ही (ते) तेरे (पुच्छधौ) पुच्छनिष्ठ काँटे में (असत्) हो।

[बिच्छु मुख और पुच्छ दोनों द्वारा प्रहार करता है। मुख द्वारा निज भोज्य पर, और पुच्छधि द्वारा प्राणी पर। सर्प के मुख में विष होता है, बिच्छु के मुख में विष नहीं होता। इसकी पूंछ में विष होता है, वह भी अत्यल्प न के बराबर, नगण्य। पुच्छधौ=पुच्छे धीयते इति पुच्छधिः; तस्मिन्, पुच्छ में निहित काण्टे में]।

सूक्त ५९

(१-२) **वामदेवः। सरस्वती। जगती।**

यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे यद् याचमानस्य चरतो जनाँ अनु।
यद् आत्मनि तन्वो मे विरिष्टं सरस्वती तदा पृणद् घृतेन ॥१॥

(आशसा) आशापूर्वक (वदतः) [भिक्षा के लिये] बोलते हुए (यत्) जो (मे) मेरा मन (विचुक्षुभे) विक्षुब्ध हुआ है, संचलित हुआ है, (यद् याचमानस्य) तथा याचना करते हुए (जनान् अनु) जन-जन के पीछे-पीछे (चरतः) चलते हुए [मेरा मन (यत्) जो विक्षुब्ध हुआ है]। (मे) मेरी (तन्वः आत्मनि) तनू सम्बन्धी आत्मा में (यद्) जो (विरिष्टम्) चोट

लगी है, (सरस्वती) ज्ञानसम्पन्ना पारमेश्वरी माता (तद्) उस सब को (आ पृणत्) आपूरित कर दे, (घृतेन) जैसे कि चोट को घृत द्वारा आपूरित किया जाता है, भरा जाता है।

[चुक्षुभे= क्षुभ संचलने (भ्वादिः, दिवादिः, क्र्यादिः)। सरस्वती= सरो विज्ञानं विद्यतेऽस्यां सा सरस्वती। प्रतीत होता है कि भिक्षार्थी को किसी ने कुछ दिया नहीं, अतः उस की आत्मा में चोट लगी है, और वह पारमेश्वरी माता से तदर्थ शान्ति चाहता है]।

सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवृतन्नृतानि।
उभे इदस्योभे अस्य राजत उभे यतेते उभे अस्य पुष्यतः ॥२॥

(शिशवे) शरीर में शयन किये हुए, (मरुत्वते) प्राणों के स्वामी, (पित्रे) पितृवत् शरीर के रक्षक जीवात्मा के लिये [जब] (पुत्रासः) पुत्रभूत (सप्त) सात प्राण (क्षरन्ति) प्रवाहित होते हैं, और (ऋतानि) सत्यमार्गों का (अपि) भी (अवीवृतन्) व्यवहार में अवलम्बन कर लेते हैं [तब] (उभे इत्) दोनों ही, [पृथिवी और द्यौः] (अस्य) इस के हो जाते हैं, (अस्य) इसके [लिये] (उभे) दोनों (राजतः) ऐश्वर्यसम्पन्न हो जाते हैं, (उभे) दोनों (यतेते) यत्न करते हैं, (उभे) दोनों (अस्य) इस के [लिये] (पुष्यतः) पोषण करने लगते हैं।

[सप्त=५ ज्ञानेन्द्रियां, १ मन, १ बुद्धि। ये जब सत्यमार्गों का अवलम्बन कर लेते हैं, तब समग्र जगत् इस देही का अपना हो जाता है, और इस के सुख तथा परिपोषण में तत्पर हो जाता है। इस द्वारा भिक्षार्थी को यह सुझाया है कि तेरे "सात" असन्मार्गी हैं, जिस से तुझे भिक्षा में भी चोट सहनी पड़ रही है। तू सत्यमार्गों का अवलम्बन कर तो समग्र जगत् तेरा हो जायेगा, और तेरा पोषण करने लग जायेगा। राजतिः ऐश्वर्यकर्मा (निघं० २।२१)। शिशवे=अनृतमार्गियों के जीवात्मा मानों सोए हुए होते हैं, और ऋतमार्गियों के जागरित अर्थात् प्रबुद्धावस्था में होते हैं]।

सूक्त ६०

(१-२) कौरुपथिः। मन्त्रोक्त देवता। १ जगती; २ त्रिष्टुभ्।

इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रतौ।
युवो रथो अध्वरो देववीतये प्रति स्वसरमुप यातु पीतये ॥१॥

(इन्द्रावरुणा) हे सम्राट्-तथा-माण्डलिक राजन्! (सुतपौ) तुम दोनों अभिषुत सोम के पीने वाले (इमम्, सुतम्, सोमम्) इस अभिषुत सोम को (पिबतम्) पीओ, (मद्यम्) जो सोम कि हर्षप्रद है, (धृतव्रतौ) तुम दोनों जिन्होंने प्रजापालन का व्रत धारण किया है। (युवोः) तुम दोनों का (अध्वरः) अहिंसनीय अर्थात् सुदृढ़ (रथः) रथ, (स्वसरम् प्रति) हमारे गृहों के प्रति (उपयातु) आए, (देववीतये) तुम्हारे दिव्य भोज के लिये, (पीतये) तथा सोमपान के लिये।

[इन्द्रावरुणा=इन्द्रावरुणौ, "इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७)। शिष्ट व्यक्तियों का सत्कार दिव्यभोज, तथा हर्षप्रद सोमरस द्वारा करना चाहिये। मद्यम्=मदी हर्षे]।

इन्द्रावरुणा मधुमत्तमस्य वृष्णः सोमस्य वृषणा वृषेथाम्।
इदं वामन्धः परिषिक्तमासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयेथाम् ॥२॥

(वृषणा=वृषणौ) हे सुखों की वर्षा करने वाले (इन्द्रावरुणा) सम्राट् और माण्डलिक राजन्! तुम दोनों (मधुमत्तमस्य) अति मधुर (वृष्णः) वीर्यवर्धक (सोमस्य) सोमरस का(आ वृषेथाम्) यथेच्छ पान करो। (वाम्) तुम दोनों के लिये (इदम्, अन्धः) यह भोज्य अन्न भी (परिषिक्तम्) परोस दिया है, (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) महाशाला में (आसद्य) बैठकर (मादयेथाम्) अपने आप को तृप्त करो, या प्रसन्न करो।

[बर्हिषि महन्नाम (निघं ३।३)। सम्राट् आदि विशिष्ट व्यक्तियों के सत्कार और भोजनादि की व्यवस्था के लिये स्थान खुला और बड़ा चाहिये, जिसमें सम्राट् आदि अङ्गरक्षक तथा परिवार बैठाए जा सकें। अतः महाशाला चाहिये। अथर्व० ९।३।२१ में महाशाला का वर्णन भी है। अन्धः अन्नम् (निघं० २।७)]।

सूक्त ६१

बादरायणिः। अरिनाशनम्। अनुष्टुभ्।

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात्।
वृक्ष इव विद्युता हत आ मूलादनु शुष्यतु ॥१॥

(अशपतः नः) शाप न देते हुए हमें (यः) जो (शपात्) शाप देवे, (च)

और [प्रत्युत्तर में] (यः) जो (शपतः नः) शाप देते हुए हमें (शपात्) [पुनः] शाप देवे, वह (विद्युता हतः) विद्युत् द्वारा मारे गये (वृक्षःइव) वृक्ष के सदृश (आ मूलात्) मूल से (अनु) अनुक्रमपूर्वक (शुष्य तु) सूख जाय।

[शाप=सनिन्द उपालम्भ (सायण)। शपात्=निन्दावाक्यैः भर्त्सयेत् (सायण)। वृक्ष पर जब विद्युत्पात होता है तो वह जड़ समेत सूख जाता है, इसी प्रकार शाप देने वाला भी सूख जाय, ऐसी भावना प्रकट की गई है। शाप देने वाले का मूल या तो सिर अभिप्रेत है, या पाद। तात्पर्य ऐसे व्यक्तियों के विनाश से है। सामाजिक जीवन प्रेममय हो जाता है। तथा "यः" और "नः" में व्यक्ति और समाज का भी ध्यान रखना होता है]।

सप्तम काण्ड का पञ्चम अनुवाक समाप्त

सूक्त ६२

(१-८) ब्रह्मा। रम्यगृह आदि। अनुष्टुभ्। १ परानुष्टुभ् त्रिष्टुभ्।

ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण।
गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत् ॥१॥

(ऊर्जम् बिभ्रत्) बलप्रद अन्न धारण करता हुआ, (वसुवनिः) धन का विभाग करने वाला, (सुमेधाः) उत्तम मेधा वाला, तथा (अघोरेण) प्रेममयी तथा (मित्रियेण) मैत्री भरी (चक्षुषा) चक्षु के साथ (गृहान्) घर-वासियों के पास (ऐमि[1]) मैं आता हूं। (सुमनाः) सुप्रसन्न मन वाला मैं, (वन्दमानः) वन्दना करता हुआ [आता हूं], (रमध्वम्) तुम सुखी होओ, (मत्) मुझ से (मा बिभीत) भय न करो।

[वर्णन से प्रतीत होता है कि गृहपति, धनार्जन के लिये, बहुकाल तक घर से बाहर रहा है, और उसकी मुखाकृति आदि में पर्याप्त अन्तर आ गया है। इसलिये वह निज परिवार को गृहपति होने का विश्वास दिला रहा है]।

१. ऐमि, आयतः नः=एक वचन तथा बहुवचन एक ही व्यक्ति के निर्देशक हैं, 'अस्मदो द्वयोश्च' (अष्टा० १।२।५९)।

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः।
पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः ॥२॥

(ऊर्जस्वन्तः) अन्न रस वाले (पयस्वन्तः) दूधसम्पन्न, (वामेन) शोभन वस्तुओं से (पूर्णाः) भरपूर हुए (तिष्ठन्तः) स्थित (इमे गृहाः) ये घर (मयो-भुवः) सुखदायी होते हैं, (ते) वे गृह अर्थात् गृहवासी (आयतः नः[1]) आते हुए हमें (जानन्तु) जान लें, पहचान लें।

[गृहाः पद द्व्यर्थक है, शालारूप, तथा गृहवासी[2]। गृहवासियों के सम्बन्ध में "जानन्तु" शब्द प्रयुक्त हुआ है। यथा "तात्स्थ्यात्" गृहाः=गृहवासिनः। सुख है ऐन्द्रियिक, और मयः है मानसिक सन्तोष रूपी। सुखम्=सुहितं खेभ्यः, इन्द्रियेभ्यः]।

येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः।
गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्त्वायतः ॥३॥

(प्रवसन्) प्रवासी पुरुष (येषाम्) जिन का (अध्येति) स्मरण करता है, (येषु) जिन में (बहुः) बहुत (सौमनसः) सौमनस्य है, (गृहान्) उन गृहों अर्थात् गृहवासियों को (उप ह्वयामहे) हम आदरपूर्वक बुलाते हैं, (ते) वे (आयतः नः[1]) हम आते हुओं को (जानन्तु) जान लें, पहिचान लें।

[सौमनसः=मन की प्रसन्नता, प्रीत्यतिशय]।

उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंमुदः।
अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥४॥

(भूरिधनाः) बहुधनी, (स्वादुसंमुदः) स्वादु भोजनों में हर्ष का अनुभव करने वाले (सखायः) सखा (उपहूताः) सत्कारपूर्वक निमन्त्रित किये हैं, (गृहाः) हे गृहवासियों! (मा अस्मत् बिभीतन) हमारे इस काम से भयभीत न होओ, (अक्षुध्याः अतृष्याः स्त) तुम क्षुधा और तृषा से पीड़ित न होओ।

[गृहपति प्रवास से बहुत धनोपार्जन कर (मन्त्र १) घर आया है। उस ने बहुधनी तथा स्वादुभोजन चाहने वाले मित्रों को निमन्त्रित किया

१. द्र०—पृष्ठ ८४, टि० १।
२. यथा "मञ्चाः क्रोशन्ति"=मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति।

है । इस निमन्त्रण में बहुत धन का व्यय होगा, यह जानकर गृहवासी भय-भीत हो गये । गृहपति उन्हें विश्वास दिलाता है कि तुम किसी प्रकार भी क्षुधा तृष्णा से पीड़ित न होओगे, मैं पर्याप्त धनोपार्जन कर लाया हूं] ।

उप॑हूता इ॒ह गाव॒ उप॑हूता अजा॒वय॑: ।
अथो॒ अन्न॑स्य की॒लाल॒ उप॑हूतो गृ॒हेषु॑ नः ।५।।

(इह) इन [घरों में] (गावः उपहूताः) गौएं लाई गई हैं, (अजावयः) बकरियां और भेड़ें (उपहूताः) लाई गई हैं, (अथो) तथा (अन्नस्य कीलालः) अन्न और अन्नों के विविध रस (नः गृहेषु) हमारे गृहों में (उपहूताः) लाए गए हैं ।

[गृहपति गृहवासियों को कहता है कि तुम्हें किसी भी प्रकार से भय-भीत न होना चाहिये । देखो, दूध के लिये गौएं, कृषि के लिये बैल, दूध के लिये बकरियां, ऊन के लिये भेड़ें, विविध अन्न, और उनके पेयरस—सभी कुछ हमारे घरों में विद्यमान है] ।

सू॒नृता॑वन्तः सु॒भगा॒ इरा॑वन्तो हसामु॒दाः ।
अ॒तृ॒ष्या अ॑क्षु॒ध्या स्त॒ गृहा॒ माऽस्मद् बिभीतन ।।६।।

(गृहाः) हे गृहवासियों ! (सूनृतावन्तः) परस्पर प्रिय तथा सत्य वाणी बोलने वाले, (सुभगाः) सौभाग्य वाले, (इरावन्तः) प्रभूत अन्न वाले, (हसामुदाः) हंसते तथा मोद-प्रमोद युक्त (अतृष्याः, अक्षुध्याः) तृषा और क्षुधा से अपीड़ित (स्त) तुम होओ, (मा अस्मत्, बिभीतन) पुनः हमारे प्रवास में जाने पर भयभीत न होओ ।

[मन्त्र (७) के अनुसार गृहपति धनोपार्जन के लिये पुनः प्रवास अर्थात् गृह से बाहिर जाना चाहता है। इस प्रवास से होने वाले, गृहवासियों के भय का परिहार गृहपति करता है। इरा अन्ननाम (निघं० २।७)] ।

इ॒हैव स्त॒ मानु॑ गात॒ विश्वा॑ रू॒पाणि॑ पुष्यत ।
ऐष्या॑मि भ॒द्रेणा॑ स॒ह भूया॑सो भवता॒ मया॑ ।।७।।

(इह एव) यहां ही (स्त) तुम रहो, (मा अनु गात) मेरा अनुगमन न करो, अर्थात् मेरे साथ प्रवास में गमन न करो, (विश्वा रूपाणि) सब रूपाकृतियों वालों का (पुष्यत) परिपोषण करते रहो। (ऐष्यामि) मैं लौट

आऊंगा (भद्रेण सह) कल्याणकारी तथा सुखप्रद धन के साथ, तब (मया) मुझ समेत (भूयांसः भवत) अधिक समृद्ध हो जाओगे ।

[विश्वा रूपाणि=पुत्र, पुत्रियां, गौएं, अजाः, अवयः—इन सब का परिपोषण मेरे पीछे करते रहना । भद्रेण भदि कल्याणे सुखे च (भ्वादिः)] ।

सूक्त ६३

(१-२) अथर्वा । अग्निः । अनुष्टुभ् ।

यद॑ग्ने॒ तप॑सा॒ तप॑ उपत॒प्याम॑हे॒ तप॑: ।
प्रि॒याः श्रु॒तस्य॑ भूया॒स्मायु॑ष्मन्तः सु॒मे॒धस॑: ।।१।।

(अग्ने) हे ज्ञानाग्निसम्पन्न आचार्य (तपसा) तप की विधि के अनुसार (यत् तपः) जो तप (उपतप्यामहे) तेरे समीप रहकर हम करते हैं, उस द्वारा (श्रुतस्य) आप से श्रवण किये वेद के (प्रियाः) प्यारे (भूयास्म) हम हों, ताकि (आयुष्मन्तः) दीर्घ और स्वस्थ आयु वाले तथा (सुमेधसः) उत्तम मेधा वाले हम हों ।

[सूक्त ६३ का विनियोग उपनयन कर्म में हुआ है । योगदर्शन (२।३२) में "तपः और स्वाध्याय" को योगाङ्गभूत नियमों का अङ्ग कहा है । तथा तपः का फल कहा है "कायसिद्धिः" अणिमा आदि तथा "इन्द्रियसिद्धिः" दूरात् श्रवणं, दर्शनादि । तप द्वारा रजस् और तमस् का क्षय हो जाने पर ये सिद्धियां प्राप्त होती हैं (योग २।४३) तप की विधि यथा "तच्च चित्तप्रसादनम् अबाधमानम् अनेन आसेवितव्यम् इति मन्यन्ते (क्रियायोग २।१)। अर्थात् "तप उतना ही करना चाहिये जिस से शारीरिक धातुओं में वैषम्य पैदा न हो" (वाचस्पति) । तपः, द्वन्द्वसहनम् द्वन्द्वश्च शीतोष्णे, जिघत्सापिपासे आदि (योग २।३२)] ।

अग्ने॒ तप॑स्तप्यामह॒ उप॑ तप्यामहे॒ तप॑: ।
श्रु॒तानि॑ शृ॒ण्वन्तो॑ व॒यमायु॑ष्मन्तः सु॒मे॒धस॑: ।।२।।

(अग्ने) हे ज्ञानाग्निसम्पन्न आचार्य ! (वयम् तपः तप्यामहे) हम तप करते हैं, (उप) तेरे समीप रह कर (तपः तप्यामहे) तप करते हैं, ताकि (श्रुतानि, शृण्वन्तः) वेदों को सुनते हुए, (आयुष्मन्तः) दीर्घ और स्वस्थ आयु वाले, और (सुमेधसः) उत्तम मेधा वाले हम हों ।

[मेधा=धारणाशक्तिः (सायण); मेधा आशुग्रहणे (कण्ड्वादिः)] ।

सूक्त ६४

कश्यप-मारीचः। अग्निः। जगती।

अयमग्निः सत्पतिर्वृद्धवृष्णो रथीव पत्तीनजयत् पुरोहितः।
नाभा पृथिव्यां निहितो दविद्युतदधस्पदं कृणुतां ये पृतन्यवः ॥१॥

(अयम्) यह (अग्निः) अग्रणी-प्रधानमन्त्री (सत्पतिः) प्रजा का सच्चा रक्षक है, (वृद्धवृष्णः) प्रवृद्ध बलशाली, तथा (पुरोहितः) अगुआ हो कर हितकारी है, (रथी इव) रथयोद्धा के सदृश (पत्तीन्) पदाति-सैनिकों पर (अजयत्) विजय पाता है। (पृथिव्याम्) राष्ट्रभूमि में (नाभा=नाभौ) केन्द्रस्थान में (निहितः) स्थापित हुआ (दविद्युतत्) तेज में चमकता है। (ये) जो शत्रु (पृतन्यवः) सेना द्वारा हमारे साथ संग्राम चाहते हैं उन्हें (अधस्पदम्) हमारे पादों तले (कृणुताम्) करे।

सूक्त ६५

कश्यप मारीचः। अग्निः। जगती।

पृतनाजितं सहमानमग्निमुक्थैर्हवामहे परमात् सधस्थात्।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा क्षामद् देवोऽति दुरितान्यग्निः ॥१॥

(पृतनाजितम्) सेनाविजयी, (सहमानम्) पराभवकारी अथवा सहनशील (अग्निम्) अग्रणी को (परमात् सधस्थात्) दूर देश से भी (उक्थैः) स्तुतिवचनों द्वारा (हवामहे) हम बुला लाते हैं। (सः) वह (नः) हमें (विश्वा दुर्गाणि) सब दुर्गम कष्टों से (अति पर्षत्) पार करे, (अग्निः देवः) वह अग्रणी-देव (दुरितानि) हमारे कष्टों को (अति क्षामत्) पूर्णतया क्षीण कर दे।

[राष्ट्र के विपत्तिग्रस्त होने पर दूरदेशस्थ योग्य व्यक्ति को भी प्रार्थित कर ले आना चाहिये। क्षामत्=क्षै क्षये (भ्वादिः)+क्तः। "क्षायो मः" (अष्टा० ८।२।५३) द्वारा क्त के "त" को "म"। "तत् करोति" अर्थ में णिच्, लेट्, तिप् के "इ" का लोप (इतश्च लोपः० अष्टा० ३।४।९७) अट् "णि" का लोप (सायण)]।

सूक्त ६६

(१-२) यमः। मन्त्रोक्त देवता तथा निर्ऋतिः। १ भुरिगनुष्टुभ्; २ न्यङ्कुसारिणी बृहती।

इदं यत् कृष्णः शकुनिरभिनिष्पतन्नपीपतत्।
आपो मा तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः ॥१॥

(शकुनिः) शक्तिशाली (कृष्णः) काले तमोगुण ने (निष्पतन्) [मन के] गहरे स्तर से निकल कर, मानो उड़ कर (अभि) मेरी ओर आते हुए, (इदं यत्) यह जो (अपीपतत्) मुझे पतित कर दिया है, (तस्मात्, सर्वस्मात्) उस सब (दुरितात्) दुष्परिणामी (अंहसः) पाप से, (आपः) सर्वव्यापक परमेश्वर (मा) मुझे (पान्तु) सुरक्षित करे।

[अंहसः="अंहः" का अर्थ पाप होता है। काला पक्षी कौआ, व्यक्ति को घायल तो कर सकता है, पाप में प्रवृत्त नहीं कर सकता। अतः "कृष्णः शकुनिः" का अभिप्राय "शक्तिशाली तमोगुण" प्रतीत होता है। तमोगुण को 'कृष्णः' कहा भी है। यथा "अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्" (श्वेत० उप० ४।५)। अजा अर्थात् अजन्मा प्रकृति "सत्वरजस्तमसरूप" होने के कारण शुक्ल, लाल और कृष्णा है। तमोगुण है भी "शकुनि" अर्थात् शक्तिशाली। जड़ जगत् सब तमोगुणप्रधान है। प्राणिजगत् भी बहुधा तमोगुणप्रधान है। अतः तमोगुण शक्तिशाली है। मन सत्वगुणी भी होता है, रजोगुणी भी, और तमोगुणी भी। सत्त्वगुणी मन में भी कभी-कभी दबा हुआ तमोगुण प्रकट होकर सत्त्वगुणी व्यक्ति को पतनोन्मुख कर देता है। यह है तमोगुण का उड़कर आ प्रकट होना।

आपः=आप्लृ व्याप्तौ=व्यापक परमेश्वर। यथा "तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः (यजु० ३२।१)]।

इदं यत् कृष्णः शकुनिरवामृक्षन्निर्ऋते ते मुखेन।
अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्र मुञ्चतु ॥२॥

(निर्ऋते) हे कृच्छ्रापत्ति! (ते मुखेन) तेरे मुख द्वारा (इदं यत्) यह जो (कृष्णः शकुनिः) शक्तिशाली काला तमोगुण (अवामृक्षत्) मेरे निचले

अङ्गों में आ लगा है, (तस्मात् एनसः) उस पाप से (गार्हपत्यः अग्निः) ब्रह्माण्ड गृह का पति अग्नि [भस्मीभूत कर] (मा) मुझे (प्रमुञ्चतु) प्रमुक्त कर दे, छुड़ा दे।

[मुखेन=प्रेरणा द्वारा। मुख द्वारा प्रेरणा दी जाती है, मानो कृच्छ्रापत्ति ने हे तमोगुण! तुझे प्रेरित किया है। अव=नीचे के अङ्ग=मूत्राङ्ग तथा जङ्घा-पाद आदि। पापकर्म के लिये पापस्थान पर चलकर जाना होता है। अग्नि=परमेश्वर (यजु० ३२।१)। आपः द्वारा पाप=मल धोया जाता है, अग्नि द्वारा वह भस्मीभूत किया जाता है। अवामृक्षत्=अव+अट् (लुङ् लकार)+मृश आमर्शने (छूना)+क्सः (अष्टा० ३।१।४५)]।

सूक्त ६७

(१-३) शुक्रः। अपामार्गवीरुद्। अनुष्टुभ्।

प्रतीचीनफलो हि त्वमपामार्ग रुरोहिथ।
सर्वान् मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया इतः ॥१॥

(अपामार्ग) हे दोषशोधक औषध! (हि) यतः (त्वम्) तू (प्रतीचीनफलः) प्रतीचीनफल हुई (रुरोहिथ) प्रादुर्भूत हुई है, (मत् अधि) मुझ से (सर्वान् शपथान्) सब शपथों को (इतः) इस फल द्वारा (वरीयः यावय) दूर तक पृथक् कर दे।

[प्रतीचीनफलः=प्रत्यङ्मुखफल[1] वाली औषध या वीरुद् (सायण)। शपथान्=शपथ अर्थात् सौगन्ध, कसम। सौगन्ध सदा झूठी होती है, यह मनोविकार है। सम्भवतः अपामार्ग इस मनोविकार का शोधन कर देता हो। अपामार्ग=अप+मृजूष् शुद्धौ (अदादिः) दोष को अपगत करके मार्जन करने वाली, शुद्ध करने वाली। अपामार्ग=Achyranther asper। यह औषध होम्योपेथिक Aconite के समान गुणों वाली है जिसका प्रयोग नाना मानसिक विकारों में होता है]।

यद् दुष्कृतं यच्छमलं यद् वा चेरिम पापया।
त्वया तद् विश्वतोमुखापामार्गाप मृज्महे ॥२॥

(यत्) जो (दुष्कृतम्) दुष्टकर्म, (यत्) जो (शमलम्) शान्तिनाशक

१. "प्रत्यङ्मुखफल" का अभिप्राय अस्पष्ट है।

मलिन पाप, (यत् वा) या जो (पापया) पापिन स्त्री के संग (चेरिम) हम विचरे हैं, (विश्वतोमुख[1]) हे सब ओर मुखवाली (अपामार्ग) अपामार्ग औषध! (त्वया) तुझ द्वारा (तत्) उस सब दोष को (अपमृज्महे) हम दूर कर शुद्ध कर देते हैं। शमलम्=शम् (शान्ति)+अलम् (वारणम्, भ्वादिः)।

श्यावदता कुनखिना बण्डेन यत्सहासिम।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥३॥

(श्यावदता) श्याव दाँत वाले, (कुनखिना) विकृत नखों वाले, (बण्डेन) गलिताङ्ग वाले पुरुष के (सह) साथ (यत्) जो (आसिम या आशिम) हम उठे-बैठे या खाए-पिए हैं, (अपामार्ग) हे शोधन करने वाली अपामार्ग औषध (त्वया) तुझ द्वारा (तत् सर्वम्) उस सब [दोष] को (वयम्) हम (अपमृज्महे) पृथक् कर शुद्ध कर देते हैं।

[श्यावदता=श्याव और कृष्ण वर्ण में भेद है। श्याव=कुछ कालिमा वाला भूरा (Darkbrown), मटियाला (Dusty); भूरा (Brown); [आप्टे]। बण्डेन=बडि विभाजने (भ्वादिः, चुरादिः)। मन्त्र में विभाजन का अभिप्राय है विभक्त हो जाना, टूटकर अलग हो जाना, अङ्ग का कट जाना। मन्त्रकथित रोगी कुष्ठ रोगी है। कुष्ठ leprosy। कुष्ठ १८ प्रकार का होता है (आप्टे)। विगलत्कुष्ठ में अंगुलियों तथा पैरों के अङ्ग गलकर टूट जाते हैं। कुष्ठ रोग संक्रामक (Contageous) भी होता है। अतः कुष्ठरोगी के साथ बैठना या खाना हानिकारक है। आशिम (सायण)। दाँतों में वर्णविकृति तथा नखों की विकृति—यह भी एक प्रकार का कुष्ठ है। अपामार्ग औषध कुष्ठनिवारक है यह मन्त्र से प्रतीत होता है]।

सूक्त ६८

ब्रह्मा। ब्राह्मणम्। त्रिष्टुभ्।

यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु यदि वोलपेषु।
यदश्रवन् पशव उद्यमानं तद् ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु ॥१॥

(यदि अन्तरिक्षे) यदि अन्तरिक्ष में, (यदि वाते) यदि चलती वायु में,

१. सर्वतः प्रसृतशाखायुक्त! (सायण)।

(यदि वृक्षेषु) यदि वृक्षों के समीप, (यदि वा) अथवा (उलपेषु) झाड़ियों के समीप (आस, ब्राह्मणम्) ब्रह्म-पाठ हुआ था, (यद्) जिस का (उद्यमानम्) उच्चारण (पशवः[1] अश्रवन्) पशुओं ने सुना है, (तत्) तो वह ब्रह्म-पाठ (अस्मान्) हमें (पुनः) फिर (उपैतु) प्राप्त हो।

[मन्त्र में "ब्राह्मणम्" द्वारा "ब्रह्मयज्ञ" का वर्णन हुआ है। इसे सन्ध्योपासन तथा वेदपाठ भी कहते हैं। सन्ध्योपासन एकान्त देश में होना चाहिये। मनुस्मृति (२।१०४) में कहा है कि "सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः"। "अरण्यम्" के अभिप्राय को मन्त्र में "वृक्षेषु, उलपेषु" द्वारा प्रकट किया है। देखो "सत्यार्थप्रकाश" तृतीय समुल्लास। ब्राह्मणम का अर्थ है "ब्रह्मणः इदम्" अर्थात् ब्रह्मसम्बन्धी पाठ। ब्रह्म का अर्थ है वेद। ब्राह्मण शब्द द्वारा ब्राह्मणग्रन्थ अभिप्रेत नहीं। ब्राह्मणग्रन्थ तो ब्रह्म अर्थात् वेद या वेदमन्त्रों के व्याख्यानरूप हैं। उनका निर्देश मूलवेद में सम्भव नहीं।

मन्त्र का अभिप्राय यह है कि ब्रह्मयज्ञ नियतसमय में करना चाहिये इस में कालातिपात नहीं होना चाहिये। उपासक कहीं भी हो उसे नियत काल में चाहे खुले अन्तरिक्ष में, चाहे बहती वायु में,चाहे वृक्षों और झाड़ियों के समीप, चाहे गोशाला के समीप,—जब भी ब्रह्मयज्ञ का काल उपस्थित हो जाय सन्ध्योपासन, और वेदपाठ के लिये बैठ जाना चाहिये। और यदि कारणवश ब्रह्मयज्ञ में विघ्न उपस्थित हो गया हो, और ब्रह्मयज्ञ ठीक प्रकार न हुआ हो तो "पुनः" विघ्न-बाधा से रहित स्थान में ब्रह्मयज्ञ कर लेना चाहिये, यह "पुनरस्मान् उपैतु" का अभिप्राय प्रतीत होता है]।

सूक्त ६९

ब्रह्मा। आत्मा। पुरः परोष्णिक् बृहती।

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव ॥१॥

(पुनः) फिर (मा) मुझे (इन्द्रियम्) ज्ञानेन्द्रिय समूह (ऐतु) प्राप्त हो, (पुनः आत्मा) फिर आत्मा, (द्रविणम्) बल, (च) और (ब्राह्मणम्)

१. पशुओं के समीप अर्थात् गोशाला आदि के समीप ब्रह्मयज्ञ करने से पशुओं की आवाजें विघ्नकारी हो जाती हैं। "पशवः अश्रवन्" द्वारा पशुओं की समीपता अभिप्रेत है।

वेदमन्त्र [प्राप्त हों]। (पुनः) फिर (धिष्ण्यः अग्नयः) अग्निरूप धिषणा अर्थात् वाक् आदि कर्मेन्द्रिय समूह (यथास्थाम) यथास्थान अर्थात् अपने-अपने स्थान में (कल्पयन्ताम्) सामर्थ्यवान् हो जायं,(इह एव) इस ही जीवन में।

[धिषणा वाङ्नाम (निघं० १।११)। द्रविणम् बलनाम (निघं० २।९)। वाक वक्ता के अभिप्राय को प्रकाशित करती है अतः अग्नि है। हाथ भी इशारा कर अभिप्राय को प्रकाशित करता है। हाथ कर्मेन्द्रिय है। ब्राह्मणम्=ब्रह्म एव ब्राह्मणम्, स्वार्थे अण्। ब्रह्म=मन्त्र। मन्त्र में मूर्च्छासन्न व्यक्ति की अभिलाषा प्रकट की है]।

सूक्त ७०

(१-३) शन्तातिः। सरस्वती। १ अनुष्टुभ्; २ त्रिष्टुभ्; ३ गायत्री।

सरस्वति व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥१॥

(सरस्वति देवि) हे ज्ञान-विज्ञान वाली देवि! (ते) तेरे (दिव्येषु धामसु) दिव्य स्थानों अर्थात् विद्यालयों में, तथा (व्रतेषु) सारस्वत-व्रतों में (आहुतम्, हव्यम्) आहुतियों में दी हवि को (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक तू स्वीकार कर, (देवि) और हे देवी! (नः) हमें (प्रजाम्) विद्यार्थीरूपी सन्तानें (ररास्व) प्रदान कर।

[सरस्वती=सरो विज्ञानं तद्वती, ज्ञान-विज्ञानवाली वेदवाक्। (धामसु=धामानि त्रयाणि भवन्ति, स्थानानि नामानि जन्मानि (निरुक्त ९।२८)। यहाँ स्थानार्थ का ग्रहण है, विद्यालयों और महाविद्यालयों के स्थान। विद्यालयों और महाविद्यालयों के सत्रारम्भ में सारस्वत-यज्ञ होना चाहिये, जिस में विद्यार्थियों को विद्याप्राप्ति तथा गुरुसेवा आदि सम्बन्धी व्रत ग्रहण करने चाहियें। गुरुवर्ग इन्हें व्रत ग्रहण कराएं। गुरुवर्ग भी प्रविष्ट विद्यार्थियों के साथ निज प्रजा अर्थात् सन्तानों का सा व्यवहार करें। विद्यालयों और महाविद्यालयों को दिव्यधाम जान कर इन की पवित्रता को बनाए रखना चाहियें।

यह सरस्वती नदीरूपा नहीं, अपितु वाग्-रूपा है। सरो विज्ञानं विद्यतेऽस्यां सा सरस्वती वाक् (उणा० ४।१९०, दयानन्द)। परन्तु आहुतियां वागधिपति-परमेश्वरोद्देश्यक हैं। वह वेदवाक् का अधिपति है]।

इदं ते हव्यं घृतवत् सरस्वतीदं पितॄणां हविरास्यं१ यत् ।
इमानि त उदिता शंतमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम ॥२॥

(सरस्वति) हे ज्ञान-विज्ञानवाली वेदवाक् (इदम्) यह (घृतवत् हव्यम्) घृतमिश्रित (ते) तेरे लिये है, और (इदम्) यह (हविः, [घृतवत्]) घृतपरिपक्व) हवि अर्थात् अन्न (पितॄणाम्) पितरों का है, (यत्) जो कि (आस्यम्) उन के मुख सम्बन्धी खाने के लिये है। हे सरस्वती ! (ते) तेरे लिये (इमानि) ये (शंतमानि) शान्ति-या-सुखप्रदायी वेदमन्त्ररूपी वचन (उदिता=उदितानि) कहे हैं। (तेभिः) उन वचनों द्वारा (वयम्) हम सारस्वत-यज्ञ करने वाले (मधुमन्तः) मधु वाले (स्याम) हों।

[सारस्वत-यज्ञ में हवि घृतमिश्रित होनी चाहिये, और वेदमन्त्रों के उच्चारण पूर्वक हवि की आहुतियां देनी चाहियें। यज्ञ की समाप्ति पर पितरों अर्थात् सारस्वत्-गुरुओं का सत्कार घृतपरिपक्व मिष्टान्न द्वारा होना चाहिये। हविः=हु दानादनयोः (जुहोत्यादिः) यज्ञाग्नि के लिये हवि का दान अर्थात् त्याग, और गुरुओं के लिये उन के अदन अर्थात् भक्षण के योग्य अन्न का प्रदान। वेदमन्त्रों के उच्चारण द्वारा मानो मुख मधुर हो जाता है]।

सूक्त ७१

शिवा नः शंतमा भव सुमृडीका सरस्वति ।
मा ते युयोम संदृशः ॥१॥

(सरस्वति) हे ज्ञान-विज्ञानवाली पारमेश्वरी मातः ! (नः) हमारे लिये (शिवा) तू सुखरूपा, (शंतमा) अत्यन्त सुखरूपा; तथा (सुमृडीका) शोभनसुखप्रदा (भव) हो। हम (ते) तेरी (संदृशः) सम्यक् कृपा दृष्टि से अथवा तेरे सम्यक्-दर्शन से (मा) न (युयोम) पृथक् हों, वञ्चित हों। अथवा कविता में वेदवाणी का वर्णन हुआ है।

[सायणाचार्य के अनुसार यह मन्त्र पृथक् सूक्तरूप है]।

सूक्त ७२

शंतातिः। शम्। पथ्यापंक्तिः।

शं नो वातो वातु शं नस्तपतु सूर्यः ।
अहानि शं भवन्तु नः शं रात्री प्रति धीयतां शमुषा नो व्युच्छतु१॥

(वातः) वायु (नः) हमारे लिये (शम्) सुखकर (वातु) बहे, (सूर्यः) सूर्य (नः) हमारे लिये (शम्) सुखकर (तपतु) तपे (अहानि) दिन (नः) हमारे लिये (शम्) सुखकर (भवन्तु) हों, (रात्री) रात्री (शम्) सुख (प्रति धीयताम्) प्रदान करे, (नः) हमारे लिये (उषाः) उषा (शम्) सुखकर (व्युच्छतु) चमके।

सूक्त ७३

(१-५) अथर्वा। मन्त्रोक्त देवता; तथा श्येनः। त्रिष्टुभ्; अतिजगतीगर्भा जगती; ३-५ अनुष्टुभ्; ३ पुरः ककुम्मती।

यत् किं चासौ मनसा यच्च वाचा यज्ञैर्जुहोति हविषा यजुषा ।
तन्मृत्युना निर्ऋतिः संविदाना पुरा सत्यादाहुतिं हन्त्वस्य ॥१॥

(असौ) वह [परराष्ट्ररूपी शत्रु] (यत् किं च) जो कुछ (मनसा) मन द्वारा, (यत् च) और जो (वाचा) वाणी द्वारा, (यज्ञैः) और हमारी सेना के साथ संग्राम करने वाले, भिड़ने वाले सेनाओं के प्रेरकों द्वारा, (हविषा) सैनिकरूपी हवि द्वारा, (यजुषा) तथा यजुर्वेदोक्त अन्य साधनों या विधियों द्वारा (जुहोति) युद्ध-यज्ञ में आहुतियां देता है, (अस्य) इस परराष्ट्ररूपी शत्रु के (तत्) उस कर्म को (आहुतिम्) अर्थात् युद्ध-यज्ञ में दी जाने वाली आहुति को (सत्यात् पुरा) इन के सद्रूप होने से पहिले ही (मृत्युना) मृत्यु के साथ (संविदाना) ऐकमत्य को प्राप्त (निर्ऋतिः) कृच्छ्रापत्ति (हन्तु) इन्हें नष्ट कर दे।

[मनसा=युद्ध के लिये मानसिक विचार। वाचा=युद्ध के लिये वाचिक घोषणा ! (यज्ञैः) (यजु० १७।४०) में "यज्ञः सोम", द्वारा यज्ञ को सोम अर्थात् युद्धाधिकारी कहा है, जो कि सेना के आगे-आगे चलता हुआ सेना का प्रेरक होता है, सोमः (षू प्रेरणे१)। "यज्ञैः" में बहुवचन द्वारा युद्ध में नाना सैनिकदलों को सूचित किया है, और प्रत्येक दल के अधिकारी को "यज्ञः सोमः" कहा है। युद्ध होने से पूर्व शत्रुराष्ट्र को कृच्छ्रापत्तियों द्वारा

१. यथा "इन्द्र आसां नेता, बृहस्पतिः दक्षिणा, यज्ञः पुर एतु सोमः" (यजु० १७।४०)।

घेर लेना चाहिये, और इसी घेरे द्वारा सम्भावित उनकी मृत्यु कर देनी चाहिये, ताकि शत्रु युद्ध करने ही न पाए] ।

यातुधाना निर्ऋतिरादु रक्षस्ते अस्य घ्नन्त्वनृतेन सत्यम् ।
इन्द्रेषिता देवा आज्यमस्य मथ्नन्तु मा तत् सं पादि यदसौ जुहोति ॥२॥

(यातुधाना) यातनाओं का जिस में निधान है ऐसी (निर्ऋतिः) कृच्छ्रापत्ति, (आत् उ) तथा (रक्षः) जो राक्षसरूपी व्याधि-कीटाणु हैं (ते) वे, (अस्य) इस शत्रु के (अनृतेन) अनृतमार्ग[1] द्वारा (सत्यम्) सद्रूप होने वाले युद्धकर्म को (घ्नतु) नष्ट कर दें। (इन्द्रेषिताः) इन्द्र अर्थात् सम्राट् द्वारा प्रेषित (देवाः) विजिगीषु सैनिक (अस्य) इस शत्रु के (आज्यम्) आजि अर्थात् युद्धसम्बन्धी कर्म को (मथ्नन्तु) मथ डालें, ताकि (तत्) वह युद्धकर्म (मा संपादि) न सम्पन्न हो, (यत्) जिस के लिये (असौ) वह शत्रु (जुहोति) युद्ध-यज्ञ में आहुतियां देता है। [रक्षः=रक्षांसि, जात्येकवचन। देवाः=दिवु क्रीडाविजिगीषा आदि (दिवादिः), अर्थात् विजिगीषु सैनिक।

अजिराधिराजौ श्येनौ संपातिनाविव ।
आज्यं पृतन्यतो हतां यो नः कश्चाभ्यघायति ॥३॥

(अजिराधिराजौ) अजिर अर्थात् शत्रुसेना का क्षेपण करने वाला सेनापति, और अधिराज, (संपातिनौ) युगपत् [शिकार पर] पतन करने वाले (श्येनौ) दो श्येनों की (इव) तरह, (पृतन्यतः) संग्राम-चाहने वाले शत्रु के (आज्यम्) आजिकर्म अर्थात् युद्धकर्म का (हताम्) हनन करें, (यः) तथा जो (कश्च) कोई भी शत्रु (नः) हमारे (अभि) अभिमुख होकर (अघायति) हमारी हिंसारूपी पापकर्म करना चाहता है, उस का भी हनन करें।

(अजिरः=अज गतिक्षेपणयोः (भ्वादिः) जो शीघ्रगतिक हो कर शत्रुदल के क्षेपण में समर्थ हो ऐसा सेनापति। अधिराजः=राज्ञामधिपतिः, अर्थात् सम्राट्। यथा "अधिराजो राजसु राजयातै" (अथर्व० ६।९८।१)। अघायति=अघं हननमिच्छति, अघ+क्यच् (परेच्छायाम्) छन्दसि। हताम्=युद्ध में हनन करें, अजिर और अधिराज मिलकर।

१. लोभाक्रान्त होकर परराष्ट्र पर आक्रमण करना "अनृतमार्ग" है।

अपाञ्चौ त उभौ बाहू अपि नह्याम्यास्यम् ।
अग्नेर्देवस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः ॥४॥

[हे शत्रु राजन् !] (ते) तेरी (उभौ बाहू) दोनों बाहुओं को (अपाञ्चौ) गतिरहित करता हूं, बान्ध देता हूं, तथा (ते आस्यम्) तेरे मुख को (अपि) भी (नह्यामि) मैं बांध देता हूं। तथा (अग्नेः देवस्य) अग्रणी देव अर्थात् प्रधानमन्त्री के (तेन, मन्युना) उस कोप द्वारा (ते) तेरी (हविः) युद्ध सम्बन्धी हवि अर्थात् सेना का भी (अवधिषम्[1]) मैंने वध कर दिया है। अपाञ्चौ=अप (अपगत)+अञ्चु गतौ, गतिरहित।

[शत्रु राजा की बाहुओं और मुख को बांध देने से वह स्वयं युद्ध करने में असमर्थ हो जाता है, और युद्धकर्म में आज्ञा देने से भी रहित हो जाता है]।

अपि नह्यामि ते बाहू अपि नह्याम्यास्यम् ।
अग्नेर्घोरस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः ॥५॥

[हे शत्रु राजन्] (ते) तेरी (बाहू) बाहुओं को (अपि नह्यामि) मैं बांधता हूं, (आस्यम्) तथा तेरे मुख को (अपि) भी (नह्यामि) मैं बांधता हूं। (अग्नेः घोरस्य) घोर अग्रणी अर्थात् प्रधानमन्त्री के (तेन मन्युना) उस कोप के कारण (ते) तेरी (हविः) युद्धसम्बन्धी हवि अर्थात् सेना का भी (अवधिषम्) मैंने वध कर दिया है।

सूक्त ७४

अथर्वा । अग्निः । अनुष्टुभ् ।

परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।
धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावतः ॥१॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन् ! (सहस्य) हे बलशालिन् ! (त्वा विप्रम्) तुझ मेधावी को (वयम्) हम (पुरम् परि धीमहि) दुर्ग के सदृश

१. अवधिषम्=हनिष्यामि (सायण)।

परिधिरूप करते हैं, (धृषत् वर्णम्) तुझ धर्षकरूप को, (दिवेदिवे) प्रतिदिन (भङ्गुरावतः) नियम भङ्ग करने वालों के (हन्तारम्) हननकर्त्ता को ।

[पुर=दुर्ग, उपमावाचक पद लुप्त । जैसे राजवर्ग द्वारा स्वरक्षार्थ दुर्ग का आश्रय लिया जाता है, वैसे हम प्रजाजन प्रधानमन्त्री का आश्रय लेते हैं] ।

सूक्त ७५

(१-३) अथर्वा । इन्द्रः । १ अनुष्टुभ्; २-३ त्रिष्टुभ् ।

उत् तिष्ठतावं पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम् ।
यदि श्रातं जुहोतन यद्यश्रातं ममत्तन ॥१॥

[हे सेवको !] (उत् तिष्ठत) उठो, तैय्यार होओ, और (ऋत्वियम्) काल प्राप्त (इन्द्रस्य) सम्राट् के (भागम्) सेवनीय भोजन की (अव पश्यत) देखभाल करो । (यदि श्रातम्) यदि भोजन पक गया है तो (जुहोतन) [बलि-वैश्वदेव सम्बन्धी] आहुतियां दो, (यदि अश्रातम्) यदि नहीं पका तो (ममत्तन) राजस्तुति सम्बन्धी गान करो । [राजा के रसोई के अध्यक्ष का कथन मन्त्र में है] ।

श्रातं हविरो ष्विन्द्र प्र याहि जगाम सूरो अध्वनो वि मध्यम् ।
परि त्वासते निधिभिः सखायः कुलपा न व्राजपतिं चरन्तम् ॥२॥

(हविः) हविष्यान्न (श्रातम्) पक गया है, (इन्द्र) हे सम्राट् (उ, सु, प्र=आ याहि=प्रयाहि) निश्चय से सुगमतापूर्वक आइये, (सूरः) सूर्य (अध्वनः) आकाशमार्ग के (विमध्यम्) मध्य के समीप (जगाम) पहुंच गया है, अर्थात् भोजन का मध्याह्न काल होने वाला है । (सखायः) आमन्त्रित मित्र (निधिभिः) उपहारों अर्थात् भेंटो के साथ (त्वा) तेरे भोजनासन के (परि) चारों ओर (आसते) उपविष्ट हैं, बैठे हुए हैं, (न) जैसे कि (चरन्तम्) भोजन करते हुए (व्राजपतिम्) गृहपति के चारों ओर (कुलपाः) कुलरक्षक पारिवारिक जन उपविष्ट होते हैं ।

[भोज्य-पदार्थ को हवि कहा है, क्योंकि उस द्वारा बलिप्रदान तथा बलि-वैश्वदेव-यज्ञ में आहुतियां दी जाती हैं, अथवा "हविः"=हु दानादनयोः (जुहोत्यादिः), अर्थात् अदन योग्य अन्न के परिपक्व होने की सूचना हविः पद द्वारा दी गई है । मन्त्र में मध्याह्न-काल के भोजनकाल को सूचित

किया गया है । इन्द्र है सम्राट् यथा "इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७) । सखा हैं आमन्त्रित वरुण नामक राजा लोग, या नागरिक सदस्य अथवा उभयविध । चरन्तम्=चर गतिभक्षणयोः (भ्वादिः); यहां "चर" भक्षणार्थक है । मन्त्र में यह भी दर्शाया है कि यदि किसी शिष्ट व्यक्ति को मिलने जाना हो तो कुछ भेंट लेकर जाना चाहिये] ।

सूक्त ७६

श्रातं मन्य ऊधनि श्रातमग्नौ सुशृतं मन्ये तदृतं नवीयः ।
माध्यन्दिनस्य सवनस्य दध्नः पिबेन्द्र वज्रिन् पुरुकृज्जुषाणः ॥१॥

(ऊधनि) गौ के ऊधस् में वर्तमान दुग्ध को (श्रातम्) पका हुआ (मन्ये) मैं मानता हूं (अग्नौ) अग्नि में (श्रातम्) पके पदार्थ को भी पका हुआ मानता हूं, (तत्) उस (ऋतम्) सत्य को (सुशृतम्) उत्तम पका हुआ (मन्ये) मैं मानता हूं जो कि (नवीयः[1]) अन्य पक्वों की अपेक्षा सदा नवीन नवतर रहता है । (पुरुकृत्) हे नानाविध कर्मों के करने वाले (वज्रिन् इन्द्र) सम्राट् ! तू (जुषाणः) प्रीतिपूर्वक (माध्यन्दिनस्य) मध्याह्नकाल के (सवनस्य) दोहे गए दूध सम्बन्धी (दध्नः) दधि मट्ठे को (पिब) पीया कर ।

[मन्त्र में पक्व पदार्थों की तीन जातियां कही हैं (१) ऊधस् पक्व दूध; (२) अग्निपक्व दाल-भात आदि तथा सौराग्नि पक्व फलादि, (३) सत्य-ज्ञान । तीसरा पक्व सदा नवीन रहता है, यह कभी पुराना नहीं होता । पेय पदार्थों में माध्यन्दिन में दोहे गए दूध की दधि से मथे गए मट्ठे का पान श्रेष्ठ माना है । सूक्त ७५ में सम्राट् के भोजन का वर्णन हुआ है, और सूक्त ७६ में माध्यन्दिन में भोजन के साथ मट्ठे के पान का भी विधान हुआ है]।

सूक्त ७७

(१-११) अथर्वा । अश्विनौ । त्रिष्टुभ्; १, ४, ६ जगती; २ पथ्या-बृहती ।

समिद्धो अग्निर्वृषणा रथी दिवस्तप्तो घर्मो दुह्यते वामिषे मधु ।
वयं हि वां पुरुदमासो अश्विना हवामहे सधमादेषु कारवः ॥१॥

---

१. "सत्यज्ञान" तीनों कालों में एकरूप रहता है, अतः वह सदा नवीन है, कभी पुराना नहीं होता ।

(दिवः रथी) दिव्यरथ वाला (अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री (समिद्धः) सम्यक् प्रदीप्त हुआ है। (वृषणा) हे सुखों या बाणों की वर्षा करने वाले (अश्विना) अश्वविभाग के दो अधिकारियो ! (वाम्) तुम दोनों के (इषे) अन्न के लिये (मधु) मधुर (तप्तः घर्मः) गर्म क्षरित दूध (दुह्यते) दोहा जा रहा है। (पुरुदमासः) महागृहों वाले अथवा अन्नों से भरपूर गृहों वाले (वयम्) हम (कारवः) तुम्हारी स्तुति करने वाले, (वाम्) तुम दोनों को (हवामहे) आमन्त्रित करते हैं, (सधमादेषु) हर्षप्रद सहभोजों में। "दमे गृहनाम (निघं० ३।४)। तप्तः=दोहा गया ताजा दूध गर्म होता है।"

[सूक्त ७७ मन्त्र (९) के अनुसार "अग्नि" राष्ट्राधिकारी प्रतीत होता है। अग्नि के सम्बन्ध में कहा है कि "अग्ने ! विश्वा अभियोक्त्रीः परसेनां विशेषेण हत्वा, शत्रून् आत्मन इच्छतां परेषां, भोजनानि आहर" (सायण)। तथा देखो मन्त्र (१०)। इस प्रकार सूक्तवर्णित अग्नि राष्ट्राधिकारी "अग्रणी", प्रधानमन्त्री प्रतीत होता है। युद्धकाल में उसका प्रदीप्त होना, शत्रुओं के प्रति कोप प्रकट करना स्वाभाविक है। युद्धार्थ तय्यारी करने वाले अश्विनौ के मानार्थ प्रजाजन उन्हें आमन्त्रित करते हैं, और उन्हें बलकारी अन्न तथा पान द्वारा सत्कृत करते हैं। अश्विनौ[1] का यहां अर्थ है अश्व-विभागों के दो अधिकारी, अश्वारोही-सेना, तथा रथारोही-सेना विभाग के दो अधिकारी]।

समिद्धो अग्निरश्विना तप्तो वां घर्म आ गतम् ।
दुह्यन्ते नूनं वृषणेह धेनवो दस्रा मदन्ति वेधसः ॥२॥

(अग्निः) अग्रणी (समिद्धः) सम्यक्-प्रदीप्त हो गया है, (अश्विना) हे अश्विनौ (वाम्) तुम दोनों के लिये (घर्मः[2]) क्षरित दूध (तप्तः) प्रतप्त हो गया है, (आ गतम्) आओ। (वृषणा) हे सुखों या बाणों की वर्षा करने वाले ! (दस्रा) हे शत्रुओं का क्षय करने वाले अश्विनौ ! (इह नूनम्) इस आमन्त्रित शाला में (धेनवः) दुधार गौएं (दुह्यन्ते) दोही जाती हैं, (वेधसः) अन्य शत्रुवेधक सैनिक भी (मदन्ति) यहां आकर तृप्त होते हैं।

१. अश्विनौ="अश्वैः तद्वन्तौ"। घर्मः=घृ क्षरणदीप्त्योः (जुहोत्यादिः)। इषे अन्ननाम (निघं० २।७)।
२. घर्मः आज्यम् (सायण)।

[अग्नि और अश्विनौ, मन्त्र (१) में व्याख्यात हो चुके हैं। "दस्रौ" विशेषण साभिप्राय पठित है "दसु उपक्षये" (दिवादिः)। दस्रौ शत्रूणाम् उपक्षयितारौ अश्विनौ (सायण)। इस से भी प्रतीत होता है कि सूक्त (७७) राजनीतिविषयक है। वेधसः=व्यध्=ताडने, बेंधना, बाणों द्वारा बेधने वाले सैनिक। दुह्यन्ते द्वारा दुग्ध का प्रत्यग्ररूप प्रकट किया है]।

स्वाहाकृतः शुचिर्देवेषु यज्ञो यो अश्विनोश्चमसो देवपानः ।
तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति ॥३॥

(यः यज्ञः) जो सत्कार-यज्ञ (अश्विनोः) दो अश्वियों के (चमसः) खाने का साधन है और इन (देवपानः) दो देवों के पान के लिये है, वह (शुचिः) पवित्र यज्ञ (देवेषु) अन्य विजिगीषु अधिकारियों के निमित्त भी (स्वाहाकृतः) खाद्य आहुतिप्रदान पूर्वक किया गया है। (विश्वे) सब (अमृतासः) मरण-रहित [विजिगीषु अन्य अधिकारी भी] (तम् उ) उस सत्कार यज्ञ का (जुषाणाः) प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए, उसमें सम्मिलित हुए, (गन्धर्वस्य) पृथिवी-धारक राजा के (आस्ना) मुख द्वारा, स्वीकृति द्वारा (प्रतिरिहन्ति) खान-पान का आस्वादन करते हैं।

[जैसे सैन्यविभाग के अश्वों के दो अधिकारियों का सत्कार खान-पान द्वारा किया जाता है (मन्त्र १), वैसे ही सत्कार-यज्ञ पूर्वक अन्य अधिकारियों का भी सत्कार करना चाहिये। इस सत्कार के लिये राजा की मौखिक स्वीकृति चाहिये। "अमृतासः" द्वारा सेनाधिकारियों का युद्धकौशल दर्शाया है कि वे पर सैनिकों को मारते हुए स्वयं मृत्यु से बचे रहते हैं। गन्धर्वस्य= गो (पृथिवी)+धृ (धारणे)+वः। चमसः=चमु अदने (भ्वादिः)]।

यदुस्रियास्वाहुतं घृतं पयोऽयं स वामश्विना भाग आ गतम् ।
माध्वी धर्तारा विदथस्य सत्पती तप्तं घर्मं पिबतं रोचने दिवः ॥४॥

(यत्) जो (घृतम्, पयः) घृत और दूध (उस्रियासु) गौओं में (आहुतम्) परमेश्वर द्वारा प्रदत्त है (अयम्, सः) यह वह (भागः) भाग, (अश्विना वाम्) हे दो अश्वियो ! तुम दोनों के लिये है, (आ गतम्) आओ। (माध्वी) हे मधुर दुग्ध का सेवन करने वालो ! (विदथस्य) राष्ट्रयज्ञ के (धर्तारा) हे धारण करने वालो ! (सत्पती) हे सच्चे रक्षको ! (दिवः रोचने) दिन के प्रकाश में (तप्तम् घर्मम्) गर्म और क्षारित दूध को (पिबतम्) तुम पिओ।

[विदथः यज्ञनाम (निघं० ३।१०)। माध्वी=मधुमन्तौ (ऋ० ५।७५। १, वेंकट माधव)। उस्रिया गौः (सायण), (निघं० २।११)]।

तप्तो वां घर्मो नक्षतु स्वहोता प्र वामध्वर्युश्चरतु पयस्वान् ।
मधोर्दुग्धस्याश्विना तनाया वीतं पातं पयस उस्रियायाः ॥५॥

(अश्विना) हे दो अश्वियो ! (वाम्) तुम दोनों को (तप्तः) प्रतप्त(घर्मः) क्षारित दुग्ध (नक्षतु) प्राप्त हो, (स्वहोता[1]) स्वयं प्रदान करने वाला (अध्वर्युः) अहिंसामय दान-यज्ञ का करने वाला, (पयस्वान्) दुग्ध वाला सेवक (वाम्) तुम दोनों के [सत्कार के] लिये (प्र चरतु) विचरे।

हे अश्वियो ! (उस्रियायाः) गौ के, (तनायाः) और गोसन्तति के (मधोः) मधुर (दुग्धस्य) दूध का (वीतम्) भक्षण करो, और (पयसः) पेयदुग्ध का (पातम्) पान भी करो।

[स्वहोता=स्वयम् होता, प्रदान करने वाला (हु दाने)। अध्वर्युः= ध्वरति हिंसाकर्मा, तत्प्रतिषेधः अध्वरः, तं युनक्ति इति अध्वर्युः। नक्षति गतिकर्मा; व्याप्तिकर्मा (निघं० २।१४; २।१८)। तनायाः="तना"[2] का षष्ठ्येकवचन। तना=तनयेन (अथर्व० ८।४।१०; सायण)। अभिप्राय यह है कि हे अश्वियो! तुम गौ और गोसन्तति के दुग्ध का सदा सेवन किया करो। मन्त्र में 'वीतम्' तथा "पातम्" दो पद पठित हैं, जिनके अभिप्राय हैं, खाना और पीना। दुग्ध द्रव होता है, अतः इसकी पेयरूपता तो स्पष्ट है, खाद्यरूप में दुग्ध, दधि रूप और आमिक्षारूप जाना जा सकता है]।

उप द्रव पयसा गोधुगोषमा घर्मे सिञ्च पय उस्रियायाः ।
वि नाकमख्यत् सविता वरेण्योऽनुप्रयाणमुषसो वि राजति ॥६॥

(गोधुक्) हे गौ दोहने वाले ! (ओषम्[3]=आ उषसम्) उषा काल तक (पयसा) दोहे दुग्ध के साथ (उपद्रव) हमारे समीप आ जा, और (उस्रियायाः पयः) गौ के दुग्ध को (घर्मे) तप्त आज्य में (आ सिञ्च) डाल दे।

१. स्वहोता=स्वयं प्रदाता; हु दाने (जुहोत्यादिः)।
२. अथवा "तना धननाम" (निघं० २।११), उस्रिया अर्थात् गौ धनरूप है। उस्रा गोनाम (निघं० २।११)। उस्रिया=उस्रा+इयाङ्।
३. ओषम्=अथवा तप्तम्, उष दाहे, ताजा दूध गर्म होता है।

(सविता[1]) सविता ने (नाकम्) [नाक सहित] द्युलोक को (वि अख्यत्) प्रकाशित कर दिया है, (वरेण्यः) श्रेष्ठ सविता (उषसः) उषा के (प्रयाणम् अनु) प्रयाण के अनन्तर (विराजति) विराजमान होता है।

[तपे आज्य में प्रत्यग्र दूध के सिञ्चन का कथन मन्त्र में हुआ है। यह विधि उषाकाल में सविता के उदय होने से पूर्व हो जानी चाहिये। आज्य-मिश्रित प्रतप्त दूध अश्वियों का प्रातः पेय है, यह पेय बलकारी है। उषा काल के प्रयाण के बाद का काल, सविता का काल है]।

उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम् ।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभीद्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचत् ॥७॥

(सुदुघाम्) सुगमता से दोही जाने वाली (एताम्) इस (धेनुम्) गौ को (उपह्वये) मैं समीप बुलाता हूं। (सुहस्तः उत) और दोहने में कुशल हस्त वाला (गोधुक्) गोदोग्धा (एनाम्) इसे (दोहत्) दोहे। (सविता) सविता (नः) हमें (श्रेष्ठम्) प्रशस्ततम (सवम्) क्षारित सोमरस के समान दुग्ध (साविषत्) प्रेरित करे, प्रदान करे, (घर्मः) आज्यमिश्रित दुग्ध (अभीद्धः) प्रदीप्त हो गया है (तत्) उस के सम्बन्ध में (सु) ठीक (प्रवोचत्) दुग्ध सेवता ने सूचित किया है।

[उषाकाल में दुग्ध दोहा गया है मन्त्र (६), और प्रतप्त आज्य में दुग्ध को सींच दिया है (६)। वह सविता के काल में परिपक्व हो गया है, इसकी सूचना प्राप्त हो गई है। सविता के काल में दो अश्वी इसका पान करेंगे, मानो सविता ने यह पेय उन्हें प्रदान किया है]।

हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसा न्यागन् ।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय ॥८॥

(हिङ्कृण्वती) वत्स के प्रति "हिङ्" करती हुई, (वसूनाम्) वसुओं में (वसुपत्नी) वसुरूप दुध की स्वामिनी (मनसा) मन से (वत्सम्) वत्स को (इच्छन्ती) चाहती हुई धेनु, (न्यागन्) नितरां आई है। (इयम्) यह (अघ्न्या) न हनन योग्या धेनु (अश्विभ्याम्) दो अश्वियों के लिये (पयः)

१. उषा के प्रयाण के समनन्तर उदित सूर्य सविता है।

दुग्ध (दुहाम्) दोहरूप में, प्रदान करे, (सा) वह (महते सौभगाय) हमारे महासौभाग्य के लिये (वर्धताम्) समृद्ध हो।

[आगन्=गम् (लुङ्)+च्लि का लुक्+"मोनो धातोः" (अष्टा० ८।२।६४) द्वारा "गम्" धातु के मकार को नकार (सायण)]।

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि विद्वान्।
विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्य शत्रूयतामा भरा भोजनानि ॥९॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (जुष्टः) प्रीत तथा सेवाई (दमूना) शम-दम सम्पन्न मन वाला (अतिथिः) अतिथि (दुरोणे) जैसे गृहस्थी के घर में आता है, वैसे तू (विद्वान्) राज्यव्यवस्था का जानने वाला (नः) हमारे (इमम्, यज्ञम्) इस राष्ट्र-यज्ञ में (उप याहि) उपस्थित होजा। और (विश्वाः अभियुजः) सब आक्रमणकारी परकीय सेनाओं का (विहत्य) विशेष हनन करके (शत्रूयताम्) हमारे साथ शत्रुता चाहने वालों के (भोजनानि) भोजनों को (आभर=आहर) छीन ले।

[अग्ने=अग्निः अग्रणीर्भवति (निरुक्त ७।४।१४)। मन्त्रवर्णन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि अग्नि, यज्ञाग्नि नहीं; अपितु वह राजनीतिज्ञ सर्वाग्रणी व्यक्ति है जो कि शत्रुओं का हनन कर, उनके भोजनों को छीनकर उन्हें भूखे मरने देता है। अतः मन्त्र में यज्ञ का अभिप्राय है "राष्ट्रयज्ञ"। अभियुजः="हमारे संमुख जुटी हुई" परसेनाएं]।

अग्ने शर्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु।
सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि ॥१०॥

(अग्ने) हे अग्रणी! (महते सौभगाय) हमारे महासौभाग्य के लिये (शर्ध) तू दयार्द्रहृदय हो जा (तव) तेरे (द्युम्नानि) यश (उत्तमानि) समुन्नत (सन्तु) हों। (जास्पत्यम्) पति-पत्नी सम्बन्ध को (सुयमम्) सुनियन्त्रित (आ कृणुष्व) कर (शत्रूयताम्) शत्रुता चाहने वालों के (महांसि) तेजों को (अभितिष्ठ) पदाक्रान्त कर, अभिभूत कर।

[शर्ध=शृधु मृधु उन्दने (भ्वादिः)। द्युम्नम्=द्योततेः "यशो वा अन्नम् वा" (निरुक्त पद ३३; ५।१।५)। जास्पत्यम्=जाया और पति का सम्बध सुयमम्=यज्ञिय वैवाहिक अग्नि द्वारा जाय पति का सम्बन्ध वैधानिक तो हो जाता है, परन्तु यह अग्नि इस सम्बन्ध को "सुयम"

अर्थात् सुनियन्त्रित नहीं कर सकती, और न शत्रुओं के तेजों का पराभव कर सकती है। वैवाहिक सम्बन्ध का सुनियन्त्रण तो राष्ट्र की अग्नि [अग्रणी] ही एतत्सम्बन्धी नियमों के निर्माण द्वारा कर सकती है, और राष्ट्राग्नि ही शत्रुओं के तेजों का पराभव कर सकती है। तथा न वैवाहिक अग्नि के साथ दयार्द्रता का ही सम्बन्ध सम्भव है]।

सूयवसाद् भगवती हि भूया अधा वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥११॥

(सूयवसाद्) उत्तम घास खाने वाली, (भगवती) दूधरूपी ऐश्वर्य वाली (हि) निश्चय से (भूयाः) तू हो, (अधा) तदनन्तर (वयम्) हम (भगवन्तः) दूधरूपी ऐश्वर्य वाले (स्याम) हों। (अघ्न्ये) हे अवध्ये! (विश्वदानीम्) सदा (तृणम्) घासादि तृणों को (अद्धि) तू खा, और (आचरन्ती) सर्वत्र विचरती हुई (शुद्धम्) शुद्ध (उदकम्) जल को (पिब) पी।

[सूयवसाद्=सु+यवस[1] (घास)+अद् (भक्षणे)। विश्वदानीम्= कालार्थे "दानीं च" (अष्टा० ५।३।१८), यद्यपि "दानीम्" प्रत्यय "तत् और इदम्" शब्दों से होता है, तो भी "विश्व" को "दानीम्" प्रत्यय छान्दस है (सायण)]।

सप्तम काण्ड का षष्ठ अनुवाक समाप्त

---

१. सम्भवतः "यवस" द्वारा यव (जौ) के तृण अभिप्रेत हों।

सूक्त ७८

(१-४) अथर्वाङ्गिराः। मन्त्रोक्त देवता या जातवेदः। अनष्टुभ्।

अ॒प॒चितां॒ लोहि॑नीनां कृ॒ष्णा मा॒तेति॑ शुश्रुम।
मु॒नेर्दे॒वस्य॒ मूले॑न॒ सर्वा॑ विध्यामि॒ ता अ॒हम् ॥१॥

(लोहिनीनाम्) लोहित वर्ण वाली (अपचिताम्) गण्डमालाओं की (माता) माता (कृष्णा) काली गण्डमाला है, (इति शुश्रुम) यह हम ने सुना है। (ताः सर्वाः) उन सब को (अहम्) मैं (विध्यामि) बींधता हूं, विदारित करता हूं, (मुनेर्देवस्य[1]) "वेणुदाभूंष" संज्ञक वृक्ष की (मूलेन) जड़ द्वारा।

[सायणाचार्य ने "वेणुदाभूंष" वृक्ष की जड़ का कथन किया है। "चक्रदत्त" में "हस्तिकर्णपलाश" की जड़ को गण्डमाला को शान्त करने वाली कहा है। सम्भवतः लोहित वर्ण वाली गण्डमालाओं में लाल रक्त की सूक्ष्म नाड़ियां अधिक सक्रिय हों, और कृष्ण वर्ण वाली गण्डमालाओं में कृष्ण रक्त की नाड़ियां अधिक सक्रिय हों, और कृष्ण गण्डमालाएं पहिले उभरती हों, और लोहिनी गण्ड मालाएं तत्पश्चात् पैदा होती हों। अतः कृष्णा को माता कहा है। गण्डमालाओं के वर्णन के लिये देखो अथर्व० (६।८३), इस सूक्त में गण्ड माला के ५ भेद कहे हैं, (१) एनी=ईषद्रक्तमिश्रित श्वेतवर्णा; (२) श्येनी=श्वेतवर्णा; (३) कृष्णा; (४-५) दो रोहिणी=दो लाल]।

विध्या॑म्यासां प्र॒थ॒मां विध्या॑म्यु॒त म॑ध्य॒माम्।
इ॒दं ज॑घ॒न्या॑मासा॒मा च्छि॑नद्मि॒ स्तुका॑मिव ॥२॥

(आसाम्) इन अपचितों अर्थात् गण्डमालाओं में (प्रथमाम्) मुख्या को (विध्यामि) मैं बींधता हूं, विदारित करता हूं, (उत) तथा तदनन्तर (मध्यमाम्) मध्यमा गण्डमाला को (विध्यामि) मैं बींधता हूं। (आसाम्) इन

१. देवस्य=देवदारु, यथा देवदत्तो देवः या दत्तः। (चक्रदत्त, गण्डमालाधिकार, श्लोक १६, २६, ३५)। मुनेः=मूङ्, मूञ् बन्धने (भ्वादिः, क्र्यादिः) जोकि गण्डमाला को फैलने में बन्ध लगा देता है, उसे फैलने नहीं देता। मू+निः, कित् (उणा० ४।१२४), दीर्घोकारस्य ह्रस्वोकारः।

गण्डमालाओं में (इदम्) अब (जघन्याम्) सुसाध्या गण्डमाला को (आच्छिनद्मि) मैं सुगमता से छेद देता हूं, (स्तुकाम् इव) जैसे कि ऊन के गुच्छे को सुगमता से काट दिया जाता है।

[प्रथमा=अधिकदोषयुक्ता। मध्यमा=साम्यदोषयुक्ता। जघन्या=अल्पदोषयुक्ता (गण्डमाला)। अथवा स्थानभेद से प्रथमा, मध्यमा और जघन्या गण्डमाला। जैसे कि अपचितः के सम्बन्ध में कहा है कि "अपाक् चीयमाना गलादारभ्य अधस्तात् कक्षादिसन्धिस्थानेषु प्रसृताः गण्डमालाः अपचितः" (सायण)]।

त्वा॒ष्ट्रेणा॒हं वच॑सा॒ वि त॑ ई॒र्ष्याम॑मीमदम्।
अथो॒ यो म॒न्युष्टे॑ पते॒ तमु॑ ते शमयामसि ॥३॥

(पते) हे पति! (त्वाष्ट्रेण, वचसा) जगत् के घड़ने वाले परमेश्वर के वचन अर्थात् मन्त्र द्वारा (ते) तेरी (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या को (अहं वि अमीमदम्) मदरहित मैंने कर दिया है। (अथो) तथा (यः ते मन्युः) जो तेरा क्रोध है, (तम्, उ ते) उस तेरे क्रोध को (शमयामसि) हम शान्त कर देते हैं।

[त्वष्टा है, जगत् को प्रकृति से घड़कर रचने वाला परमेश्वर, जैसे कि तष्टा अर्थात् बढ़ई, तर्खान, लकड़ी से वस्तुओं को घड़ निकालता है। "त्वष्टा त्वक्षतेर्वा स्यात् कर्मणः" (निरुक्त, त्वष्टा पद (११); ८।२।१४)। त्वक्षू तनूकरणे (भ्वादिः)। यथा "य इमे द्यावापृथिवी जनित्रीरूपैरपिंशद् भुवनानि विश्वा। तमद्य होतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्" (ऋ० १०।११०।९)। अभिप्राय यह कि त्वष्टा अर्थात् जगद्-रचयिता के मन्त्रों में ईर्ष्या के निराकरण सम्बन्धी प्रदर्शित विधियों द्वारा हे पति! हम तेरी ईर्ष्या के मद अर्थात् उद्रेक को निवारित करते हैं; तथा तेरे मन्यु को अनुनय-विनय द्वारा हम शान्त कर देते हैं। सम्भवतः ईर्ष्या-स्वभाव और गण्डमाला का परस्पर कारण-कार्य सम्बन्ध हो]।

व्र॒तेन॒ त्वं व्र॑तपते॒ सम॑क्तो वि॒श्वाहा॑ सु॒मना॑ दीदिही॒ह।
तं त्वा॑ व॒यं जा॑तवेदः॒ समि॑द्धं प्र॒जाव॑न्त॒ उप॑ सदेम॒ सर्वे॑ ॥४॥

(व्रतपते) व्रत की रक्षा करने वाले हे पति! (त्वम्) तू (व्रतेन) व्रत द्वारा (समक्तः) सम्यक् स्निग्ध हुआ (विश्वाहा) सब दिन अर्थात् सर्वदा (सुमनाः) सुप्रसन्नचित्त हुआ (इह) इस घर में (दीदिहि) चमक। और

(जातवेदः) हे जातवेदः अग्नि ! (तम्) उस (समिद्धम्) सम्यक् प्रदीप्त (त्वा) तेरे (उप) समीप (वयम्) हम (प्रजावन्तः) प्रजाओं वाले (सर्वे) सब (सदेम) बैठा करें।

[समक्तः=सम्यक्+अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु (रुधादिः)। म्रक्षण=Annoint, smear (आप्टे), अर्थात् प्रेम द्वारा स्निग्ध। अभिप्राय यह कि जब तेरे क्रोध को हमने शान्त कर दिया मन्त्र (३), तब तू व्रत-धारण कर कि फिर मैं क्रोध नहीं करूंगा, इस प्रकार सुप्रसन्नचित्त होकर घर में प्रसन्नता से चमकता रह। और हम सब मिलकर, सन्तानों समेत, यज्ञिय जातवेदा-अग्नि के समीप बैठा करें]।

विशेष वक्तव्य—सूक्त ७८ में ४ मन्त्र हैं। प्रथम के दो मन्त्रों में "गन्ड-माला" का वर्णन है, और शेष दो मन्त्रों में पति की ईर्ष्या और मन्यु के शमन का और तदनन्तर उसके "सुमनाः" होने का वर्णन हुआ है। इस प्रकार प्रथम "द्विक" का उत्तर "द्विक" के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। सम्भवतः ईर्ष्या, द्वेष, मन्यु आदि मानसिक विकारों और गण्डमाला का पर-स्पर सम्बन्ध हो।

सूक्त ७९

(१-२) उपरिबभ्रव। अग्निः। त्रिष्टुभ्; २ त्र्यवसान भुरिक् पथ्या-पंक्ति।

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥१॥

(प्रजावतीः) बछड़े-बछड़ियों वाली (सूयवसे) उत्तम घास वाले स्थान में (रुशन्तीः) चमकती हुई (सुप्रपाणे) उत्तम जलाशय में (शुद्धाः, अपः पिबन्तीः) शुद्ध जल पीती हुई (वः) तुम पर [हे गौओ] (स्तेनः) चोर (मा ईशत) अधीश्वर न हो, (मा अघशंस)न वधकारी अधीश्वर हो, (वः) तुम्हें (रुद्रस्य) रुद्र का (हेतिः) वज्र (परिवृणक्तु) सर्वथा त्याग दे, अर्थात् रुद्रकर्मा पुरुष तुम पर प्रहार न करे।

पदज्ञा स्थ रमतयः संहिता विश्वनाम्नीः। उप मा देवीर्देवेभिरेत।
इमं गोष्ठमिदं सदो घृतेनास्मान्त्समुक्षत ॥२॥

(पदज्ञाः) निज गन्तव्य मार्ग को जानने वाली (स्थ) तुम हो, (रमतयः) हमारे गृहों या गोष्ठों में रमण करने वाली, अथवा हमें प्रसन्न करने वाली, (संहिताः) परस्पर साथ रहने वाली, (विश्वनाम्नीः) भिन्न-भिन्न नामों वाली (देवीः) हे दिव्यगुणवालियो ! (देवेभिः) दिव्यगुणी सन्तानों के साथ (एत) आओ। (इमम् गोष्ठम्) इस गोशाला, (इदम् सदः) इस बैठने के स्थान के (मा उप) मेरे समीप आओ, (घृतेन) घृत-दुग्ध द्वारा (अस्मान्) हमें (समुक्षत) सम्यक् सींचो।

सूक्त ८०

(१-६) अथर्वा। १, २ गण्डमाला भैषज्य ३ ६ जायान्य, इन्द्र। अनुष्टुभ्; १ विराट्; २ परोष्णिक्; ५, ६ अथर्वा।

आ सुस्रसः सुस्रसो असतीभ्यो असत्तराः।
सेहोररसतरा लवणाद् विक्लेदीयसीः ॥१॥

(सुस्रसः) पीप का अतिस्राव करने वाली गण्डमाला की अपेक्षा (आसु-स्रसः) पूर्णतया स्रवणशील गण्डमाला हो जाँय, (असतीभ्यः) सत्तारहित वस्तुओं की अपेक्षा भी (असत्तराः) अधिक असद रूप गण्डमाला हो जांय। (सेहोः) पराभवनीय अर्थात् भङ्गुर वस्तु की अपेक्षा भी (अरसतराः) अधिक रसरहित अर्थात् निःसार गण्डमाला हो जांय, (लवणात्) नमक से भी (विक्लेदीयसीः) अधिक क्लेद वाली गण्डमाला हो जांय।

[लवण वायु में रखा स्वयं क्लिन्न हो जाता है, इसी प्रकार गण्डमालाएं भी स्वयं क्लिन्न होकर पीपरहित होकर सूख जांय। अथवा "लवणाद् विक्ले दीयसीः" का यह अभिप्राय है कि गण्डमाला के फोड़ों पर लवण तथा अन्य योगों के साथ लवण का लेप करने से फोड़े पीप के स्राव द्वारा सूखकर शीघ्र ठीक हो जाते हैं (चक्रदत्त गण्डमालाधिकार, श्लोक ५,१४,३५,५८,६०)]।

या ग्रैव्या अपचितोऽथो या उपपक्ष्याः।
विजाम्नि या अपचितः स्वयंस्रसः ॥२॥

(याः) जो (ग्रैव्याः) ग्रीवा में उत्पन्न (अपचितः) गण्डमालाएं हैं, (अथो) तथा (याः) जो (उपपक्ष्याः) पक्ष अर्थात् कोख के समीप उत्पन्न हैं, (याः) जो (अपचितः) गण्डमालाएं (विजाम्नि) अपत्योत्पत्ति स्थान के समीप अर्थात् उरुओं की सन्धियों में उत्पन्न हुई हैं, वे (स्वयंस्रसः) स्वयं स्रवित हो जांय।

[स्वयंस्रसः=किसी प्राकृतिक औषध के विना, केवल मनोबल तथा हस्तस्पर्श द्वारा गण्डमाला की ग्रन्थियों का स्राव होकर सूख जाना (अथर्व० ४,१३,५,६,७)]।

यः कीकसाः प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठति ।
निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्चं ककुदि श्रितः ॥३॥

(यः) जो क्षयरोग (कीकसाः) छाती की अस्थियों को (प्रशृणाति) जीर्ण शीर्ण करता है, जो (तलीद्यम्) तलीद्य में (अवतिष्ठति) स्थित हो जाता है, (तम् सर्वं, जायान्यम्) उस सब जायान्य रोग को, तथा (यः कश्च) जो कोई क्षयरोग (ककुदि) ककुद् में (श्रितः) आश्रय पा लेता है उसे (निर्हाः) तू निःसारित कर।

[तलीद्यम्=अस्थि के समीप का मांस (सायण)। पैप्पलाद शाखा में "तलाभ्याम्" पाठ है, जिसका अभिप्राय है पैरों के तलुए। "अवतिष्ठति" में "अव" का अर्थ है "अवस्तात्" अर्थात् "नीचे" इस द्वारा पैरों के दो तलुए सूचित होते हैं। "जायान्यम्" निरन्तरं जायासंभोगेन जायमानं क्षयरोगम्" (सायण) अर्थात् अतिजायासंभोग से उत्पन्न क्षयरोग]।

पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम् ।
तदाक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च ॥४॥

(जायान्यः पक्षी) जाया से उत्पन्न रोग अर्थात् यक्ष्मा या क्षयरोग (पतति) मानो उड़ता है, (सः) वह मानो उड़कर (पूरुषम्) पुरुष में (आविशति) आकर प्रविष्ट हो जाता है। (तत्) वह (भेषजम्) औषध है (उभयोः) दोनों का (अक्षितस्य) अल्पक्षयरोग का (सुक्षतस्य च) और समुन्नत क्षयरोग का।

[अक्षितस्य=अ (नञ् अल्पार्थे, यथा अनुदरी कन्या=अल्पोदरी कन्या)+क्षित (क्षि क्षये, भ्वादिः)। भेषजम् (मन्त्र ५ देखो)]।

विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे ।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्यं कृण्मो हविर्गृहे ॥५॥

हे जायान्य! इस निश्चय से तेरे जन्म को जानते हैं, जहां से हे जायान्य!

तू जन्म लेता है पैदा होता है। उसे[1] कैसे तू हनन करे, जिसके गृह में हम हविः [प्रदान] करते हैं।

[जायान्य=जाया के अतिभोग से उत्पन्न क्षय रोग। अग्नि में यक्ष्मनिवर्तक ओषधियों की आहुतियों से उत्पन्न धूम के सूंघने से क्षय रोग या यक्ष्मा की निवृत्ति शीघ्र हो जाती है। ओषधियों से उत्पन्न धूम, सूंघने द्वारा, ओषधि-धूम फेफड़ों में जाकर रक्त को ओषधि युक्त कर शरीरस्थ रोग का शीघ्र शमन कर देता है, ओषधि के खाने से रोगशमन देर से होता है। जायान्यः=जायायाः आनेयः, अथवा जायायाः जन्यः, "जकार" का लोप, क्षयरोग, यक्ष्मरोग]।

धृषत् पिब कलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम् ।
माध्यंन्दिने सवन आ वृषस्व रयिष्ठानो रयिमस्मासु धेहि ॥६॥

(इन्द्र) हे जीवात्मन्! (धृषत्) कामादि वासनाओं का धर्षण करता हुआ, (कलशे) शरीररूपी कलश में स्थित (सोमम्) वीर्य का (पिब) तू पान कर, (वृत्रहा) तू ने वृत्र भावनाओं का हनन कर दिया है, (शूर) हे शूर! हे पराक्रमशील! (वसूनाम्) श्रेष्ठगुणों की प्राप्ति के (समरे) देवासुर संग्राम के निमित्त [तू पराक्रम कर]। (माध्यन्दिने) मध्याह्न काल के (सवने) सवन में (आ वृषस्व) शरीर में सोम सींच, (रयिष्ठानः) और सद्गुणरूपी सम्पत्तियों का तू अधिष्ठान बन, और (अस्मासु) हम में (रयिम्) सद्गुण सम्पत्ति (धेहि) धारण करा।

["पुरुष निश्चय से यज्ञरूप है। २४ वर्षों की आयु तक उस का प्रातः सवन है। ४४ वर्षों की आयु तक उसका माध्यन्दिन सवन है; और ४८ वर्षों की आयु तक उसका तृतीय सवन है। इन आयु कालों में यदि उसे कामवासना आदि दुर्भावनाए प्रतप्त करें, सताएं तो वह सद्गुणों का संकल्प करता हुआ, इस यज्ञमय जीवन का विलोप न करे" (यह संक्षिप्त भाव प्रदर्शित किया है, छान्दोग्य उपनिषद् के सन्दर्भ का; छान्दोग्य ३।१६)। व्याख्येय मन्त्र में "माध्यन्दिन सवन" का कथन हुआ है। जीवनयज्ञ में "माध्यन्दिनकाल" है ४४ वर्षों की आयु का काल, जब कि कामादि दुर्व्य-

१. अथवा उस घर में तू किसी को भी कैसे मारे जिस के कि घर में हम हवि प्रदान करते हैं।

सन व्यक्ति को संतप्त कर सकते हैं, और "देवासुर-समर" में देव विजयी होते हैं या असुर यह संशयास्पद हो जाता है। जायान्य रोगाक्रान्त व्यक्ति के जायान्य-दुष्परिणामों का हनन मन्त्र ४, ५ द्वारा हो गया है। तदनन्तर मन्त्र में रोगरहित हुए व्यक्ति की आत्मशक्ति को उद्-बोधित कर, अवशिष्ट जीवन में, उसे देवासुर संग्राम के लिये संनद्ध किया है। मन्त्र में सोम है वीर्य। उसका पान है "उर्ध्वरेतस्" होना। सोम है वीर्य,--इसके लिये देखो। ग्रन्थकार का अथर्ववेदभाष्य (१४।१।१-५)। सोमाः=सोमन् ("मन्" प्रत्ययान्त+"सु") जिस का अर्थ है उत्पत्ति। अंग्रेजी भाषा में वीर्य को "semen" कहते हैं। सोमन् और semen में श्रुतिसाम्य भी है, और अर्थसाम्य भी]।

सूक्त ८१

(१-३) अङ्गिराः। मरुतः। १ त्रिपदा गायत्री; २ त्रिष्टुभ्; ३ जगती

सांतपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन।
अस्माकोती रिशादसः ॥१॥

(सांतपनाः) संतप्त सूर्य के सदृश [अस्त्र-शस्त्रों द्वारा] द्योतमान (मरुतः) हे सैनिको! (इदम्) यह तुम्हारा सैन्य (हविः) युद्धयज्ञ में हविरूप है, (तत्) उस हवि का (जुजुष्टन) प्रीतिपूर्वक सेवन करो। और (अस्माकोती) हम प्रजाजनों की रक्षा के लिये (रिशादसः) हिंसाकारी शत्रुओं का क्षय करो।

[संतपनः सूर्यः, तत्सदृशाः मरुतः, स्वार्थे, या "तस्येदम्" द्वारा अण्। हविः पद द्वारा राष्ट्रनिमित्त युद्ध को यज्ञ कहा है। मरुतः=मारने में शूरवीर सैनिक। मन्त्र (३) में मरुतः को "मानुषासः" अर्थात् मनुष्य कहा है, अतः मरुतः सैनिक प्रतीत होते हैं। "मरुत् मारयतीति वा मनुष्यजातिः" (उणा० २।९५, दयानन्द)। तथा "मरुतः मितरोचिनो वा" (निरुक्त ११।२।१३)। तथा यजु० (१७।४०)]।

यो नो मर्तो मरुतो दुर्हृणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो जिघांसति।
द्रुहः पाशान् प्रति मुञ्चतां सस्तपिष्ठेन तपसा हन्तना तम् ॥२॥

(वसवः) प्रशस्त (मरुतः) हे सैनिको! (यः) जो (दुर्हृणायुः) दुष्टक्रोधी (मर्तः) मरणधर्मा परराष्ट्र राजा (तिरः) छिपे उपायों द्वारा (नः)

हमारे (चित्तानि) चित्तों को (जिघांसति) क्षुब्ध करना चाहता है, (सः) वह (द्रुहः) जिघांसा-सम्बन्धी (पाशान्) फन्दों को (प्रतिमुञ्चताम्) धारण करे (तम्) उसे (तपिष्ठेन) अत्यन्त तापी (तपसा) तापक-आयुध द्वारा (आहन्तन) मार डालो।

["मरुतः" के दो अर्थों को लेकर सूक्त में द्विविध अर्थ हुए हैं। मानसून वायुओं की दृष्टि में सूक्त के प्रथम मन्त्र का अर्थ किया है, और सैनिकार्थ की दृष्टि से मन्त्र २, ३ के अर्थ किये हैं। मरुतः का अर्थ "मारने वाले सैनिक" भी होता है। यथा "इन्द्रऽआसां नेता, बृहस्पतिर्दक्षिणा, यज्ञः पुरऽएतु सोमः। देवसेनानामभि भञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्" (यजु० १७।४०)। "हृणिः क्रोधः कर्मा" (निघं०२।१३; २।१२)। द्रुहः=द्रुह जिघांसायाम् (दिवादिः)। हत्या करने की इच्छा वाले राजा को फन्दों द्वारा जकड़ कर, मार देना चाहिये। मरुतः को "मानुषासः" (मन्त्र ३) में कहा है। इसलिये मनुष्य सैनिक भी सूक्त में अभिप्रेत हैं। तथा मरुत्=म्रियते मारयति वा स मरुत्, मनुष्यजातिः, पवनो वा (उणा० १।९४ दयानन्द)]।

संवत्सरीणा मरुतः स्वर्का उरुक्षयाः सगणा मानुषासः।
ते अस्मत् पाशान् प्र मुञ्चन्त्वेनसः सांतपना मत्सरा मादयिष्णवः॥

(संवत्सरीणाः) प्रतिवर्ष सत्कार को प्राप्त हुए, (स्वर्काः) उत्तम पोशाकों तथा शस्त्रास्त्रों द्वारा सूर्यवत् चमकने वाले, (उरुक्षयाः) शत्रुओं का महाक्षय करने वाले, (सगणाः) गणों सहित, (मानुषासः) मनुष्यों के संघस्वरूप (सांतपनाः[1]) शत्रुओं को तपाने वाले, (मत्सराः) हर्षपूर्वक विचरने वाले, (मादयिष्णवः) हमें प्रसन्न करने वाले (ते) वे (मरुतः) सैनिक, (अस्मत्) हम से (एनसः) पापजन्य (पाशान्) फन्दों को (प्रमुञ्चन्तु) खोल दें।

---

१. हे शत्रुओं को तपाने वाले सैनिकों! (इदम् हविः) युद्ध यज्ञ में इस आत्मसमर्पण रूपी हवि को तुम प्रेमपूर्वक स्वीकार करो। हमारी रक्षा के लिये तुम हिंसक शत्रुओं का उपक्षय करो ॥१॥ जुजुष्टन=जुषी प्रीतिसेवनयोः (तुदादिः)। ऊतिः रक्षा, अव रक्षणे (भ्वादिः)।

[पाशान् = शत्रु ने हमारी कमजोरी या पापमयी प्रवृत्तियों के कारण जो फंदे हम पर डाल दिये हैं उन से छुटकारा पाना]।

सूक्त ८२

(१-२) अथर्वा। अग्निः। १ परोष्णिक्; २ त्रिष्टुभ्।

वि ते मुञ्चामि रशनां वि योक्त्रं वि नियोजनम्।
इहैव त्वमजस्र एध्यग्ने ॥१॥

(अग्ने) हे अग्नि! (ते) तेरी (रशनाम्) रस्सी को (विमुञ्चामि) मैं [तुझसे] पृथक् कर देता हूं, (योक्त्रम्) जोतने के साधन को (वि) पृथक् कर देता हूं, (नि योजनम्) नियोजन को (वि) पृथक् करता हूं। (त्वम्) तू (इह एव) यहां ही (अजस्रः) अताडित हुआ (एधि) हो, विद्यमान रह।

[मन्त्र में रशना आदि के वर्णन द्वारा रथ में बद्ध[1] अश्व का वर्णन प्रतीत होता है। "अग्नि" पद द्वारा सम्भवतः अश्व की वेगशक्ति को सूचित किया है। मन्त्र में "अन्योक्ति" अलंकार द्वारा शरीररथ के साथ, त्रिविध पाशों द्वारा त्रिधाबद्ध, जीवात्मा अभिप्रेत है। और "अग्नि[2]" द्वारा उसकी भावी ज्ञानाग्नि को सूचित किया है। यथा "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन" (गीता)। त्रिविध पाश = "उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय। अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम स्वाहा" (ऋ० १।२४।१५)। जीवात्मा के तीन शरीर होते हैं, कारणशरीर, सूक्ष्मशरीर तथा स्थूलशरीर। स्थूलशरीर तो जीवात्मा का रथ है, और अवशिष्ट दो शरीरों के तीन तत्त्व, तीन पाश हैं, बन्धन हैं। वे हैं बुद्धि "व्यवसायात्मिका" अहंकार अर्थात् अस्मिता और मन जोकि संकल्प-विकल्प, इच्छा आदि का आश्रय है। मन अधम पाश है, और शेष दो उत्तम तथा मध्यम पाश हैं। जीवात्मा मनरूपी पाश से बद्ध हुआ नाना योनियों तथा सांसारिक जीवनों में विचरता

१. रथ में जोते जाते समय अश्व के तीन बन्धन होते हैं। यथा "ग्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसति" (ऋ० ४।४०।४)। इन तीन बन्धनों को रशना, योक्त्र, तथा नियोजन द्वारा निर्दिष्ट किया है।

२. सायण ने अग्नि पद द्वारा "अग्निवद् अग्निः" कह कर, अग्निवद् दीप्यमान रोगान्मुक्त पुरुष अर्थ किया है। तथा "पत्नी वा सम्बोध्यते" भी कहा है। सायण ने भी अधियज्ञ दैवत अर्थ के स्थान में आधिभौतिक "पुरुष" अग्नि" का अर्थ माना है।

है। यथा "निण्यः संनद्धो मनसा चरामि" (ऋ० १।१६४।३७)। मन्त्र में अध्यात्मगुरु, ज्ञानाग्नि के इच्छुक अभ्यासी शिष्य को, त्रिविध पाशों से छुड़ा कर, जीवन्मुक्त अवस्था में, पृथिवी में विद्यमान रहने का कथन करता है, ताकि अग्निसम्पन्न हुआ वह अन्यों को भी शक्ति प्रदान कर सके। इस का वर्णन मन्त्र (२) में हुआ है। यथा—

अस्मै क्षत्राणि धारयन्तमग्ने युनज्मि त्वा ब्रह्मणा दैव्येन।
दीदिह्य१स्मभ्यं द्रविणेह भद्रं प्रेमं वोचो हविर्दां देवतासु ॥२॥

(अस्मै) इस [क्षत्रिय] के लिये (क्षत्राणि) क्षात्रबल (धारयन्तम्) प्रदान करते हुए (अग्ने) हे ज्ञानाग्निसम्पन्न! [शिष्य] (त्वा) तुझे (दैव्येन) देवाधिदेव (ब्रह्मणा) ब्रह्म के साथ (युनज्मि), मैं अध्यात्मगुरु योगविधि द्वारा सम्बद्ध करता हूं। (दीदिहि) तू प्रदान कर (इह) इस राष्ट्र में (अस्मभ्यम्) हम प्रजाजनों को (द्रविणा = द्रविणानि) सुपथ द्वारा अर्जितधन, तथा (भद्रम्) कल्याण और सुखप्रद जीवन। तथा (हविर्दाम्) प्रजाओं को हविष्यान्न प्रदान करने वाले (इमम्) इस राजा को (देवतासु) राष्ट्र की विद्वत्समाज में (प्रवोचः) प्रख्यात कर।

[अध्यात्मशिष्य को ज्ञानाग्निप्रदान (मन्त्र १) करने वाला अध्यात्म शिष्य के प्रति कहता है कि मैं ब्रह्म के साथ भी तुझे योगयुक्त करता हूं, तू राजा को क्षात्रधर्म के साथ ब्रह्मज्ञान भी प्रदान किया कर, और राजा को यह भी उपदेश दे कि वह प्रजाओं के भोजन के लिये उन्हें हविष्यान्न प्रदान किया कर करे, जिससे प्रजाजन सात्त्विक हो सकें। देवतासु = "विद्वांसो वै देवाः")]।

सूक्त ८३

(१-४) अथर्वा। अमावास्या। त्रिष्टुभ्; १ जगती

यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयममावास्ये संवसन्तो महित्वा।
तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् ॥१॥

(अमावास्ये) हमारे हृदयगृहों में हमारे साथ बसने वाली पारमेश्वरी मातः! (महित्वा) योगजन्य महिमा के कारण (संवसन्तः) तेरे साथ बसते हुए (देवाः) दिव्य उपासक, (ते) तेरे लिये (यत्) जो (भागधेयम्) भक्तिभाग (अकृण्वन्) समर्पित करते रहे हैं, या करते हैं, (तेन) उस

समर्पण के कारण (नः) हमारे (यज्ञम्) योगयज्ञ को (पिपृहि) पालित कर, सुरक्षित कर (विश्ववारे) हे विश्व द्वारा वरणीय मातः । (सुभगे) हे उत्तम भगों¹ से सम्पन्न मातः ! (नः) हमें (सुवीरम्) उत्तम वीर पुत्ररूपी (रयिम्) धन (धेहि) प्रदान कर।

[अमा=अमा गृहनाम (निघं० ३।४), तथा अमा=सह (सायण) । पिपृहि=पृ पालनपूरणयोः (जुहोत्यादिः) । पारमेश्वरीमाता के सहवासी योगी जन, सुवीर पुत्रों को माता से प्राप्त कर, भूमि को स्वर्ग बना देते हैं। सुवीर=धर्मकृत्यों के करने में सुवीर] ।

अहमेवास्म्यमावास्या३ मामा वसन्ति सुकृतो मयीमे ।
मयि देवा उभये साध्याश्चेन्द्रज्येष्ठाः समगच्छन्त सर्वे ॥२॥

(अहम्) मैं पारमेश्वरी-माता (एव) ही (अस्मि) हूं (अमावास्या), अमावास्या (इमे सुकृतः) ये सुकर्मी (माम्) मुझे आश्रय बनकर (आवसन्ति) पूर्णतया बसते हैं, (मयि) और मुझ में बसते हैं। (मयि) मुझ में (उभये) दोनों प्रकार के (देवाः) देव अर्थात् (साध्याः) साध्य (च) और ऋषि (इन्द्रज्येष्ठाः) जिन में कि इन्द्र अर्थात् ऐन्द्रशक्ति आत्मशक्ति प्रधान है, (सर्वे) वे सब (समगच्छन्त) संगत हुए हैं, या होते हैं।

[पारमेश्वरी माता कहती है कि अमावास्या "अदृष्टचन्द्रमा" वाली रात्री नहीं अपितु मैं ही अमावास्या हूं। पारमेश्वरीमाता ने निज अमावास्या नाम की व्याख्या मन्त्र में स्वयं कर दी है, "माम् आवसन्ति, तथा मयि आवसन्ति" द्वारा। देवाः=साध्याः ऋषयः च। यथा "तेन देवाऽअयजन्त साध्याऽऋषयश्च ये" (यजु० ३१।९)। साध्ययोगसम्पन्नाः (अर्श-आद्यच्)] ।

आगन् रात्री सङ्गमनी वसूनामूर्जं पुष्टं वस्वावेशयन्ती ।
अमावास्यायै हविषा विधेमोर्जं दुहाना पयसा न आगन् ॥३॥

(वसूनाम्) वसुओं का (सङ्गमनी) परस्पर सङ्गम करने वाली, (ऊर्जम्) बल और प्राण, तथा (पुष्टम् वसु) परिपुष्ट अध्यात्म सम्पत् को (आवेशयन्ती) हम में प्रविष्ट करती हुई (रात्री) शुभरात्री (आगन्) आई है। इस शुभरात्री में (अमावास्यायै) हमारे हृदयगृहों में हमारे साथ बसने वाली पारमेश्वरीमाता के लिये (हविषा) आत्मसमर्पणरूपी हवि द्वारा (विधेम) हम परिचर्या प्रदान करें, यह माता (पयसा) दूध के साथ वर्तमान गौ के सदृश (नः) हमें (ऊर्जम्) बल और प्राणरूपी दोह (दुहाना) दुग्धरूप में प्रदान करती हुई (आगन्) आई है।

१. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ।

[वसूनाम्="अष्टौ वसवः, अग्निश्च पृथिवी च, वायुश्चान्तरिक्षम्, आदित्यश्च द्यौश्च, चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि च, एते वसवः" (बृहदा० अध्याय ३, ब्राह्मण ९, खण्ड ३) । इन वसुओं में परस्पर संगम अर्थात् सम्बन्ध पैदा करने वाली शुभरात्री आई है [जब कि उपासक का निवास पारमेश्वरीमाता में हो जाता है] । उपासना के लिये रात्रीकाल¹ शुभकाल होता है। रात्रीकाल शान्तकाल होता है, अतः उपासना के लिये शुभकाल है। ऊर्जम्=ऊर्ज बलप्राणनयोः (चुरादिः)] ।

अमावास्ये न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥४॥

(अमावास्ये) हे अमावास्या ! [मन्त्र ३] (त्वत्=त्वत्तः) तुझ से (अन्यः) भिन्न किसी ने (एतानि) इन (विश्वा रूपाणि) सब रूपयुक्त, भूतभौतिक वस्तुओं को (न जजान) नहीं पैदा किया, (परिभूः) तू ही इन सब के सब ओर विद्यमान है। (यत्कामाः) जिस कामना वाले (वयम्) हम (ते) तुझे (जुहुमः) आत्माहुति देते हैं, (नः) हमें (तत्) वह काम्य वस्तु (अस्तु) प्राप्त हो, (रयीणाम् पतयः स्याम) अर्थात् हम रयिओं [धनों] के स्वामी हो जांय।

[परिभूः=जैसे दुर्ग की रक्षा के लिये, उसके चारों ओर खाई होती है, वैसे आप भूतभौतिक जगत् की रक्षा के लिये उसके सब ओर विद्यमान

१. यथा "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी (गीता २।६९)। तथा "पूर्वः पूर्वो यजमानो वनीयान्" (ऋ० ५।७७।२), अर्थात् उषाकाल से जितना पूर्व के काल में उपासक उपासना करता है वह उतना ही अधिक श्रेष्ठ होता है। तथा अथर्व० (१०।७।३१) ।

हैं, "परि (सब ओर)+भूः (सत्तायाम्)"। "सब ओर" का अभिप्राय है चारों ओर, ऊपर-नीचे, तथा पार्श्वों में। (रयीणाम्=प्राकृतिक तथा आत्मिक सम्पत्तियां]।

सूक्त ८४

(१-४) अथर्वा। पौर्णमासी। ३ प्राजापत्या। त्रिष्टुभ्; २ अनुष्टुभ्।

पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय।
तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेम ॥१॥

(पौर्णमासी) पौर्णमासी के सदृश (पश्चात्) पश्चिम में (पूर्णा) पूर्ण-प्रकाश वाली, (पुरस्तात्, उत मध्यतः) पूर्व तथा दोनों दिशाओं के मध्य[1] में (पूर्णा) पूर्ण प्रकाश वाली पारमेश्वरीमाता (उत् जिगाय=उज्जिगाय) सर्वोत्कर्षेण विद्यमान है। (महित्वा) तथा प्राप्त महिमा के कारण (तस्याम्) उस पारमेश्वरी माता में (देवैः) अन्य देवों के साथ (संवसन्तः) मिल कर वास करते हुए (नाकस्य पृष्ठे) दुःख से रहित नाकलोक की पीठ पर (इषा) आनन्दरसरूपी अन्न द्वारा (सम् मदेम) हम सुमुदित हों।

[मन्त्र में पौर्णमासी के दृष्टान्त द्वारा पारमेश्वरी माता के सर्वत्र पूर्ण प्रकाश का द्योतन किया है। पारमेश्वरीमाता के प्रकाश को प्राप्त करने से महिमायुक्त हुए योगी जन, नाक की पीठ पर, मोक्षावस्था में अन्य मुक्तात्मा-देवों के साथ मिल कर आनन्दरस के पान द्वारा संमुदित रहते हैं। पौर्णमासी के प्रकाश को प्राप्त कर मोक्षावस्था का आनन्दरस अलभ्य है। अतः पौर्णमासी के दृष्टान्त द्वारा पारमेश्वरीमाता के पूर्ण प्रकाश का ही वर्णन मन्त्र में अभिप्रेत है।

---

१. अभिप्राय यह कि पौर्णमासी का चन्द्रमा जब पूर्व में उदित होता, तो पूर्ण कलाओं से ही युक्त होता है, और जब पश्चिम में प्राप्त होता है तब भी पूर्ण कलाओं से ही युक्त होता है। तथा पूर्व और पश्चिम के मध्याकाश में गति करता हुआ भी पूर्ण कलाओं से ही युक्त रहता है। परन्तु पौर्णमासी के उत्तरकाल से उसकी कलाओं में ह्रास होने लगता है। परन्तु परमेश्वर का प्रकाश पौर्णमासी के प्रकाश की तरह सदा एक सा रहता है, उसके प्रकाश में ह्रास नहीं होता।

वृषभं वाजिनं वयं पौर्णमासं यजामहे।
स नो ददात्वक्षितां रयिमनुपदस्वतीम् ॥२॥

(वृषभम्) आनन्दरस की वर्षा करने वाले, (वाजिनम्) बलशाली, (पौर्णमासम्) पूर्णमासी के चन्द्रमा के सदृश प्रकाश वाले परमेश्वर का (वयं यजामहे) हम यजन करते हैं, उसकी पूजा, उसका संग, तथा उस के प्रति आत्मसमर्पण करते हैं। (सः) वह परमेश्वर (नः) हमें (अक्षिताम्) न क्षीण होने वाली, (अनुपदस्वतीम्) अविनाशिनी (रयिम्) सम्पत्ति (ददातु) दे।

[वाजिनम्=वाजः बलनाम (निघं० २९)। यजामहे=यज देवपूजा-संगतिकरणदानेषु (भ्वादिः)। रयिम्=मोक्षसुख। "पौर्णमासम्" द्वारा परमेश्वर को शीतल प्रकाश वाला कहा है, और यजु० ३१।१८ में "आदित्यवर्णम्" द्वारा उग्रप्रकाशवान् कहा है। परमेश्वर के ये दोनों रूप समय-समय पर प्रकट होते रहते हैं]।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥३॥

(प्रजापते) प्रजापति द्वारा परमेश्वर को प्रजाओं का पति अर्थात् रक्षक कहा है। शेष का अर्थ मन्त्र ७।८३।४, के सदृश है। तथा (यजु० १०।२०; २३।२४)।

पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरेषु।
ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाके सुकृतः प्रविष्टाः ॥४॥

(अह्नाम्) दिनों और (रात्रीणाम्) रात्रियों के (अतिशर्वरेषु) अतिशर्वर कालों में (पौर्णमासी) पौर्णमासी के सदृश प्रकाशमयी पारमेश्वरी माता (प्रथमा) सर्वप्रथम (यज्ञिया) यज्ञयोग्या (आसीत्) रही है। (यज्ञिये) हे यजनयोग्या मातः! (ये) जो (त्वाम्) तुझे (यज्ञैः) यज्ञियकर्मों द्वारा (अर्धयन्ति) निज हृदयों में तेरी वृद्धि करते हैं (ते अमी) वे ये (सुकृतः) सुकर्मी (नाके) दुःखरहित लोक में (प्रविष्टाः) प्रविष्ट हुए-हुए हैं। अर्धयन्ति=ऋधु वृद्धौ।

[मन्त्र में "अतिशर्वरेषु" पाठ है न कि "अतिशर्वरीषु"। "शर्वरी" का अर्थ रात्री होता है, न कि शर्वर का। शर्वर का अर्थ है हिंसा, विनाश अर्थात् समाप्ति, शॄ हिंसायाम्। "अह्नाम् अतिशर्वरेषु" का अर्थ है "दिनों की अति हिंसाओं, अर्थात् समाप्तियों में", सायंकालों में। तथा "रात्रीणाम् अतिशर्वरेषु" का अर्थ है "रात्रियों की अति हिंसाओं अर्थात् समाप्तियों में" प्रातःकालों में। सायंकालों और प्रातःकालों में ध्यान द्वारा यज्ञिया-परमेश्वर का पौर्णमासी की तरह पूर्ण प्रकाश होता है। परमेश्वर माता यज्ञिया है, पूजनीया, संगतियोग्या, तथा आत्मसमर्पणयोग्या है (यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु) इस प्रक्रिया के अनुसार ही, यजनकर्त्ता, माता के समृद्ध-दर्शन को पाता है, और नाक में प्रविष्ट होकर पूर्वप्रविष्ट दिव्य मुक्तात्माओं के संग को प्राप्त करता है (यजु० ३१।१६)]।

सूक्त ८५

(१-६) अथर्वा। सावित्री, सूर्यः, चन्द्रः। त्रिष्टुभ्; ३ अनुष्टुभ्; ४ आस्तारपंक्तिः; ५ विराडास्तारपंक्तिः।

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम्।
विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः ॥१॥

(शिशू) दो शिशुओं के सदृश (क्रीडन्तौ) क्रीडा करते हुए, (एतौ) ये दो सूर्य और चन्द्र, (मायया) परमेश्वरीय प्रज्ञा द्वारा प्रेरित हुए, (पूर्वापरम्) आगे-पीछे (अर्णवम्) अन्तरिक्ष-समुद्र के (परि) पार तक (यातः) जाते हैं तथा, (चरतः) विचरते हैं। (अन्यः) इन दो में से एक सूर्य (विश्वा भुवना) सब भुवनों को (विचष्टे) देखता है, (अन्यः) दूसरा हे चन्द्रमा! तू (नवः) नया-नया (जायसे) पैदा होता है (ऋतून् विदधत्) ऋतुओं का विधान करता हुआ। (तथा अथर्व० १४।१।२३; गृहस्थ)।

[माया प्रज्ञानाम (निघं० ३।९)। ऋतून्=सप्ताह, अर्धमास और मास का विधान करता हुआ चन्द्रमा ऋतुओं का निर्माण करता है। दो मास ही तो ऋतु हैं। मन्त्र, विवाह के मन्त्रों में भी पठित है (अथर्व० १४।१।२३)। अतः मन्त्र में सूर्य=पति; और चन्द्रमा=पत्नी। पत्नी प्रतिमास ऋतुधर्म को प्रकट करती हुई, नव-नव सन्तानरूप में नव-नव रूपों वाली होती रहती है]।

नवोनवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः ॥२॥

हे चन्द्रमा! एकैक कला के आधिक्य द्वारा तू (नवः नवः) नवीन-नवीन (जायमानः भवसि) पैदा होता रहता है। (अह्नां केतुः[1]) तू मानो दिनों [तिथियों] का ज्ञापक है (उषसाम्) उषाओं के (अग्रम्) आगे-आगे, पहिले (एषि) तू आता है। (आयन्) आता हुआ (देवेभ्यः[2]) देवों के लिये (भागम्) देय भाग का (विदधासि) तू विधान करता है, (चन्द्रमः) हे चन्द्रमा! तू (आयुः) आयु को (दीर्घम्) दीर्घ (प्रतिरसे) करता है, बढ़ाता है।

[मन्त्र में शुक्लपक्ष के चन्द्रमा का वर्णन है जो कि प्रातःकाल पूर्व दिशा में उदित होता है। मन्त्र में पत्नी का वर्णन भी अभिप्रेत है। एक-एक सन्तान की वृद्धि द्वारा वह मानो प्रतिसन्तान में नवीन-नवीन रूप में प्रकट होती रहती है, यथा "आत्मा वै पुत्रनामासि" (निरुक्त ३।१।४; श० ब्रा० १४।९।८।२६) कि हे पुत्र! तू मेरा रूप ही है। पत्नी दिन में उषाकाल से पूर्व जाग जाती है। वह सास-ससुररूपी देवों का सत्कार करती है। यथा "मातृदेवो भव, पितृदेवो भव। तथा अग्निहोत्र में सूर्य, अग्नि आदि देवों के प्रति आहुतिभाग प्रदान करती है, यथा "गार्हपत्यमसपर्येत् पूर्वमग्निं वधूरियम्" (अथर्व० १४।२।२०), तथा "गार्हपत्याय जागृहि" (अथर्व० १४।१।२१), तथा "गार्हपत्यं सपर्य" (अथर्व० १४।२।१८)। गृहकार्यों में पत्नी की सक्रियता में गृहवासी प्रसन्न रह कर दीर्घायु हो जाते हैं (अथर्व० १४।१।२४)]।

सोमस्यांशो युधां पतेऽनूनो नाम वा असि।
अनूनं दर्श मा कृधि प्रजया च धनेन च ॥३॥

(सोमस्य) वीर्य के (अंशो) अंशुरूप, ज्योतिरूप, तथा (युधां पते) योद्धाओं या युद्धों के स्वामिन्! [क्षत्रिय रूप!] (वा=वै) निश्चय से

1. कित संज्ञाने। 2. दर्शपौर्णमास तथा अष्टमी के यज्ञों में वायु आदि देवों के लिये यज्ञभाग प्रदान।

(अनूनः[1] नाम असि) सद्गुणों में न्यून तू नहीं है। (दर्श[2]) हे दर्शनीय! (मा) मुझ पत्नी को (प्रजया च धनेन च) प्रजा और धन द्वारा (अनूनम्[3]) न्यूनतारहित (कृधि) कर।

[मन्त्रोक्ति पत्नी द्वारा हुई है। सोम=वीर्य (अथर्व० १४।१।१-५)। तथा सोम [सोमन्, उणा० १।१४०] तथा Semen (वीर्य) में श्रुति तथा अर्थ का भी साम्य है। अंशु=किरण, रश्मि। यथा "सहस्रांशुः"=सूर्य। मन्त्र १,२ में चन्द्रमा के कथन द्वारा पत्नी का वर्णन हुआ है। मन्त्र ३ में "सोमांशु-रूप" पति का वर्णन अभिप्रेत है "युधां पते" द्वारा पति क्षत्रिय है, सेनापति है]।

दर्शोऽसि दर्शतोऽसि समग्रोऽसि समन्तः।
समग्रः समन्तो भूयासं गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥४॥

हे क्षत्रिय! या सेनापति! (दर्शः असि) तू दर्शनीय है, (दर्शतः असि) राष्ट्र के कार्यों की देखभाल करता है, (समग्रः[4] असि) सद्गुणों से सम्पूर्ण है, (समन्तः) तू सद्गुणों की सीमा है। मैं भी (गोभिः) गौओं द्वारा, (अश्वैः) अश्वों द्वारा, (प्रजया) प्रजा द्वारा (पशुभिः) पशुओं द्वारा (गृहैः) गृहों द्वारा, (धनेन) धन द्वारा (समग्रः, समन्तः) समग्ररूप तथा समग्रता की सीमारूप (भूयासम्) हो जाऊं। समन्तः=संगतः अन्तेन।

[राष्ट्र के प्रजाजनों द्वारा मांग हुई है, प्रजाजनों द्वारा सामूहिक मांग है, अतः एकवचन का प्रयोग हुआ है]।

---

१. तथा सोम=चन्द्रमा। यह कलाओं के न्यूनाधिक्य के कारण न्यूनाधिक प्रतीत होता है। वस्तुतः निजस्वरूप में चन्द्रमा अनून है, न्यून नहीं होता।

२. दर्श है शुक्लपक्ष में अमावास्या रात्री के पश्चात् एककलायुक्त दृष्ट-चन्द्रमा।

३. यतः मन्त्रों में पत्नी को चन्द्रमा से रूपित किया है, इस कारण पत्नी के सम्बन्ध में पुल्लिङ्ग पदों का प्रयोग हुआ है।

४. चन्द्रमा-पक्ष में "अनून" [समग्र] होने की इच्छा "दर्श" अवस्था के चन्द्रमा से की गई है, न कि "पूर्णिमा" के चन्द्रमा से। दर्श के चन्द्रमा ने कलाओं की वृद्धि द्वारा पूर्णता को प्राप्त करना है, और पूर्णिमा के चन्द्रमा ने कलाओं के क्षय द्वारा अमावास्या की शून्यता की ओर प्रयाण करना है। दर्श के चन्द्रमा ने प्रकाशमार्ग का ग्रहण किया है, अतः वह सद्गुणी भी है।

योऽ३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तस्य त्वं प्राणेना प्यायस्व।
आ वयं प्यासिषीमहि गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥५॥

हे क्षत्रिय या सेनापति! (यः) जो परकीय राजा (अस्मान् द्वेष्टि) हमारे साथ द्वेष करता है, और (यम्) जिसके साथ (वयम्) हम [प्रतिक्रिया में] (द्विष्मः) द्वेष करते हैं, (तस्य प्राणेन) उसके प्राण द्वारा अर्थात् उसके प्राण का अपहरण कर, उसे मार कर (त्वम्) तू (आप्यायस्व) वृद्धि को प्राप्त कर। और (वयम्) हम प्रजाजन (गोभिः……) गौओं, अश्वों, प्रजा, पशुओं, गृहों, धनों द्वारा (आप्यासिषीमहि) पूर्णतया वृद्धि प्राप्त करें।

[मृतराजा की राष्ट्रसम्पत्तियों गौओं आदि का अपहरण कर समृद्धि प्राप्त करना]।

यं देवा अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षिता भक्षयन्ति।
तेनास्मानिन्द्रो वरुणो बृहस्पतिरा प्याययन्तु भुवनस्य गोपाः ॥६॥

(यम् अंशुम्[1]) जिस वीर्यांशु को (देवाः) दिव्यकोटि के व्यक्ति (आप्याययन्ति प्रवृद्ध करते हैं, और (यम्) जिस (अक्षितम्) क्षीण न हुए को, (अक्षिताः) अक्षितवीर्यवाले ब्रह्मचारी (भक्षयन्ति) गृहस्थ में भोगते हैं, (तेन) उस वीर्य की प्राप्ति द्वारा (इन्द्रः) सम्राट् (वरुणः) माण्डलिक राजवर्ग, (बृहस्पतिः) साम्राज्य की बृहती सेना का अधिपति (अस्मान्) हमें (आप्याययन्तु) समृद्ध करे, ये जो कि (भुवनस्य) समग्रभूमि के (गोपाः) रक्षक हैं।

[वीर्य की वृद्धि एकदम नहीं होती, वृद्धि अंश-अंशरूप में होती रहती है, अतः इन अंशों की रक्षा देवजन करते हैं, और अक्षितवीर्य वाले ऊर्ध्व रेतस्-ब्रह्मचारी गृहस्थ में इसका उपभोग करते हैं। अथवा इस को निज-शरीर में लीन करते हैं]।

सप्तम काण्ड का सप्तम अनुवाक समाप्त

---

१. तथा चन्द्रमा के जिस अंशु को अक्षीण सूर्य-रश्मियां आप्यायित करती हैं शुक्ल पक्ष में; और कृष्णपक्ष में मानो उसका भक्षण करती हैं।

सूक्त ८६

(१-६) शौनकः । अग्निः । त्रिष्टुभ्; २ ककुम्मतीबृहती; ३ जगती।

अभ्यर्चत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त ।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ताम् ॥१॥

(देवताः) हे दिव्य उपासको ! (सुष्टुतिम्) उत्तम स्तुतियोग्य परमेश्वर की (अभि) साक्षात् (अर्चत) अर्चना करो, स्तुति करो, (अस्मासु) हम में (गव्यम्) वेदवाणी का ज्ञानदुग्ध, (आजिम्) देवासुरसंग्राम, (भद्रा=भद्राणि) कल्याणकारी तथा सुखप्रद (द्रविणानि) धन (धत्त) स्थापित करो। (इमम् यज्ञम्) हमारे इस अर्चना यज्ञ को (नयत) उन्नति की ओर ले चलो, ताकि (घृतस्य) प्रकाशमयी (धाराः) धाराएं (मधुमत्) मधुररस से उपेत हुई (नः) हम में (पवन्ताम्) प्रवाहित हों।

[गव्यम्=गौः वाङ्नाम (निघं० १।११); गोसम्बन्धी है ज्ञानदुग्ध, अर्थात् याज्ञदैवते, देवताध्यात्मे वा (निरुक्त १।६।२०), अर्थात् यज्ञज्ञान तथा देवताज्ञान; तथा अग्नि आदि देवता का ज्ञान तथा आध्यात्मिक आत्मज्ञान और परमात्मज्ञान । एतदर्थ देखो "उत त्वं सख्ये" (ऋ० १०।७१।५) की नैरुक्त व्याख्या इस मन्त्र में वेदवाणी को "धेनु" अर्थात् गौ कहा है । धेनुः वाङ्नाम (निघं० १।११)। आजिम्=देवासुरसंग्राम । हम लोग पाप करते हैं, परन्तु पापरूपी असुर के साथ देव बनकर संग्राम नहीं करते, इसलिये पापासुर के वशीभूत हो जाते हैं। इसलिये "देवासुरसंग्राम" के लिये याचना मन्त्र में की गई है । आजिः=संग्राम ।

घृतस्य=घृ क्षरणदीप्त्योः (जुहोत्यादिः), यहां दीप्ति अर्थ अभिप्रेत है। घृतस्य धाराः (यजु० १७।९३) । परमेश्वरीय प्रकाश की अथवा चैत्तप्रकाश की धाराएं (योगभाष्य १।३६)]।

मय्यग्रे अग्निं गृह्णामि सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।
मयि प्रजां मय्यायुर्दधामि स्वाहा मय्यग्निम् ॥२॥

(क्षत्रेण) क्षात्रभावना, (वर्चसा) अध्यात्म तेज, (बलेन) तथा शारीरिक बल के (सह) साथ (अग्रे) प्रथम (मयि) मुझ में, अपने में (अग्निम्) परमेश्वराग्नि को (गृह्णामि) मैं ग्रहण करता हूं। (मयि) मुझ में अर्थात् अपने में (प्रजाम्) उत्पादक वीर्य को (मयि) मुझमें अर्थात् अपने में (आयुः) आयु को (दधामि) मैं स्थापित करता हूं, (स्वाहा) स्वाहा के उच्चारण पूर्वक (मयि) मुझ में अर्थात् अपने में (अग्निम्) परमेश्वराग्नि को मैं स्थापित करता हूं।

["अग्नि" यह परमेश्वर का नाम भी है। यथा "तदेवाग्निस्तदादित्यः" (यजु० ३२।२)। अग्नि को जीवन में धारण करने के लिये क्षात्रदृढ़ता चाहिये, अध्यात्मतेज तथा शारीरिक बल चाहिये। प्रजा=प्रजोत्पादक वीर्य[1]। परमेश्वर को अपने में धारण करने के लिये वीर्यशक्ति की आवश्यकता है। तभी योगाभ्यास द्वारा परमेश्वर का साक्षात्कार सम्भव है। योग में वीर्यनिग्रह चाहिये। यथा "श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्" (योग १।२०)। वीर्यनिग्रह से आयु भी बढ़ती और सुखदायी होती है। मन्त्र में भौतिक अग्नि अभिप्रेत नहीं]।

इहैवाग्ने अधि धारया रयिं मा त्वा नि क्रन् पूर्वचित्ता निकारिणः ।
क्षत्रेणाग्ने सुयममस्तु तुभ्यमुपसत्ता वर्धतां ते अनिष्टृतः ॥३॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (इह एव) इस ही जीवन में (रयिम्) अध्यात्म-सम्पत् (अधि धारय) मुझ में मेरे अधिकाररूप में, स्थापित कर, (पूर्वचित्ताः निकारिणः) पूर्वकाल की विकृत मेरी चित्तवृत्तियां (त्वा) तुझे हे अग्नि ! (मा निक्रन्) विकृत न करें, मुझसे पराङ्मुख या विमुख न करें। (अग्ने) हे अग्नि ! (तुभ्यम्) तेरे लिये (क्षत्रेण) क्षात्रदृढता द्वारा (सुयमम्) सुनियन्त्रित [मेरा चित्त] (अस्तु) हो, (ते) तेरे (उप) समीप (सत्ता) उपासनाविधि से बैठने वाला (अनिष्टृतः) अहिंसित हुआ (वर्धताम्) वृद्धि को प्राप्त हो, बढ़े।

[मन्त्र में अग्नि पद द्वारा परमेश्वराग्नि ही अभिप्रेत है, भौतिकाग्नि नहीं। यजुर्वेद (२७।४) में "पूर्वचित्ताः" के स्थान में "पूर्वचितः" पाठ है, जिसका अभिप्राय सम्भव है "पूर्व संचित"। अनिष्टृतः=काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि द्वारा अहिंसित, इन वृत्तियों द्वारा अनाच्छादित हुआ। अनिष्टृतः =अ+नि (नितराम्)+ष्टृतः, स्तृञ् आच्छादने (क्र्यादिः)।

---

१. वीर्य कारण है और प्रजा है कार्य। कारण में कार्योपचार है। यथा "आयुर्वै घृतम्"।

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः ।
अनु सूर्यं उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश ॥४॥

(जातवेदाः) उत्पन्न पदार्थों को जानने वाला, (प्रथमः अग्निः) अनादि, सर्वाग्रणी परमेश्वर (उषसाम् अग्रम्) उषाओं के पूर्व के काल को (अनु अख्यत्) अनुकूलरूप में प्रख्यापित करता है, (अहानि) दिनों को (अनु) अनुकूलरूप में [प्रख्यापित किया है], (सूर्यः) सूर्यस्थित अग्नि ने या सूर्य के समान प्रकाशमान उस अग्नि ने (उषसः) उषाओं को (अनु) अनुकूलरूप में [प्रकाशित किया है] (रश्मीन्) रश्मियों को (अनु) अनुकूलरूप में प्रकाशित करने वाला परमेश्वर (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी में (आविवेश) सर्वत्र प्रविष्ट हुआ है। अख्यत् = अन्तर्भावितण्यर्थः।

[अभिप्राय यह कि परमेश्वराग्नि[1] ने उषाकाल के पूर्व के काल को, दिनों, उषाओं, सौर रश्मियों को प्रकाशित किया है। वह परमेश्वराग्नि सूर्य में प्रविष्ट है, या सूर्यसदृश स्वतः प्रकाशमान है, आदित्यवर्णी है। वह द्युलोक में प्रविष्ट होकर नक्षत्रों-ताराओं को प्रकाशित कर रहा है, और पृथिवी में पार्थिव अग्नि को प्रकाशित कर रहा है। यह सब कुछ हमारे जीवनों के लिये अनुकूलरूप है। क्योंकि यह सब जगत् हमारे भोग और अपवर्ग के लिये है, अतः हमारी उन्नति के लिये अनुकूल है। 'भोगापवर्गार्थम् दृश्यम्" (योग २।१८)]।

प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः ।
प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन् प्रति द्यावापृथिवी आ ततान ॥५॥

(अग्निः) परमेश्वराग्नि ने (प्रति) प्रत्यक्षरूप में (उषसाम्, अग्रम्) उषाओं के पूर्व के काल को (अख्यत्) प्रकाशित किया है, (प्रथमः जातवेदाः) अनादि, सर्वज्ञ[2] ने (प्रति) प्रत्यक्षरूप में (अहानि) दिनों को [प्रकाशित किया है], (च) और (प्रति) प्रत्यक्षरूप में (पुरुधा) बहुत प्रकार की (सूर्यस्य रश्मीन्) सौर-रश्मियों को [प्रकाशित किया है], (प्रति) प्रत्यक्षरूप में, उसने (द्यावापृथिवी) द्यौः और पृथिवी को (आततान) फैलाया है।

१. मन्त्र यजुर्वेद में भी किंचित् पाठभेद से पठित है (११।१७)। व्याख्या में महीधराचार्य ने अग्नि के सम्बन्ध में कहा है कि "सर्वप्रकाशको लोकस्रष्टा अग्निः, तं पश्येम"। इस प्रकार महीधर ने भी अग्नि द्वारा परमेश्वर ही माना है।

२. जातवेदाः = जातानि वेद। जातानि वैनं विदुः। जाते जाते विद्यत इति वा। जातवित्तो वा जातधनः। जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः (निरुक्त ७।५।१९)।

[पुरुधा रश्मीन् = वेदानुसार सूर्यरश्मियां सप्तविध हैं, अतः पुरुधा हैं। परमयोगी को मन्त्रकथित तत्वों की प्रत्यक्ष अनुभूति हो जाती है]।

घृतं ते अग्ने दिव्ये सधस्थे घृतेन त्वां मनुरद्या समिन्धे ।
घृतं ते देवीर्नप्त्य१ आ वहन्तु घृतं तुभ्यं दुह्रतां गावो अग्ने ॥६॥

(अग्ने) हे परमेश्वराग्नि! (दिव्ये) दिव्य (सधस्थे ते) सहवास के स्थान में स्थित तेरे निमित्त (घृतम्) घृताहुतियां हों, (मनुः) प्रत्येक मनुष्य (अद्य) प्रतिदिन (त्वाम्) तुझे (घृतेन) घृताहुतियों द्वारा (समिन्धे) सम्यक् प्रकाशित करता है। (देवीः) दिव्यगुणों वाली (नप्त्यः) हमारी नातीपुत्रियां (ते) तेरे लिये (घृतम्) घृताहुतियां (आ वहन्तु) प्राप्त कराएं (अग्ने) हे परमेश्वराग्नि! (गावः) गौएं (तुभ्यम्) तेरे लिये (घृतम्) घी (दुह्रताम्) दुग्धरूप में प्रदान करें।

[दिव्य सधस्थ है हृदय। यह सहवास का स्थान है। हृदय में जीवात्मा तथा ईश्वर सहवास करते हैं, इकट्ठे रहते हैं। हवियों में श्रेष्ठ हवि है, घृत। घृत की आहुतियों द्वारा यज्ञिय-अग्नि को प्रदीप्त कर, इस अग्नि में प्रविष्ट परमेश्वराग्नि प्रदीप्त करनी चाहिये। यथा "अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः" (अथर्व० ४।३९।९)। घृताहुति के लिये गोघृत चाहिये, भैंस आदि का घृत नहीं। मन्त्र में दैनिक अग्निहोत्र का वर्णन है]।

सूक्त ८७

(१-४) शुनःशेपः । वरुणः । अनुष्टुभ्; २ पथ्यापंक्तिः; ३,४ त्रिष्टुभ् (४ बृहतीगर्भा)।

अप्सु ते राजन् वरुण गृहो हिरण्ययो मिथः ।
ततो धृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु ॥१॥

(वरुण) हे वरणीय (राजन्) ब्रह्माण्ड के राजा! (अप्सु) जलों में (ते) तेरा (हिरण्ययः) हिरण्यमय (गृहः) घर है, (मिथः) जो कि हम दोनों के निवास के लिये है। (धृतव्रतः, राजा) व्रतधारी वह वरुण राजा (ततः) उस गृह से (सर्वा धामानि) सब धामों में आश्रित पाशों को (मुञ्चतु) मुक्त कर दे, खोल दे।

[आपः हैं हृदयस्थ रक्त (अथर्व० १०।२।११)। हिरण्ययः=(अथर्व० १०।२।३१-३३)। मिथः=जीवात्मा और वरुण का सहवास का स्थान। (धामानि=स्थानानि)। यथा "धामानि त्रयाणि भवन्ति, नामानि, स्थानानि जन्मानि" (निरुक्त ९।२८)। पाशों के स्थान तीन हैं, (१) उत्तमपाश का स्थान, (२) अधमपाश का स्थान, (३) मध्यमपाश का स्थान (मन्त्र ३।४) धतव्रतः=वरुण का व्रत है पाशों को खोल देना, व्यक्ति को पाशों से उन्मुक्त कर देना। कई पाण्डुलिपियों में "धामानि" के स्थान में "दामानि" पाठ है। दाम=रस्सी, पाश। यह पाठ उत्तम है]।

धाम्नोधाम्नो राजन्नितो वरुण मुञ्च नः।
यदापो अघ्न्या इति वरुणेति यदूचिम ततो वरुण मुञ्च नः ॥२॥

(वरुण, राजन्) हे वरणीय राजा! (इतः) इस (धाम्नः, धाम्नः[1]) प्रत्येक स्थान से (नः) हमारे पाशों को (मुञ्च) खोल दे। (यद्) जो (आपः अघ्न्याः इति) व्यापक अनश्वर हे परमेश्वर! इस प्रकार और (यद्) जो (वरुण इति) हे वरणीय परमेश्वर! इस प्रकार (ऊचिम) हमने तुझे पुकारा है, (ततः) उस कारण (वरुण) हे वरणीय परमेश्वर! (नः) हमारे पाशों को (मुञ्च) खोल दे।

[परमेश्वर तो पाशों के मोचन का व्रत धारण किये हुआ है, परन्तु व्यक्ति पाशों से मुक्त नहीं हुए, अतः वे परमेश्वर का आह्वान करके, उसे पुकार कर कहते हैं कि हमारे पाशों को खोल दे। मन्त्र में दो "इति" द्वारा दो सम्बोधन प्रतीत होते हैं, (१) "आपः अघ्न्याः" (२) वरुण। तीन नहीं। "आपः, अघ्न्याः" पद विशेष्य—विशेषण रूप हैं। "आपः" हे व्यापक परमेश्वर, आप्लृ व्याप्तौ; तथा "ताः आपः स प्रजापतिः" (यजु० ३२।२)। अघ्न्यः=न हन्तव्याः, अनश्वर परमेश्वर। पाण्डुलिपियों में "दाम्नः दाम्नः" भी पाठ है। जिसका अर्थ है प्रत्येक दाम से, रस्सी से, पाश से]।

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम ॥३॥

(वरुण) हे वरणीय परमेश्वर! (उत्तमम् पाशम्) हमारे उत्तम पाश

१. दाम्नोदाम्नः (पाठान्तर)।

को (अस्मत्) हम से (उत् श्रथाय) शिथिल कर, (अधमम्) अधम पाश को (अव श्रथाय) शिथिल कर, (मध्यमम्) मध्यम पाश को (विश्रथाय) शिथिल कर। (अधा) तदनन्तर (आदित्य) हे आदित्यनिष्ठ परमेश्वर! (तव व्रते) तेरे व्रत के निमित्त (वयम्) हम (अनागसः) पापरहित हुए (अदितये) अविनाश के लिये (स्याम) हो जांय।

[अदितये=अ+दीङ् क्षये+क्तिन्; अथवा "दो अवखण्डने"+क्तिन्। अविनाश=पापजन्य शीघ्र नाश का अभाव, १०० वर्षों की आयु से पूर्व न मरना। वरुण का व्रत है पाशों का विमोचन। इस निमित्त व्यक्ति पापों से रहित होकर अविनाश के लिये हो जाते हैं। मन्त्र में आदित्य है तन्निष्ठ परमेश्वर यथा "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओ३म् खं ब्रह्म" (यजु० ४०।१७)।

पाश तीन हैं, उत्तम, मध्यम और अधम। सम्भवतः (१) त्रिविध दुःख आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक। (२) त्रिविध भोग, मानसिक भोग, ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों द्वारा भोग। (३) त्रिविध शरीर, कारण-शरीर, सूक्ष्मशरीर, स्थूलशरीर। (४) बुद्धितत्व अहंकार (अस्मिता), मन]।

प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् य उत्तमा अधमा वारुणा ये।
दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥४॥

(वरुण) हे वरणीय परमेश्वर! (अस्मत्) हम से (सर्वान् पाशान्) सब पाशों को (प्रमुञ्च) छुड़ा दे, (ये) जो कि (उत्तमाः अधमाः) उत्तम और अधम हैं, (ये वारुणाः) और जो वरणीय आप परमेश्वर द्वारा [कर्मानुसार] डाले गये हैं। (दुष्वप्न्यम्) बुरे स्वप्नों में उत्पन्न (दुरितम्) पाप को (अस्मत् निःष्व) हम से निकाल दे, (अथ) तत्पश्चात् (सुकृतस्य लोकम्) सुकर्मियों के लोक[1] में गच्छेम) हम जाएं। [निःष्व=निः, षू प्रेरणे लोट् लकार। "दुःष्वप्न्यम्" द्वारा मानसिक भोगरूपी पाश का कथन हुआ है]।

१. सुकर्मियों के समाज में जाने के योग्य हम हो सकें। अथवा "नाकलोक" में जाने के अधिकारी हो सकें (यजु० ३१।१६)।

सूक्त ८८

(१-३) भृगुः। इन्द्रः, अग्निः। त्रिष्टुभ्; १ जगती।

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृद् दीदिहीह।
विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन् मानुषीभिः शिवाभिरद्य परि पाहि नो गयम् ॥१॥

(जातवेदाः) राष्ट्रिय घटनाओं को जानने वाले (अग्ने) हे अग्रणी प्रधान-मन्त्रिन्! (अनाधृष्यः) अपराभवनीय, (अमर्त्यः) राष्ट्र के मर्त्यों अर्थात् मनुष्यों से भिन्न प्रकार का, (विराट्) विविध अधिकारों से प्रदीप्त, (क्षत्रभृत्) क्षात्रशक्ति को भी धारण करता हुआ तू (इह) इस राष्ट्र में (दीदिहि) प्रदीप्त हो। राष्ट्र को (विश्वाः अमीवाः) सब प्रकार के रोगों से (प्रमुञ्चन्) मुक्त करता हुआ तू (मानुषीभिः) मनुष्यसम्बन्धी (शिवाभिः) शिव [रक्षाओं] द्वारा (अद्य) आज (नः) हमारे (गयम्) राष्ट्रगृह की (परिपाहि) सब प्रकार से रक्षा कर।

[मर्त्याः मनुष्यनाम (निघं २।३)। जातवेदाः = जातानां वेदिता (सायण)। दीदयति ज्वलति-कर्मा (निघं० १।१६)। क्षत्रभृत् = अथवा प्रजा को, क्षतों से त्राण करने की भावना को, शासक वर्ग में परिपुष्ट करने वाले। भृत् = डुभृञ् धारणपोषणयोः (जुहोत्यादिः)। यथा "क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः" (रघुवंश २।५३)]।

इन्द्र क्षत्रमभि वाममोजोऽजायथा वृषभ चर्षणीनाम्।
अपानुदो जनममित्रायन्तमुरुं देवेभ्यो अकृणोरु लोकम् ॥२॥

(चर्षणीनाम् वृषभ) हे मनुष्यों पर सुखों की वर्षा करने वाले (इन्द्र) सम्राट्! (क्षत्रम्) क्षतों से त्राण करने वाले, (वामम्) याचनीय या संभजनीय (ओजः अभि) ओज को अभिलक्ष्य कर के (अजायथाः) तू उत्पन्न हुआ है। (अमित्रायन्तम्) शत्रुवत् आचरण करने वाले (जनम्) जन-समूह को (अपानुदः) दूर धकेल, और (देवेभ्यः) साम्राज्य के देवों के लिये (उरुम्, लोकम्) विस्तृत लोक (अकृणोः उ) कर।

[अजायथाः द्वारा मन्त्र राजसूय पद्धति का निर्देश करता है। (अथर्व०

४।८।१; ११।६।७)। वामम् = वनु याचनायाम् (तनादिः), तथा वन संभक्तौ (भ्वादिः)। देवेभ्यः = विद्वानों, विजिगीषुओं, व्यापारियों आदि के लिये। चर्षणयः मनुष्यनाम (निघं० २।३)]।

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगम्यात् परस्याः।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून् ताढि वि मृधो नुदस्व ॥३॥

(मृगः न) सिंह के सदृश (भीमः) भयङ्कर, (कुचरः) पृथिवी पर विचरने वाला, (गिरिष्ठाः) तथा पर्वतों पर जाकर स्थित होने वाला सम्राट् (परस्याः परावतः) दूर से भी दूर के स्थान से (आजगम्यात्) सम्राट् पद के लिये आ जाय। (इन्द्र) हे सम्राट्! (सृकम्) सरणशील, (तिग्मम्, पविम्) तीक्ष्ण वज्र को (संशाय) सम्यक्-तीक्ष्ण कर के (शत्रून्) शत्रुओं पर (विताढि) प्रहार कर, और (मृधः) संग्रामकारियों को (विनुदस्व) साम्राज्य से परे धकेल।

[पविः वज्रनाम (निघं० २।२०)। ताढि वधकर्मा (निघं० २।१९)। तड आघाते (चुरादिः)। अभिप्राय यह कि सम्राट् पद के लिये योग्य व्यक्ति, चाहे कहीं भी रहता हो, उसे स्वीकृत करना चाहिये]।

सूक्त ८९

अथर्वा। तार्क्ष्यः। त्रिष्टुभ्।

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥१॥

(त्यम्, उ) उस (तार्क्ष्यम्) अश्व के सदृश वेगवान्, (सुवाजिनम्) बलवान्, (देवजूतम्) राष्ट्रिय देवों द्वारा प्रिय, (सहोवानम्) पराभवशील (रथानाम्) रथयुद्ध में (तरुतारम्) तैराने वाले, (अरिष्टनेमिम्) रथों की सुदृढनेमियों वाले, (पृतनाजिम्) शत्रुसेनाविजयी, (आशुम्) क्षिप्रकारी, रथाध्यक्ष को, (इह) इस राष्ट्र में (स्वस्तये) कल्याण के लिये (आहुवेम) आदर पूर्वक हम आमन्त्रित करते हैं।

[वाजिनम्, वाजः बलनाम (निघं० २।९)। देवजूतम् = देवप्रीतं वा (निरुक्त० १०।२८)। पृतनाजिम् = शत्रुसेनाविजयी। तार्क्ष्यम् = तृक्ष गतौ (भ्वादिः), तथा तार्क्ष्यः अश्वनाम (निघं० १।१४)]।

सूक्त ९०

अथर्वा स्वस्त्ययनकामः । इन्द्रः । त्रिष्टुभ् ।

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति न इन्द्रो मघवान् कृणोतु ॥१॥

(त्रातारम्) रक्षा करने वाले (इन्द्रम्) सम्राट् को, (अवितारम्) वृद्धि करने वाले (इन्द्रम्) सम्राट् को, (हवे हवे) प्रत्येक आह्वान में (सुहवम्) सुगमता से आहूत किये जा सकने वाले (शूरम्) शूर-वीर (इन्द्रम्) सम्राट् को (शक्रम्) शक्तिशाली, (पुरुहूतम्) बहुतों द्वारा आहूत हुए (इन्द्रम्) सम्राट् को (नु) शीघ्रता से, आसानी से (हुवे) आह्वान करता हूं, ताकि (मघवान् इन्द्रः) धनवान् सम्राट् (नः) हमारा (स्वस्ति) कल्याण (कृणोतु) करे।

[मन्त्र में आह्वान करने वाला प्रजा का प्रतिनिधि, या प्रधानमन्त्री है। अवितारम् =अव वृद्धौ (भ्वादिः)]।

सूक्त ९१

अथर्वा । रुद्रः । जगती ।

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्व१न्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश ।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये ॥१॥

(यः रुद्रः) जो रुद्र (अग्नौ) अग्नि में (यः) जो (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर, (यः) जो (वीरुधः) विविध रूप में प्रादुर्भूत हुआ (ओषधीः) ओषधियों में (आविवेश) प्रविष्ट है। (यः) जिसने (इमा=इमानि, विश्वा=विश्वानि) इन सब (भुवनानि) भुवनों को (चाक्लृपे) रचा है, (तस्मै अग्नये) उस सर्वाग्रणी (रुद्राय) रुद्र के लिये (नमः अस्तु) नमस्कार हो।

[रुद्रः=रोदयतीति रुद्रः। जो कि कर्मानुसार प्राणियों को रुलाता है]।

सूक्त ९२

गरुत्मान् । तक्षा । त्र्यवसानाबृहती ।

अपेह्यरिरस्यरिर्वा असि । विषे विषमपृक्था विषमिद् वा अपृक्थाः ।
अहिमेवाभ्यपेहि तं जहि ॥१॥

[हे गरुड़!] (अपेहि) तू जा, (अरिः असि) [सांप का] शत्रु तू है, (अरिः वै असि) निश्चय से तू शत्रु है। (विषे) साँप के विष में (विषम्) अपना विष (अपृक्थाः) तूने मिला दिया है, (विषम्, इत्, वै अपृक्थाः) निश्चय से अपना विष तू ने मिला दिया है। (अहिम्, एव) सांप को ही (अभि) लक्ष्य कर के (अपेहि) तू जा, (तम्) उसे (जहि) मार डाल।

[मन्त्र में ऋषि है गरुत्मान् अर्थात् गरुड़, यह सांप को मार देता है। गरुत्मान् स्वयं अपने आप को सम्बोधित करता है, और अपना विष साँप के विष में मिला देता है। चोंच द्वारा सांप को क्षत-विक्षत कर देना यह गरुड़ का विष है। इसके पश्चात् सांप मर जाता है।

गरुत्मान्=परमेश्वर। यथा "अग्निं मित्रं वरुणम्" (ऋ० १।१६४।४६) की व्याख्या में "गरुत्मान् गरणवान्, गुर्वात्मा महात्मेति वा" (निरुक्त ७।५।१८) "गरणवान्" का अर्थ है निगीर्ण करने वाला, (गॄ निगरणे, तुदादिः)। परमेश्वर पाप-अहि को निगलता है, मानो नष्ट करता है, अतः पाप-अहि का अरि है, शत्रु है। वह पाप-अहि के विष अर्थात् दुरित को, विष अर्थात् जल के सम्पर्क द्वारा, जल चिकित्सा द्वारा उपासक से विनष्ट करा कर अन्त में पाप-अहि को मार डालता है, पृथक् कर देता है। विषम् उदक-नाम (निघं० १।१२)]

सूक्त ९३

(१-४) सिन्धुद्वीपः । अग्निः । अनुष्टुभ्; ४ त्रिपदा निचृत् परोष्णिक् ।

अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि ।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥१॥

(दिव्याः) दिव्य (आपः) "आपः" नामक परमेश्वर की (अचायिषम्) मैंने पूजा की है, (रसेन) आनन्दरस से (समपृक्ष्महि) हम सब पूजा करने वाले सम्पृक्त हुए हैं। (अग्ने) हे "अग्नि" नामक परमेश्वर! (पयस्वान्) आनन्द-रस वाला (आगमम्) मैं तेरी शरण में आया हूं, (तम्, मा) उस मुझ को (वर्चसा) तेज के साथ (संसृज) संयुक्त कर।

[आपः तथा अग्नि—परमेश्वर के नाम हैं (यजु० ३२।१)। अचायिषम् =चायृ पूजानिशामनयोः (भ्वादिः)। पूजा वस्तुतः चेतन की होती है, जड़ अग्नि की नहीं]।

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा ।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः ॥२॥

(अग्ने) हे "अग्नि" नामक परमेश्वर ! (मा) मुझे (वर्चसा) तेज के साथ (संसृज) संयुक्त कर, (प्रजया) प्रकृष्ट-सन्तान के साथ (सम्) संयुक्त कर, (आयुषा) स्वस्थ और दीर्घ आयु के साथ (सम्) संयुक्त कर। (अस्य मे) इस मुझ की स्थिति को (देवाः) राष्ट्र के विद्वान् (विद्युः) जानें, तथा (इन्द्रः) सम्राट् (ऋषिभिः सह) ऋषिकोटि के मन्त्रियों समेत (विद्यात्) जाने।

[मैं परमेश्वर की पूजा और उसके आनन्दरस को प्राप्त करने के परिणामरूप में वर्चस्, प्रकृष्ट सन्तान, तथा स्वस्थ और दीर्घ आयु से सम्पन्न हुआ हूं, इस रहस्य को राष्ट्र के देव आदि जानें। ताकि वे इस तथ्य का प्रसार राष्ट्र में तथा साम्राज्य में कर सकें। यह दर्शाया है कि मन्त्री ऋषिकोटि के होने चाहियें, धन लोलुप तथा पद लोलुप नहीं]।

इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत् ।
यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम् ॥३॥

(आपः) हे जलो ! (इदम्) इसे (प्रवहत) प्रवाहित कर दो (यत् च) जो (अवद्यम्) अकथनीय पाप (च) और जो (मलम्) शारीरिक मल या मानसिक तमोगुणरूपी मल है, (यत् च) और जो (अभिदुद्रोह) मुझ में द्रोह-भावना है, और जो (अनृतम्) असत्यभाषण है उसे (यत् च) और जो (अभीरुणम्) निडर अर्थात् बहादुर व्यक्ति को (शेपे) मैंने शाप दिया है, उसे [प्रवाहित कर दो]।

["प्रवाहित" करने द्वारा नदी के प्रवाह का वर्णन अभिप्रेत है। नदी के प्रवाह में बैठकर जलचिकित्सा द्वारा पाप, मल, द्रोहभावना, असत्य भाषण, और शाप के हेतुभूत क्रोध, द्वेषभावना का उपचार करने का विधान हुआ है।

अभीरुणम् = अनपराधिनम् (महीधर, यजु० ६।१७)। अभीरुणम् = अभीरुम्; नुमागम छान्दस। आपः द्वारा परमेश्वरार्थ में (यजु० ३२।१) तो सर्वशक्तिमान् की कृपा से सब बुराइयों का नाश होना सर्वथा सम्भव है]।

एधोऽस्येधिषीय समिदसि समेधिषीय ।
तेजोऽसि तेजो मयि धेहि ॥४॥

(एधः) प्रवृद्ध (असि) [हे अग्नि, मन्त्र १] तू है, (एधिषीय) मैं भी वृद्धि प्राप्त करूं, (समिद् असि) सम्यक्-प्रदीप्त तू है (सम् एधिषीय) मैं भी प्रदीप्ति द्वारा प्रवृद्ध होऊं। (तेजः असि) तू तेजोरूप या तेजस्वी है, (तेजः मयि धेहि) तेज मुझ में स्थापित कर।

[एधः = एध वृद्धौ (भ्वादिः)। एधिषीय = एध वृद्धौ, आशीर्लिङ्, सीयुट्। समिद् = सम् + इन्धी (दीप्तौ, रुधादिः)। मन्त्रवर्णन भौतिकाग्नि में सम्पन्न नहीं होता]।

सूक्त ९४

(१-३) अङ्गिराः। मन्त्रोक्तदेवता। १ गायत्री; २ विराट् पुरस्ताद् बृहती। ३ त्र्यवसाना षट्पदा भुरिग् जगती।

अपि वृश्च पुराणवद् व्रततेरिव गुष्पितम् ।
ओजो दासस्य दम्भय ॥१॥

(इव) जैसे (व्रततेः) लता के (गुष्पितम्) गुच्छे को काटा जाता है उस प्रकार (पुराणवत्) प्राचीन-विधि के अनुसार [दासस्य] उपक्षयकारी [व्यभिचारी पुरुष के अण्डकोष या लिङ्ग] को (अपि वृश्च) काट दे। और (दासस्य) उपक्षयकारी के (ओजः) वीर्यजन्य ओज को (दम्भय) विनष्ट कर दे।

[व्यभिचारी के लिङ्ग के "अपि नह्याम्यस्य मेढ्रम्" द्वारा लिङ्ग-बन्धन का भी वर्णन हुआ है (७।९९।३)। जम्भय; जम्भयतिर्वधकर्मा इति यास्कः; तथा (निघं० २।१९; सायण)। वेदानुसार व्यभिचारी को ऐसा दण्ड, पुराण-विधि है। ओजः = बलं प्रजननसमर्थं वीर्यं वा जम्भय विनाशय (सायण)]।

वयं तदस्य सम्भृतं वस्विन्द्रेण वि भजामहै ।
म्लापयामि भ्रजः शिभ्रं वरुणस्य व्रतेन ते ॥२॥

(अस्य) इस व्यभिचारी के (तत्) उस (सम्भृतम्) एकत्रित किये (वसु) धन को (इन्द्रेण) सम्राट् की आज्ञानुसार (वयम्) हम (विभजामहै) विभक्त कर लेते हैं। (ते) हे व्यभिचारिन् ! तेरे (शिभ्रम् = शुभ्रम्) शुक्ल, (भ्रजः) दीप्त वीर्य को (वरुणस्य) राष्ट्रपति के (व्रतेन) नियमानुसार (म्लापयामि) हर्षक्षयकारी कर देता हूं।

["इन्द्रेण, वरुणस्य"—"इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजु० ८। ३७)। इन्द्र है साम्राज्याधिपति[1] और वरुण है साम्राज्य के अङ्गभूत राष्ट्र का अधिपति। "लिङ्गच्छेद तथा धन का विभाग" सम्राट् तथा जिस राष्ट्र का निवासी वह व्यभिचारी है उस राष्ट्र के अधिपति,—इन दोनों के निर्णय के अनुसार होना चाहिये। म्लापयामसि=म्लै हर्षक्षये (भ्वादिः)। वीर्य और लिङ्ग के अभाव में भोगजन्य हर्ष प्राप्त नहीं हो सकता]।

यथा शेपो अपायातै स्त्रीषु चासदनावयाः।
अवस्थस्य क्नदीवतः शाङ्कुरस्य नितोदिनः।
यदाततमव तत्तनु यदुत्ततं नि तत्तनु ॥३॥

(यथा) जैसे ही (शेपः) व्यभिचारी की स्त्रीभोगसम्बन्धी इन्द्रिय (अपायातै) अपगत हो जाय, तब ही यह (स्त्रीषु च) स्त्रियों में (अनावयाः) न गति करने, न विचरने वाला (असत्) हो जाय। (अवस्थस्य) हिंसा में स्थित, (क्नदीवतः=क्रदीवतः) क्रन्दन करने वाले, (शाङ्कुरस्य) शङ्कु की तरह पीड़ित करने वाले, (नितोदिनः) नितरां मानसिक व्यथाप्रद व्यभिचारी का (यत्) जो (आततम्[2]) फैला हुआ बल है (तत्) उसे (अवतनु) हे राजन्! तू संकुचित कर, (यत्) और जो (उत्ततम्[2]) समुन्नत बल है (तत्) उसे (नि तनु) नीचा कर दे।

[अपायातै=अप+अय (गतौ)+आट्+ऐं, "वैतोऽन्यत्र" (अष्टा० ३।४।९६)। अनावयाः=अ+नुट्+आ+वय् (गतौ)+असुन्। अवस्थस्य=अव (हिंसायाम्, भ्वादिः)+स्थ। क्नदीवतः=क्रन्दन करने वाले, पापकर्मों के कारण रोने वाले (क्रदि रोदने च, भ्वादिः)]।

सप्तम काण्ड का आठवां अनुवाक समाप्त

—

१. साम्राज्य है "संयुक्त राज्य", जिस में कई राष्ट्र स्वेच्छापूर्वक संमिलित होते हैं। राष्ट्राधिपति को "वरुण" कहते हैं, जो कि निज राष्ट्र की प्रजा द्वारा निर्वाचित होता है। व्रियते इति वरुणः।

२. आततम्=वाममार्ग का अधिक विस्तार, फैल जाना। उत्ततम्=उस का अत्युग्रता में हो जाना।

सूक्त ९५

अथर्वा। इन्द्रः। त्रिष्टुभ्।

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः।
बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥१॥

(सुत्रामा) उत्तमरक्षक (स्ववान्) धनवान् या स्वजात्य-स्वसाम्राज्योत्पन्न (इन्द्रः) सम्राट् (अवोभिः) रक्षासाधनों द्वारा (सुमृडीकः) उत्तम-सुखप्रदाता (भवतु) हो, (विश्ववेदाः) वह साम्राज्य के सब महकमों का ज्ञानवान् हो। (द्वेषः बाधताम्) हमारे द्वेषियों का हनन करे, और (नः) हम प्रजाजनों को (अभयम्) भयरहित (कृणोतु) करे (सुवीर्यस्य) ताकि उत्कृष्ट वीरता के (पतयः) स्वामी (स्याम) हम हों।

सूक्त ९६

अथर्वा। इन्द्रः। त्रिष्टुभ्।

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥१॥

(सुत्रामा) उत्तमरक्षक (स्ववान्) धनवान्, या स्वजात्य-स्वसाम्राज्योत्पन्न (स इन्द्रः) वह सम्राट्, (द्वेषः) द्वेषियों को (सनुतः) अन्तर्हित करके (अस्मत्) हमसे (आरात् चित्) दूर और (युयोतु) पृथक् करे। (यज्ञियस्य) पूजनीय (तस्य) उस इन्द्र की (भद्रे सुमतौ) कल्याणकारी तथा सुखप्रद सुमति में, (अपि) तथा उसकी (सौमनसे) मानसिक प्रसन्नता में (वयं स्याम) हम हों, रहें।

[यज्ञियस्य=यज देवपूजा (भ्वादिः), अतः पूजनीय। इन्द्र जिस प्रकार की सुमति दे, तदनुरूप प्रजा रहे, और इन्द्र के मन को प्रसन्न करे। भद्रे=भदि कल्याणे सुखे च (भ्वादिः)]।

सूक्त ९७

भृग्वङ्गिराः। इन्द्रः। गायत्री।

इन्द्रेण मन्युना वयमभि ष्याम पृतन्यतः। घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति ॥१॥

(इन्द्रेण) सम्राट् [की सहायता द्वारा], (मन्युना) तथा साम्राज्य-प्रजा के (मन्युना) मननपूर्वक क्रोध द्वारा, (वयम्) हम राष्ट्रिय-प्रजाजन या राष्ट्राधिकारी वर्ग (पृतन्यतः) युद्धेच्छुक शत्रु का (अभि स्याम) पराभव करें, (वृत्राणि) राष्ट्र का आवरण करने वाले, घेरा डालने वाले शत्रुओं का (अप्रति) उन द्वारा विना प्रतिपक्ष हुए (घ्नन्तः) हनन करते हुए।

सूक्त ९८

अथर्वा। सोमः। अनुष्टुभ्।

ध्रुवं ध्रुवेण हविषाऽव सोमं नयामसि।
यथा न इन्द्रः केवलीर्विशः संमनसस्करत् ॥१॥

(ध्रुवेण) स्थिर (हविषा) सैनिक-हवि द्वारा, (ध्रुवम्) युद्ध में ध्रुवरूप (सोमम्) परकीय-सेनानायक का (अवनयामसि) हम अवपात करते हैं (यथा) ताकि (इन्द्रः) सम्राट् (नः) हम (विशः) प्रजाओं को (केवलीः) शत्रुरहित या पारस्परिक सेवा वाली, (संमनसः) और एक मन वाली (करत्) करे।

[वेदानुसार स्वरक्षार्थ किया युद्ध यज्ञरूप है, और इस युद्धयज्ञ में सैनिक हविरूप हैं। परकीय सेना का सेनाध्यक्ष जब ध्रुव होकर युद्ध लड़ रहा हो, तब आत्मरक्षार्थ युद्ध में ध्रुवरूप में, स्थिररूप में, सैनिक प्रदान करते रहना चाहिये, ताकि परकीय सेनानायक का अधोनयन किया जा सके।

सोम = सेनानायक। यथा "इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः। देव सेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्" (यजु० १७।४०)। इस मन्त्र में इन्द्र है सम्राट्; बृहस्पति है बृहती सेना का पति; और सोम है सेनाध्यक्ष जो कि युद्ध-यज्ञ को करता है। केवलीः = केवृ सेवने (भ्वादिः)। अवनयामसि = अव (अवस्तात्) + नी (नयने), अधोनयन]।

सूक्त ९९

(१-३) गृध्रौ। अनुष्टुभ्; २, ३ भुरिजौ।

उदस्य श्यावौ विथुरौ गृध्रौ द्यामिव पेततुः।
उच्छोचनप्रशोचनावस्योच्छोचनौ हृदः ॥१॥

(इव) जैसे (गृध्रौ) दो गीध (द्याम्) द्युलोक की ओर (उत् पेततुः) उड़े हैं, वैसे (अस्य) इस पुमान् [मन्त्र ३] के (श्यावौ) श्याववर्ण वाले, (विथुरौ) व्यथादायक गर्धाशील दो लोभ और मोह, द्यौः अर्थात् सिर की ओर, (हृदः[1]) हृदय से उड़े हैं, जो कि (अस्य) इस पुमान् के हृदय को (उत् शोचनौ प्रशोचनौ) शोकित तथा संतापित कर देते हैं, तथा जो लोभ-मोह (उच्छोचनौ) स्वभावतः शोकित तथा संतापित करने वाले हैं।

[हृदः = पञ्चम्यन्त तथा षष्ठ्यन्त पद। दोनों अर्थ मन्त्र में अभिप्रेत हैं। गीध वृक्ष से द्युलोक की ओर उड़ता है। इसी प्रकार लोभ-मोह हृदय से उठ कर सिर की ओर उड़ते हैं, सिर के मस्तिष्क को विकृत कर देते हैं। द्यौः द्वारा सिर को सूचित किया है। यथा "शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत" (यजु० ३१।१३) में द्यौः और सिर का परस्पर सम्बन्ध सूचित किया है। श्यावौ द्वारा लोभ-मोह को मिश्रित वर्ण वाले सूचित किया है। लोभ-मोह तमोगुण और रजोगुण के मिश्रण के परिणाम होते हैं। भाव को स्पष्ट करने के लिये मन्त्रार्थ व्याख्यामिश्रित किया है]।

अहमेनावुदतिष्ठिपं गावौ श्रान्तसदाविव।
कुर्कुराविव कूजन्तावुदवन्तौ वृकाविव ॥२॥

(अहम्) मैंने (एनौ) इन दोनों "लोभ-मोह" को (उदतिष्ठिपम्) इस के हृदय और मस्तिष्क से उठा दिया है [बहिष्कृत कर दिया है], (इव) जैसे कि (श्रान्तसदौ) थककर बैठी (गावौ) दो गौओं को, (इव) जैसे (कूजन्तौ) घुरघुराते (कुर्कुरौ) दो कुत्तों को, तथा (इव) जैसे (उदवन्तौ) मुख में लाररूपी उदक वाले (वृकौ) दो भेड़ियों को जबरदस्ती उठा दिया जाता है।

---

१. पक्षियों के निवास स्थान हैं वृक्ष, जो कि अन्तरिक्ष की ओर उठे होते हैं, इस अन्तरिक्ष से वे द्यौः की ओर उड़ते हैं, इसी प्रकार हृदय अन्तरिक्षस्थानी है। छाती में फेफड़ों में वायु तथा हृदय में रक्तरूपी जल होता है। अन्तरिक्ष में भी वायु और मेघरूपी जल होता है। इस हृदयरूपी अन्तरिक्ष से लोभ-मोहरूपी दो पक्षी, सिर या मस्तिष्करूपी द्यौः की [illegible] उड़ते हैं। वैदिक साहित्यानुसार सिर है द्यौः, छाती है अन्तरिक्ष और अन्न[illegible] पेट है अन्नाधारा पृथिवी।

[मन्त्र में प्रवक्ता है अध्यात्मशक्तिसम्पन्न व्यक्ति, जो कि निज दृढ़ मनोभावना द्वारा लोभ-मोह को हृदय और मस्तिष्क से बहिष्कृत कर देता है, उठा देता है। तीन दृष्टान्तों द्वारा लोभ-मोह के तारतम्य को सूचित किया है। गौ, कुत्ते, तथा वृक में उत्तरोत्तर लोभ-मोह की मात्रा अधिक बढ़ती जाती है। कुत्ते के खाने के लोभ को Canina-Hunger द्वारा प्रकट किया जाता है। तथा वृक के लोभ-लालच को "उदवन्तौ" द्वारा मन्त्र में सूचित किया है, जिस के मुख से खाने के लिये लार बहती रहती है]।

आतोदिनौ नितोदिनावथो संतोदिनावुत ।
अपि नह्याम्यस्य मेढ्रं य इतः स्त्री पुमान् जभार ॥३॥

लोभ-मोह (आतोदिनौ) पूर्णतया व्यथादाई हैं। (अथो) और (नितोदिनौ) नितराम् व्यथा दाई हैं। (उत) और (संतोदिनौ) ये दोनों मिल कर, या सम्यक् रूप में व्यथादाई हैं। (यः पुमान्) जिस पुमान् ने (इतः) यहां से [अर्थात् इस राष्ट्र में] (स्त्री=स्त्रीम्, स्त्रियम्) स्त्री का (जभार) अपहरण किया है, (अस्य) इसके (मेढ्रम्) लिङ्ग को (अपि) भी (नह्यामि) मैं राजा बान्ध देता हूं।

[मन्त्र में "अस्य, यः, मेढ्रम्" पदों द्वारा पुमान् ही अपराधी है अतः उसे ही लिङ्ग-बन्धनरूपी दण्ड मिला है। अतः "स्त्री" पद "जहार" क्रिया का "कर्म" होना चाहिये। स्त्रीपद में "अम्" रूपी सुप् का छान्दसलोप है। स्त्रीसंभोगकामना, लिङ्गेन्द्रिय सम्बन्धी प्रातिस्विक लोभ है। प्रत्येक इन्द्रिय सम्बन्धी प्रातिस्विक लोभ पृथक्-पृथक् है]।

सूक्त १००

कपिञ्जलः। वायसः। अनुष्टुभ्।

असदन् गावः सदनेऽपप्तद् वसतिं वयः ।
आस्थाने पर्वता अस्थुः स्थाम्नि वृक्कावतिष्ठिपम् ॥१॥

(गावः) गौएं (सदने) गोशाला में (असदन्) बैठ गई हैं, (वयः) पक्षी (वसतिम्) निज निवास-स्थान [वृक्ष] में (अपप्तत्) उड़ कर आ बैठा है; (पर्वताः) पर्वत (आस्थाने) स्वकीय स्थान में (अस्थुः) स्थित हैं, (स्थाम्नि) स्थान में (वृक्कौ) दोनों गुर्दों को (अतिष्ठिपम्) मैंने स्थापित कर दिया है।

[मन्त्र में शल्यचिकित्सक की उक्ति है। रात्री के प्रारम्भकाल या सायंकाल में गौओं और पक्षियों का निजस्थानों में स्थित हो जाने, और पर्वतों का निजस्थान में सदा स्थित रहने का कथन दृष्टान्तरूप में मन्त्र में हुआ है। वृक्कौ हैं दो गुर्दे [Kidneys]। ये अकस्मात् जन्मतः निज स्वाभाविक स्थान से स्थानान्तर में भी पैदा हो जाते हैं। इन्हें शल्यक्रिया द्वारा निज स्थानों में कर देने का निर्देश हुआ है]।

सूक्त १०१

(१-८) अथर्वा। इन्द्राग्नी। १-४ त्रिष्टुभ; ५ त्रिपदार्षी भुरिग् गायत्री। ६ त्रिपदा प्राजापत्या बृहती; ७ त्रिपदा साम्नी भुरिग् जगती; ८ उपरिष्टाद् बृहती।

यदद्य त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन् होतश्चिकित्वन्नवृणीमहीह ।
ध्रुवमयो ध्रुवमुता शविष्ठ प्रविद्वान् यज्ञमुप याहि सोमम् ॥१॥

(चिकित्वन्) ज्ञानवान् (होतः) हे होता! (यत् अद्य) जो आज (अस्मिन्) इस (प्रयति) प्रवर्तमान (यज्ञे) यज्ञ में (इह) इस स्थान में (त्वा) तुझे (अवृणीमहि) हम ने वरण किया है, चुना है, तो (शविष्ठ) हे बलवान्! (प्रविद्वान्) इस वरण को पूर्व से ही जानता हुआ तू (ध्रुवम् अयः) निश्चय से तू आ, (उत) तथा (ध्रुवम्) निश्चय से (सोमं यज्ञम्) सोमयज्ञ को लक्ष्य कर (उप) हमारे समीप (याहि) प्राप्त हो।

[सोमयज्ञ है ब्रह्मचर्य यज्ञ (सोम=वीर्य, अथर्ववेद भाष्य कां० १४।१।१०)। इह=ब्रह्मचर्याश्रम, जिसकी कि स्थापना हो रही है। अभ्यागत होता है अग्नि, अर्थात् साम्राज्य का अग्रणी[1] प्रधानमन्त्री, जिसे कि यज्ञ की तिथि का पूर्वतः ज्ञान है। प्रयति=प्र+इण् (गतौ)+शतृ (सप्तम्येकवचन; "इणो यण्" द्वारा "यण्"। शविष्ठ=शवः बल म (निघं० २।९)+इष्ठन्=अति बलवान्, बलवत्तम]।

समिन्द्र नो मनसा नेष गोभि / सूरिभिर्हरिवन्त्सं स्वस्त्या ।
सं ब्रह्मणा देवहितं यदस्ति .. देवानां सुमतौ यज्ञियानाम् ॥२॥

---

१. निरुक्त (७।४।१४)।

(इन्द्र) हे साम्राज्याधिपति सम्राट् ! (नः) हम आश्रमवासियों को (मनसा) ज्ञान तथा अवबोधन, और (गोभिः) गौओं के साथ (संनेष) सम्बद्ध कर, (हरिवन्) हे अश्वारोहिन् ! (सूरिभिः) विद्वानों के साथ (सम्) हमें सम्बद्ध कर, (स्वस्त्या) उत्तम स्थिति के साथ (सम्) हमें सम्बद्ध कर। (ब्रह्मणा) वेदविद्या के साथ (सम्) हमें सम्बद्ध कर, (यद्) जो (देवहितम् अस्ति) देवहितकर वस्तु है उस के साथ (सम्) हमें सम्बद्ध कर, (यज्ञियानाम्) सोमयज्ञ के योग्य (देवानाम्) विद्वानों और दिव्यगुणी सज्जनों की (सुमतौ) सुमति में [सं नेष] हमारा नयन कर।

[मन्त्र(१)में अग्नि द्वारा साम्राज्य के प्रधानमन्त्री का वर्णन हुआ है। मन्त्र (२) में सम्राट् का वर्णन हुआ है। आश्रमवासियों ने निज आवश्यकताओं की मांग सम्राट् से की है। आश्रम के गुरुओं तथा कर्मचारियों के खान-पान के लिये "गोभिः" द्वारा गौ आदि की व्यवस्था मांगी है। मनसा=मन ज्ञाने (दिवादिः), तथा मनु अवबोधने (तनादिः) द्वारा आश्रम में ज्ञान-अवबोधन की प्रधानता को सूचित किया है। मन है ज्ञान-अवबोधन का साधन, और ज्ञान-अवबोधन है मन द्वारा साध्य। साध्य में साधन का उपचार हुआ है। "यज्ञियानाम्, देवानाम्" द्वारा आश्रमवासियों ने आश्रम के संचालन में इन की सुमति अर्थात् शुभ परामर्श की अभ्यर्थना प्रदर्शित की है]।

यानावह उशतो देव देवांस्तान् प्रेरय स्वे अग्ने सधस्थे।
जक्षिवांसः पपिवांसो मधून्यस्मै धत्त वसवो वसूनि ॥३॥

(अग्ने देव) हे साम्राज्य के अग्रणी, देवभूत प्रधानमन्त्रिन् ! (उशतः) कामना वाले अर्थात् स्वेच्छा वाले (यान्) जिन (देवान्) गुरुदेवों को (आ अवहः) तू ने [आश्रय में] प्राप्त कराया है, नियुक्त किया है, (तान्) उन्हें (स्वे) अपने (सधस्थे) सह निवासस्थान आश्रम में (प्रेरय) निवास के लिये प्रेरित कर। (वसवः) हे वसुकोटि के गुरुओ ! (मधूनि) मधुर (जक्षिवांसः, पपिवांसः) भोज्यों और पेयों का खाना-पीना कर के, (वसूनि) निज ज्ञान-धन (अस्मै) इस आश्रम के लिये (धत्त) प्रदान करो।

[आ अवहः=लङ् लकार, वह प्रापणे (भ्वादिः)। उशतः=जिन्होंने स्वेच्छापूर्वक सेवा करना स्वीकार किया है, उन्हें। वसवः=आश्रम की स्थापना की प्रारम्भिक अवस्था में प्रविष्ट बच्चों की शिक्षा के लिये प्राथमिक कोटि के वसु-गुरुओं की ही आवश्यकता होती है, रुद्र और आदित्य

कोटि के गुरुओं की नहीं। ये "वसु", विद्या, सदाचार, सत्कर्मों और योगाभ्यास की दृष्टि से ब्रह्मचर्याश्रम के लिये अधिक उपादेय हैं। इन गुरुओं के खान-पान आदि की व्यवस्था आश्रमाधीन है, जिसका कि प्रबन्ध राज्य द्वारा होने का विधान हुआ है। "सधस्थ" है सहस्थान, आश्रम; जिसमें कि गुरुदेव सहनिवास करते हैं]।

सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्म सवने मा जुषाणाः।
वहमाना भरमाणाः स्वा वसूनि वसुं घर्मं दिवमा रोहतानु ॥४॥

(देवाः) हे गुरुदेवो ! (वः) तुम्हारे लिये (सुगा) सुगम्य (सदना=सदनानि) गृह (अकर्म) हमने तय्यार कर दिये हैं, (ये) जो तुम कि (सवने) सोमयज्ञ में—(मा जुषाणाः) मेरी प्रीतिपूर्वक सेवा करने वाले (आजग्म) आए हो। तुम (स्वा=स्वानि) अपने (वसूनि) ज्ञान-धनों को (वहमानाः) अपने साथ वहन करते हुए (भरमाणः) और उनका पोषण करते हुए, (वसुम्) निवास प्रदाई (घर्मम्) प्रदीप्त आदित्य पर, (अनु) और तत्पश्चात् (दिवम्) द्युलोक पर (आरोहत) आरोहण करो।

[सुगा=सुगानि; गृह ऐसे होने चाहियें जिन में जाना-आना सुगम हो, कपाट बड़े हों, छत्तें ऊंची हों, तथा मध्यवर्ती स्थान अच्छा खुला हो। ब्रह्मचर्य ३ प्रकार का होता है। वसुकोटि का ब्रह्मचर्य प्रातःसवन है, रुद्रकोटि का ब्रह्मचर्य माध्यन्दिनसवन है, तथा आदित्यकोटि का ब्रह्मचर्य तृतीयसवन है (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास, तथा छान्दोग्योपनिषद् ३।१६)। व्याख्येय मन्त्र (४) में "सवन" प्रातःसवन है, जोकि वसुकोटि के ब्रह्मचर्य का सूचक है। वसुकोटि के आचार्यों से निवेदन किया है कि वे निज ज्ञानभण्डार को अपने साथ लाएं, और उस ज्ञान-भण्डार को बढ़ाते रहें और जीवन की समाप्ति पर वे ऊर्ध्वारोहण करें। घर्मम्= [illegible] (जुहोत्यादिः), इस द्वारा आदित्य अभिप्रेत है, जिसमें कि "[illegible]म् खं ब्रह्म" का निवास है (यजु० ४०।१७) अन्त में मुक्तात्माओं [illegible] स्थिति "नाक" में होती है। यथा "ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः" (यजु० ३१।१६)। नाक में चतुष्पाद् ब्रह्म का साक्षात् भान होता है]।

यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ। स्वां योनिं गच्छ स्वाहा ॥५॥

(यज्ञ) हे सोमयज्ञ अर्थात् ब्रह्मचर्ययज्ञ ! (यज्ञम्) यज्ञनामक यष्टव्य-

परमेश्वर की शरण में (गच्छ) तू जा, (यज्ञपतिम्) इस यज्ञ के पति परमेश्वर की शरण में (गच्छ) तू जा। (स्वाम्) अपनी (योनिम्) योनि अर्थात् उत्पादिका पारमेश्वरी-माता की शरण में (गच्छ) जा, (स्वाहा) एतन्निमित्त हम प्रतिदिन के यज्ञ में आहुति देते हैं।

[ब्रह्मचर्याश्रम में जो ब्रह्मचर्य किया जाता है, उसे यज्ञ जानकर, उसे परमेश्वरार्पित करते हुए उसका संचालन करना चाहिये। "यज्ञ" परमेश्वर का नाम है। यथा "तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः" (यजु० ३१।९) में, "सहस्रशीर्ष" (यजु० ३१।१) पुरुष को "यज्ञं पुरुषम्" द्वारा निर्दिष्ट किया है]।

एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः। सुवीर्यः स्वाहा ॥६॥

(यज्ञपते) हे ब्रह्मचर्ययज्ञ के पति! अर्थात् रक्षक! (एषः यज्ञः) यह यज्ञ (सहसूक्तवाकः) सूक्तों के कथन के समेत, (ते) तेरे लिये समर्पित है। (सुवीर्यः) जिस में कि वीर्य का उत्तम पालन किया जाता है, (स्वाहा) यह तेरे प्रति अर्पित हो।

[सहसूक्तवाकः=ब्रह्मचर्य-यज्ञ में वीर्य का पालन होता है, और ब्रह्मचारी वैदिक सूक्तों का उच्चारण करते हुए वेदों का अध्ययन करते हैं]।

वषड्ढुतेभ्यो वषडहुतेभ्यः। देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित ॥७॥

(हुतेभ्यः) हुत देवों के लिये (वषट्) अन्नाहुतियां हों। (अहुतेभ्यः) जिन्हें अन्नाहुतियां नहीं हुईं, उन्हें भी (वषट्) अन्नाहुतियां हों। (गातुविदः) निज गन्तव्यस्थानों के जानने वाले (देवाः) हे उभयविध दिव्यजनो! (गातुम्) निज गन्तव्यस्थान को (वित्त्वा) जानकर (गातुम्) निज गन्तव्य-स्थान पर (इत) चले जाओ [विश्राम के लिये]।

[वषट्=वह+सत्=अन्नाहुतियों का वहन अर्थात् प्रापण हो। वह प्रापणे (भ्वादिः)+सत् (भवतु)। सूक्त के पर्यालोचन से प्रतीत होता है कि ब्रह्मचर्याश्रम के स्थापननिमित्त किये गये यज्ञ में दो प्रकार के देव आमन्त्रित हैं, एक वे जोकि वसुकोटि के विद्वान् हैं, जिन्हें कि गुरुरूप में नियुक्त किया है, और नियुक्ति में जिनका सत्कार भोज्यों और पेयों द्वारा हो चुका है (मन्त्र ३) दूसरे देव हैं प्रविष्ट ब्रह्मचारियों के माता-पिता तथा बन्धु-बान्धव, और अन्य अभ्यागत अतिथि। इन सब का अन्न द्वारा सत्कार अभी

नहीं हुआ, ये अहुत देव हैं, और नियुक्तवसु हुतदेव हैं। इन सब के सहभोज का वर्णन "वषट्"[1] शब्दों द्वारा हुआ है। आश्रम में इन द्विविध देवों के निवास के लिये पृथक्-पृथक् स्थान निश्चित किये हुए हैं, जिन्हें कि "गातु" कहा है, ये हैं गन्तव्य स्थान। यज्ञ की कुछ विधि अभी शेष है जिसे कि मन्त्र (८) द्वारा पूरा करना है। यह विधि कालान्तर में की जायेगी, उससे पूर्व देवों को निज गन्तव्य स्थानों में विश्राम के लिये कहा है। वित्त्वा=विदित्वा]।

मनसस्पते इमं नो दिवि देवेषु यज्ञम्।
स्वाहा दिवि स्वाहा पृथिव्यां स्वाहान्तरिक्षे स्वाहा वाते धां स्वाहा॥

(मनसस्पते) ज्ञान और अवबोधन के पति हे प्रधानाचार्य! (दिवि) ज्ञान-अवबोधन द्वारा द्योतमान ब्रह्मचर्याश्रम में, (इमम्) इस किये गए (यज्ञम्) यज्ञ को (नः) हमारे (देवेषु) वसु नामक गुरुदेवों [और ब्रह्मचारियों में] (धाम्) स्थापित कर, [कि वे (स्वाहा) स्वाहा द्वारा, इस यज्ञ को प्रतिदिन किया करें], और "दिविस्वाहा, पृथिव्यां स्वाहा, अन्तरिक्षे स्वाहा, वाते स्वाहा" पूर्वक प्रतिदिन किया करें। [प्रधानाचार्य का उत्तर है कि] मैंने देवों आदि में इस यज्ञ की स्थापना कर दी है।

[मन्त्र में प्रधानमन्त्री ने प्रधानाचार्य को यज्ञस्थापन का निर्देश किया है, और प्रधानाचार्य ने "धाम्" द्वारा उत्तर दिया है। "मनसस्पते" में मनस् का अर्थ "मनसा" के सदृश है (मन्त्र २)। मन्त्र उक्ति-प्रत्युक्तिरूप है। भावना क्लिष्ट है। अतः यथाप्रतीत अर्थ किया गया है। अर्थ की दृष्टि से [ ] इन कोष्ठों में उचित पदों का निवेश आवश्यक प्रतीत हुआ है]।

सूक्त १०२

अथर्वा। मन्त्रोक्त देवता। त्रिष्टुभ्।

सं बर्हिरक्तं हविषा घृतेन समिन्द्रेण वसुना सं मरुद्भिः।
सं देवैर्विश्वदेवेभिरक्तमिन्द्रं गच्छतु हविः स्वाहा ॥१॥

---

१. वषट् वौषट् का रूपान्तर है। वौषट्=वह+सत्। वह के हकार को "ऊठ्" और वृद्धि होकर वौषट् पद सम्पन्न हुआ है। तदनुसार वषट् का अर्थ किया है "वह+सत्" रूप में।

(बर्हिः) अन्तरिक्ष (हविषा, घृतेन) यज्ञिय-हविः और घृताहुतियों द्वारा (सम् अक्तम्) सम्यक् कान्तिमान् हुआ है, (इन्द्रेण वसुना) अन्तरिक्ष में बसी विद्युत द्वारा (सम्) सम्यक् कान्तिमान् हुआ है, (मरुद्भिः) मानसून वायुओं द्वारा (सम्) सम्यक् कान्तिमान् हुआ है। (देवैः) प्रकाशमान् (विश्वदेवेभिः) सूर्यरश्मियों द्वारा (सम् अक्तम्) सम्यक् कान्तिमान् हुआ है, (हविः) हवि (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवान् परमेश्वर को (गच्छतु) पहुंचे, (स्वाहा) तदर्थ स्वाहापूर्वक हवि का त्याग हो।

[बर्हिः अन्तरिक्षनाम (निघं० १।३)। मरुद्भिः=मानसून वायुएं, यथा "मारुताः पर्जन्यघोषिणः" (अथर्व० ४।१५।४; तथा ४।१५।१-१६)। विश्वदेवेभिः=एते वै रश्मयो विश्वे देवाः (श० ब्रा० १२।४।४।६)।

अक्तम्=अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु (रुधादिः)। मन्त्र में वर्षा ऋतु का वर्णन है, और अन्तरिक्ष को विद्युत् और मेघों द्वारा कान्तिसम्पन्न कहा है। साथ ही वर्षाकालीन यज्ञ का कथन कर उसे परमेश्वरार्पित किया है]।

सूक्त १०३

अथर्वा । मन्त्रोक्त देवता । त्रिष्टुभ् ।

परि स्तृणीहि परि धेहि वेदिं मा जामिं मोषीरमुया शयानाम् ।
होतृषदनं हरितं हिरण्ययं निष्का एते यजमानस्य लोके ॥१॥

(वेदिम्) यज्ञवेदि को (परि) सब ओर (स्तृणीहि) आच्छादित कर, (परि धेहि) और उसे परिधि द्वारा घेर, (अमुया) उस वेदि के समीप (शयानाम्) शयन की हुई (जामिम्) यजमान-पत्नी को (मा मोषीः) कष्ट न पहुंचा। होतृषदनम्—होता के बैठने का आसन (हरितम) मनोहारी तथा (हिरण्ययम्) हिरण्यमय हो। (यजमानस्य) यजमान के (लोके) घर में (एते निष्काः) ये निष्क [पर्याप्त] हैं।

[यज्ञारम्भ करने से पूर्व अभ्यागतों के बैठने के लिये वेदि पर आसन बिछा देने चाहियें, और यज्ञवेदि को परिधियों द्वारा घेर देना चाहिये, ताकि कोई पशु यज्ञवेदि में प्रवेश न पा सके। यदि किसी व्रत को धारण कर, यजमान की पत्नी, यज्ञ की पूर्वरात्री में वेदि के समीप आकर शयन कर रही हो तो उसके शयन में किसी प्रकार भी बाधा या विघ्न न होना चाहिये। यजमान धनवान् है अतः उसके होता का आसन, उसके सत्कारार्थ, सुवर्णमय होना

चाहिये। निष्काः="निष्कः A golden coin of different values" (आप्टे)। निष्कः=निः (निश्चित परिमाण वाला)+कः (क्रय-विक्रय का साधन)। जिसे मुद्रा और सिक्का कहते हैं, और जिसे राज्य द्वारा निर्मित किया जाता है। निष्क का अर्थ सुवर्ण-हार भी होता है।

मोषीः=इस द्वारा सोई हुई पत्नी की निद्रा के अपहरण करने को स्तेय कहा है "मुष स्तेये" (क्र्यादिः)। निद्रा भी एक धन है, उस का अपहरण करने वाला मानो धन का अपहरण करता है, अतः चोर है। निष्कः= सिक्का। "नि" के "न्" का लोप, शेष बचा, "इष्क"=इ+स्+क=सिक सिक्का (सुवर्णमय)]।

सूक्त १०४

यमः । दुःष्वप्ननाशनम् । अनुष्टुभ् ।

पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यादभूत्याः ।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥१॥

(दुष्वप्न्यात् पापात्) बुरे स्वप्न से पैदा हुए (पापात्) पाप से, (स्वप्न्यात्) तथा स्वप्न से पैदा हुई (अभूत्याः) अभूति से, भूति अर्थात् सम्पद् के विनाश से (पर्यावर्ते) मैं प्रतिनिवृत्त होता हूं, एतदर्थ (अहम्) मैं (ब्रह्म) ब्रह्मप्रतिपादक मन्त्रों को (अन्तरम्)[1] व्यवधायक (कृण्वे) करता हूं, (स्वप्नमुखाः) इस से स्वप्न द्वारा प्राप्त (शुचः) शोक-सन्ताप (परा) मुझ से पराभूत हो गए हैं।

[सोने से पूर्व शिवसंकल्प मन्त्रपाठ द्वारा, या ब्रह्म से प्रार्थना करके "आप की कृपा से, मुझे दुःखदायक स्वप्न न हों" सोया जाय, तो बुरे स्वप्न नहीं होते। यह अनुभूत है]।

सूक्त १०५

यमः । दुःष्वप्ननाशनम् । अनुष्टुभ् ।

यत् स्वप्ने अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते ।
सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद् दृश्यते दिवा ॥१॥

---

१. अथवा "ब्रह्म को मैं आभ्यन्तर रक्षक करता हूं। यथा "ब्रह्म वर्म ममान्तरम्" (अथर्व० १।१९।४), ब्रह्म मेरी आभ्यन्तर वर्म अर्थात् कवच है, मन का कवच है। वर्म=बुरे विचारों को निवारण करने वाला, उनसे रक्षा करने वाला, कवच।

(स्वप्ने) स्वप्न में (यत्, अन्नम्, अश्नामि) जो अन्न मैं खाता हूं, और (प्रातः, न अधिगम्यते) प्रातःकाल वह नहीं अधिगत होता, नहीं दीखता [सायण], (तत् सर्वम्) वह सब (मे, शिवम्, अस्तु) मेरे लिये मङ्गलकारी हो (हि) यतः (तत्) वह (दिवा) दिन के समय (न दृश्यते) नहीं दीखता।

[सायण ने "अन्नम्" के सम्बन्ध में कहा कि "अन्नभोजनसदृशम्, अखाद्यभक्षणादिकम्", अर्थात् अन्नभोजन के सदृश अखाद्यभक्षण आदि", मांस-शराब आदि। ऐसा स्वप्न अमंगलकारी है, अतः मङ्गल की प्रार्थना की गई है]।

सूक्त १०६

प्रजापतिः। नाना देवताः। विराट् पुरस्ताद् बृहती।

नमस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामन्तरिक्षाय मृत्यवे।
मेक्षाम्यूर्ध्वस्तिष्ठन् मा मा हिंसिषुरीश्वराः ॥१॥

(द्यावापृथिवीभ्याम्, अन्तरिक्षाय, मृत्यवे) द्युलोक और पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्षलोक के स्वामी मृत्युनामक परमेश्वर के लिये (नमस्कृत्य) नमः करके, (ऊर्ध्वः तिष्ठन्) उठ खड़ा होकर, (मोक्षामि) मैं जो चलता हूं [दैनिक कार्यों के करने के लिये] तब (ईश्वराः) भूलोक की अधोश्वर शक्तियां (मा) मेरी (मा हिंसिषुः) हिंसा न करें, मुझे किसी प्रकार का कष्ट न पहुंचाएं।

[मन्त्र में द्यावा आदि प्रयोग लाक्षणिक हैं। इन द्वारा इन में व्यापक और इनका अधिष्टाता परमेश्वर अभिप्रेत है, जैसे कि "मञ्चाः क्रोशन्ति" में मञ्च द्वारा मञ्चस्थ पुरुष अभिप्रेत होते हैं। वेद और बुद्धि के अनुसार जड़ पदार्थों को नमस्कार अनुपपन्न है। पौराणिक विद्वान् भी तो द्यौः आदि जड़ पदार्थों को नमस्कार नहीं मानते, और वे इन द्यौः आदि के अधिष्ठाता चेतन देवों के प्रति ही नमस्कार मानते हैं। मृत्यवे द्वारा परमेश्वर ही अभिप्रेत है, यह परमेश्वर का नाम है। यथा "स एव मृत्युः सोऽमृतं सो अभ्वं स रक्षः" (अथर्व० काण्ड १३। अनुवाक चतुर्थ, पर्याय तृतीय के मन्त्र ४ (अनुवाक के मन्त्र २५) में परमेश्वर को "मृत्यु" कहा है।

मेक्षामि—यह पद "मख या मखि गतौ" (भ्वादिः) का रूप प्रतीत होता है। अथर्ववेद के आङ्गलभाषा के अनुवादक ह्विटनी ने 'ऊर्ध्वः तिष्ठन् मेक्षामि' का अर्थ किया है "I will urinate standing arect" अर्थात् मैं सीधा खड़ा होकर मूत्र करूंगा। इस अर्थ में "मेक्षामि" पद को ह्विटनी ने "मिह सेचने" का भविष्यत्-कालिक रूप माना है। वेदानुयायी हिन्दुओं में खड़े होकर मूत्र करने की प्रथा नहीं। वर्तमान में पैण्ट-धारी लोगों में यह प्रथा अंग्रेजी प्रथा से आई है।

सायण ने निम्नलिखित अर्थ किया है "तिष्ठन् आसीनोऽहम् ऊर्ध्वः ऊर्ध्ववत् ऊर्ध्वमुखो मैष्यामि। ऊर्ध्वलोकं मा गमिष्यामीत्यर्थः। यद्वा नमस्कारेण ऊर्ध्वो मा गमिष्यामि किं तु तिष्ठन् इह लोके चिरकालावस्थायी भवामीति शेषः"। सायण ने मेक्षामि के स्थान में मैष्यामि पाठ माना है]।

सप्तम काण्ड का नवम अनुवाक समाप्त

सूक्त १०७

ब्रह्मा। आत्मा। त्रिष्टुभ्।

को अस्या नो द्रुहोऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्य इच्छन्।
को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः ॥१॥

(क्षत्रियः) क्षतों से त्राण करने वाला, और (वस्यः इच्छन्) श्रेष्ठ राज्य सम्पत् चाहता हुआ (कः) कौन व्यक्ति (अस्याः) इस (अवद्यवत्याः) निन्दा से युक्त (द्रुहः) जिघांसा से (नः) हम प्रजाजनों का (उन्नेष्यति) उद्धार करेगा। (कः) कौन (यज्ञकामः) राष्ट्र-यज्ञ की कामना वाला है, (कः उ) और कौन (पूर्तिकामः) राष्ट्र-यज्ञ की पूर्ति की कामना वाला है, (कः) कौन (देवेषु) राष्ट्र के देवों में (दीर्घम्, आयुः) दीर्घ आयु (वनुते) चाहता है।

[यदि कोई राष्ट्र, परकीय राष्ट्रपति की जिघांसा का शिकार बन जाय, तो हिंसित राष्ट्र के प्रजाजन निज उद्धार के लिये किसी क्षत्रिय द्वारा सहायता के अभिलाषी मन्त्र में प्रतीत होते हैं। "दीर्घम् आयुः" का अभिप्राय है पराजित हुए राष्ट्र को पुनः स्वतन्त्र कर, राष्ट्र के शासक-देवों में सदा कीर्तिलाभ द्वारा ऐतिहासिक दृष्टि से सदा जीवित रहना। (वनुते—वनु याचने (तनादिः)]।

सूक्त १०८

ब्रह्मा । आत्मा । त्रिष्टुभ् ।

कः पृश्निं धेनुं वरुणेन दत्तामथर्वणे सुदुघां नित्यवत्साम् ।
बृहस्पतिना सख्यं जुषाणो यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥१॥

(वरुणेन) वरणीय श्रेष्ठ परमेश्वर द्वारा (अथर्वणे) अथर्वा को (दत्ताम्) दी गई, (सुदुघाम्) सुगमता से दोही जाने वाली, (नित्यवत्साम्) नित्य बछड़ो वाली, (पृश्निम्) नानावर्णों वाली (धेनुम्) दुधारू गौ को (कः) कौन (बृहस्पतिना) बृहती वेदवाणी के पति परमेश्वर के साथ (सख्यम्) सखिभाव का (जुषाणः) प्रीतिपूर्वक सेवन करने वाला, (यथावशम्) निज कामनानुसार (तन्वः) निज तनुओं को (कल्पयाति) सामर्थ्ययुक्त करे, या करता है ।

[वरुण है सब द्वारा वरणीय श्रेष्ठ परमेश्वर । अथर्वा है अचल चित्त-वृत्ति वाला परमयोगी । यथा—"अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त[1] हिरण्यये" (अथर्व० १०।१०।१७) अर्थात् जिस हिरण्यमय आसन पर अथर्वा आसीन हुआ है । और हिरण्यय [हिरण्यमय] आसन या कोश है, हृदय (अथर्व० १०।२।३१,३२) । इसे हिरण्ययी पुर् भी कहा है (अथर्व० १०।२।३३) । इस हृदयासन में अथर्वा योगावस्था में स्थित होता है और इस अवस्था में अथर्वा को वेदवाणी का साक्षात्कार भी वरुण की कृपा से होता है । वरुण को बृहती वाणी का पति बृहस्पति भी कहा है । वेदवाणी ज्ञान-दुग्ध प्रदान करती है, और सदा प्रदान करती है, यतः यह नित्यवत्सा है । नित्यवत्सा द्वारा वेदवाणीरूपी धेनु को सदा ज्ञान-दुग्ध प्रदात्री कहा है । यह धेनु सुगमता से दोही जा सकती है उस गोग्धा द्वारा जो इस की नित्यसेवा करता है, श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय करता रहता है । जैसे कि कहा है "उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः" (ऋ० १०।७१।४), अर्थात् सतत स्वाध्यायी के लिये वेदवाणी अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है जैसे कि कामनावाली पत्नी पति के प्रति अपनी तनू को प्रकट कर देती है । अतः वेद

१. बर्हिषि=बर्हिः अन्तरिक्षनाम (निघं० १।३) । यहां अन्तरिक्ष द्वारा हृदयान्तरिक्ष अभिप्रेत है जहां अथर्वा योगासीन होता है । हृदय को कोश तथा पुर् भी कहा है ।

धेनु सुदुघा है । वेद-धेनु नाना वर्णों वाली है, नानाविध पदार्थों का वर्णन करती है, जैसे कि चितकबरी धेनु नाना वर्णों वाली होती है । जो व्यक्ति सदा वेद-धेनु की सेवा करता, और बृहस्पति के साथ सखिभाव में रहता है वह निज कामनानुसार अपनी तीन तनूओं, देहों को सामर्थ्यसम्पन्न कर लेता है । ये तनू हैं, स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर ।

अथवा

"यथावशं तन्वः कल्पयाति" का यह भी अभिप्राय हो सकता है कि योगी के यदि कोई अवशिष्ट कर्म हैं जिन्हें कि देहान्तरों में भोगा जा सकता है तो वह "यथावशम्" अर्थात् निज कामना द्वारा उन देहान्तरों का निर्माण कर अवशिष्टकर्मों के फलों को भोगकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है । सम्भवतः यह है "तन्वः कल्पयाति" का अभिप्राय । एतदर्थ देखो योगदर्शन के सूत्र (योग, कैवल्यपाद, सूत्र १-५)] ।

सूक्त १०९

अथर्वा । मन्त्रोक्त देवता । अनुष्टुभ् ।

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः ।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः स ॥१॥

हे ब्रह्मचारिन् ! (पौरुषेयात्) सर्वसाधार पुरुषों के कर्मों से (अपक्रामन्) हटता हुआ, और (दैव्यम्) दिव्य (...) वेदवाणी का (वृणानः) वरण करता हुआ, (विश्वेभिः सखिभिः स...) सब ब्रह्मचारी सखाओं के साथ (प्रणीतीः) प्रणय अर्थात् प्रेमपूर्वक (अभ्यावर्तस्व) वर्ताव किया कर ।

[प्रविष्ट—ब्रह्मचारी के उपनयन काल में उसे उपदेश दिया है, (कौशिक सूत्र १५।१६)] ।

सूक्त ११०

अथर्वा । मन्त्रोक्त देवता तथा जातवेदः । बृहतीगर्भा त्रिष्टुभ् ।

यदस्मृति चकृम किंचिदग्न उपारिम चरणे जातवेदः ।
ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः ॥१॥

(अग्ने) हे ज्ञानाग्निसम्पन्न परमेश्वर ! तथा (जातवेदः) हे प्रति-उत्पन्न पदार्थ में विद्यमान परमेश्वर ! (अस्मृति) विस्मृति के कारण (यत्

किंचित्) जो कुछ (चकृम) हम से कर्म हो गया है, (चरणे) तथा आचार-व्यवहार में (उपारिम) जो त्रुटि हुई है, (ततः) उससे (प्रचेतः) हे प्रज्ञानी! (त्वम्) तू (नः) हमारी (पाहि) रक्षा कर, (शुभे) ताकि शुभकर्मों में विद्यमान (नः) हम (सखिभ्यः) सखाओं के लिये (अमृतत्वम्, अस्तु) मोक्ष हो।

[सखिभ्यः=हम जो तेरे सखा हैं, हे परमेश्वर! । गुरुकुल शिक्षा के समाप्ति काल में परमेश्वर से स्नातकों द्वारा प्रार्थना]।

सूक्त १११

भृगुः। सप्त सूर्यरश्मियां। अनुष्टुभ्।

अव॑ दि॒वस्ता॑रयन्ति स॒प्त सूर्य॑स्य र॒श्मयः॑।
आपः॑ समु॒द्रिया॒ धारा॒स्तास्ते॑ श॒ल्यम॑सिस्रसन् ॥१॥

(सूर्यस्य) सूर्य की (सप्त रश्मयः) सात रश्मियां (दिवः) द्युलोक से, (अवतारयन्ति) नीचे की ओर उतारती हैं, [जल] (आपः) जल जो कि (समुद्रियाः धाराः) अन्तरिक्ष से धारा रूप में [बरसते हैं], (ताः) वे जल (ते) तेरी (शल्यम्) रोगजन्य पीड़ा को (असिस्रसन्) दूर करें।

[सूर्य की शुभ्र-रश्मि सात रश्मियों का समूह है। यह शुभ्ररश्मि सात रश्मियों में विभक्त हो जाती है। वर्षाऋतु में इन्द्रधनुष के रूप में ये सात रश्मियां प्रकट होती हैं। उस समय अन्तरिक्ष से धारारूप में प्राप्त वर्षा जल रोगजन्य पीड़ा को दूर करता है। समुद्रः अन्तरिक्षनाम (निघं० १।३) तथा (निरुक्त २।१०)। असिस्रसन्=स्रंसु अवस्रंसने (भ्वादिः); लुङि चङ्, सन्वद्भावात् "सन्यतः" इति (अष्टा० ७।४।७९) द्वारा अभ्यास को इत्व (सायण)]।

सूक्त ११२

(१-२) भृगुः। अग्निः। त्रिष्टुभ्; १ बृहतीगर्भा।

यो न॒स्ताय॒द् दिप्स॑ति॒ यो न॑ आ॒विः स्वो वि॒द्वानर॑णो वा नो अग्ने।
प्र॒ती॒च्ये॒त्वर॑णी द॒त्वती॒ तान् मैषा॑मग्ने॒ वास्तु॑ भू॒न्मो अप॑त्यम् ॥१॥

(अग्ने) हे राष्ट्र या साम्राज्य के अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (यः) जो (स्तायत्)[1] छिप कर (नः) हमारी (दिप्सति) दम्भपूर्वक हिंसा करना चाहता है, (यः) और जो (नः) हमारी (आविः) प्रकटरूप में [दम्भपूर्वक हिंसा करना चाहता है], वह (स्वः नः) हमारा अपना हो (विद्वान्) जो कि हमारे भेद को जानता हो, (वा) या (अरणः) अराति हो, पराया हो, (तान्) उन्हें (दत्वती[2]) दान्तवाली, (अरणी[3]) काष्ठनिर्मित सांपाकृतिक सांपनी, (प्रतीची) उनके प्रति गमन करने वाली, (एतु) उन्हें प्राप्त हो। (अग्ने) हे अग्रणी! (मा, एषाम्, वास्तु) न तो इनके वसने का घर (भूत्) हो, (मा उ) और न इनकी (अपत्यम्) सन्तान रहे।

[काष्ठनिर्मित सांपाकृतिक-सांपनी अस्त्रविशेष है, जो शत्रु को काट कर, उनमें विष का संचार कर देता है। ऐसे अन्य अस्त्रों के लिये देखो (अथर्व० ८।८।१-२०)। अरणः=अ+रण (शब्दे), जिसके साथ हमारा शाब्दिक व्यवहार नहीं]।

यो नः॑ सु॒प्तान् जाग्र॑तो वाभि॒दासा॒त् तिष्ठ॑तो॒ वा॒ चर॑तो जातवेदः।
वै॒श्वा॒न॒रेण॑ स॒युजा॑ स॒जोषा॒स्तान् प्र॒ती॒चो॒ निर्द॑ह जातवेदः ॥२॥

(जातवेदः) हे प्रज्ञानी प्रधानमन्त्रिन्! (यः) जो शत्रु (नः) हम (सुप्तान्) सोए हुओं, (जाग्रतः वा) या जागते हुओं, (तिष्ठतः) बैठे हुओं, (वा) या (चरतः) चलते हुओं को (अभिदासात्) उपक्षीण करे, विनष्ट

१. पदपाठ में "तायत्" पाठ है। अथर्व० (४।१६।१) में भी "तायत्" पाठ है; तथा "तायवः" (अथर्व० १३।२।१७; २०।४७।१४) में भी सकार रहित पाठ है।

२, ३. अरणी शमीवृक्ष का काष्ठ है, जिसकी रगड़ द्वारा यज्ञियाग्नि पैदा की जाती है। यह काष्ठ आग्नेय है। इस काष्ठ द्वारा "दत्वती अरणी" नामक कृत्रिम सांपनी निर्मित की जाती है, जोकि युद्ध सम्बन्धी अस्त्र विशेष है। अथर्व० (४।३।२; १९।४७।७) में "दत्वती-रज्जु" का भी वर्णन है। यह काष्ठनिर्मित नहीं होती, अपि तु रज्जुनिर्मित होती है, और इसका मुखभाग दान्तवाले सांप के सदृश होता है। यह रज्जु आग्नेय-विस्फोटकों द्वारा निर्मित प्रतीत होती है, जैसी कि "उपध्मानी पूतिरज्जु" (अथर्व० ८।८।२), अर्थात् अग्निसहित शब्द करने वाली, दुर्गन्ध फैला देने वाली रस्सी।

करे, (तान्) उन (प्रतीचः) वापिस लौटते हुओं को (जातवेदः) हे प्रज्ञानी प्रधानमन्त्रिन् ! (सयुजा) सहयोगी (वैश्वानरेण) प्राकृतिक अर्थात् भौमाग्नि (सजोषाः) के साथ प्रीति रखने वाला तू (निर्दह) निःशेषेण दग्ध कर।

[वैश्वानरेण = भौमाग्निना। यथा "अयमेवाग्निर्वैश्वानर इति शाकपूणिः। विश्वानरावेते उत्तरे ज्योतिषी, वैश्वानरोऽयं यत् ताभ्यां जायते" (निरुक्त ७।६।२३)]।

सूक्त ११३

(१-७) बादरायणिः। मन्त्रोक्त देवता तथा अग्निः। अनुष्टुभ्; १ विराट पुरस्ताद् बृहती; २,३,५,६ त्रिष्टुभ्।

इदमुग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी।
घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडातीदृशे ॥१॥

(उग्राय) न्याय करने में कठोर, (बभ्रवे) भरण-पोषण करने वाले परमेश्वर के लिये (इदम्, नमः) यह हमारा नमस्कार हो, (यः) जो (अक्षेषु [सत्सु]) इन्द्रियों के होते हुए (तनूवशी) शरीरों को वश में [करने की शक्ति प्रदान) करता हैं। (कलिम्) कलिकाल में, कलियुग में (घृतेन) घृतादि पदार्थों के साथ [प्रजाजन को] (शिक्षामि) मैं शिक्षा प्रदान करता हूं, (सः) वह परमेश्वर (ईदृशे) ऐसे कर्म में (नः) हमें (मृडाति) सुखी करे।

[अक्षेषु = अक्षम् = an organ of sense (आप्टे) = इन्द्रियां। शरीर में इन्द्रियाँ तो अश्व हैं, जो कि शरीर-रथ को विषयों की ओर ले जाती हैं, तब भी परमेश्वराराधना द्वारा परमेश्वर शक्ति प्रदान करता है जिस से हम तनुओं को वश में करते हैं, इन्हें विषयों में नहीं जाने देते। शिक्षामि = यह प्रधानमन्त्री की उक्ति है जोकि राष्ट्रकर्मों में अग्रणी है (मन्त्र २)। कलिकाल में शिक्षा की अत्यावश्यकता है, ताकि कलिकाल में प्रजाजन कलि के प्रभाव से बचे रहें। कलिकाल में प्रजा स्वार्थप्रधान हो जाती है, अतः प्रधान-मन्त्री दुष्प्राप्य घृतादि पदार्थों द्वारा भी प्रजा की सेवा करता है]।

घृतमप्सराभ्यो वह त्वमग्ने पांसूनक्षेभ्यः सिकता अपश्च।
यथाभागं हव्यदातिं जुषाणा मदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥२॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन् ! (त्वम्) तू (अप्सराभ्यः) अन्तरिक्ष में सरण करने वाली प्राकृतिक शक्तियों के लिये (घृतम्) घृताहुतियों द्वारा घृत (वह) प्राप्त करा, और (अक्षेभ्यः) अक्षक्रीड़ा करने वालों के लिये (पांसून्) रजःकण अर्थात् रेता, (सिकताः) बजरी (च) और (अपः) कारागार में कर्म करना, प्राप्त करा। (देवाः) और राष्ट्र के [मन्त्र ६] दिव्यगुणी व्यक्ति (यथाभागम्) निज भागानुसार (हव्यदातिम्) प्रदत्त हवि का (जुषाणाः) प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए (उभयानि हव्या = हव्यानि) दोनों प्रकार की हवियों का [आस्वादन करते हुए] (मदन्ति) तृप्त रहें।

[अप्सराभ्यः = ओषधयोऽप्सरसः। मरीचयोऽप्सरसः। आपोऽप्सरसः। (यजु० १८।३८, ३९, ४१, यथाक्रम)। घृताहुतियों द्वारा प्राकृतिक शक्तियां तथा प्राणी पुष्ट हो कर दीर्घायु होते हैं। यथा "आयुर्वै घृतम्"। ऋग्वेद में कहा है कि "अक्षैर्मा दीव्यः" (ऋ० १०।३४।१३), तू अक्षों द्वारा द्यूतक्रीडा न कर। वैदिक आदेशों में परस्पर विरोध नहीं होता। अतः व्याख्येय मन्त्र में अक्षक्रीडा करने वालों के लिये दण्ड विधान किया है कि उन्हें कारागार में बन्द कर, उन्हें पत्त्थर कूट कर [राष्ट्र के लिये] रेता, बजरी तय्यार करने में लगाना चाहिये। अपः कर्मनाम (निघं० २।१)। मन्त्र में "अपः" का अर्थ है रेता, बजरी तय्यार करना रूपी कर्म। सायणाचार्य ने यह भावना प्रकट की है कि "जिससे विरोधी कितवों का पराजय हो सके उनके मुखों में पांसु आदि फेंक"। राष्ट्र के देवों को हव्य अर्थात् सात्त्विक पदार्थ खाने-पीने के लिये देने चाहियें। यथा व्रीहि-यव, तथा गोदुग्ध आदि]।

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च।
ता मे हस्तौ सं सृजन्तु घृतेन सपत्नं मे कितवं रन्धयन्तु ॥३॥

(हविर्धानम्) हवियों के निधान भूलोक (च) और (सूर्यम्) सूर्य के (अन्तरा) अन्तराल में (अप्सरसः) अप्सराएं [मन्त्र २] (सधमादम्, मदन्ति) पारस्परिक मोद में प्रमुदित होती हैं। (ताः) वे अप्सराएं (मे) मुझ [अग्नि (मन्त्र २)] अग्रणी के (हस्तौ) दोनों हाथों को (घृतेन) घृत आदि द्वारा (संसृजन्तु) संयुक्त करें, और (कितवम्) कितव जोकि (मे) मुझ अग्रणी का (सपत्नम्) शत्रु है उसे (रन्धयन्तु) हिंसित करें, या मेरे वश में करें।

[अप्सराएं हैं तो प्राकृतिक शक्तियां, जिन्हें कि घृताहुतीयों द्वारा रोग-रहित कर पुष्ट किया है (मन्त्र २)। ये अन्तरिक्ष में विचरती हैं, अर्थात् भूलोक और सूर्य के अन्तराल में। ये पुष्ट होकर, वर्षाप्रदान द्वारा, मुख्य प्रधानमन्त्री के दोनों हाथों को प्रभूत घृत आदि पदार्थों से भर देती हैं। मानो राष्ट्र को भर देतीं हैं। इससे कितवों को मैं अपने वश में कर लेता हूं, यह वशीकरण उनके कितवपन की हिंसा भी कर देता है। राष्ट्र में प्रभूत सामग्री के कारण द्यूत द्वारा अन्य धन की प्राप्ति की अभिलाषा नहीं रहती, द्यूत में तो लाभ और हानि दोनों की सम्भावना रहती है। रन्धयन्तु=रध हिंसासंराध्योः (दिवादिः) तथा रध्यतिर्वशगमने (निरुक्त १०।४०)]।

आदिनवं प्रतिदीव्ने घृतेनास्माँ अभि क्षर ।
वृक्षमिवाशन्या जहि यो अस्मान् प्रतिदीव्यति ॥४॥

(प्रतिदीव्ने) प्रतिद्वन्द्वी-विजिगीषु-सैन्यदल के पराजयार्थ, (आदिनवम्) मैंने विजिगीषु-सैन्यदल प्रेषित किया है,[हे अग्नि! (मन्त्र २) तू](अस्मान्) हमें (घृतेन) घृतादि द्वारा (अभिक्षर) सींच। (यः) जो शत्रु (अस्मान्) हमारे प्रति (प्रतिदीव्यति) प्रतिद्वन्द्विता में विजिगीषु सैन्यदल प्रेषित करता है उसका (जहि) तू हनन कर (अशन्या) विद्युत् द्वारा (वृक्षम्, इव) जैसे वृक्ष का हनन होता है।

[आदिनवम्=आङ् पूर्वात् दीव्यतेः छन्दसि लङि, व्यत्ययेन श्नुः। लोपो व्योर्वलि (अष्टा० ६।१।६६) इति वकारलोपः। अमादेशो गुणश्च (सायण)। दिव्=विजिगीषा (दिवादिः)। प्रतिदीव्ने=तुमुन्नर्थे चतुर्थी। तम् पराजेतुम्। निज सेनापति का कथन अग्नि=अग्रणी के प्रति है]।

यो नो द्युवे धनमिदं चकार यो अक्षाणां ग्लहनं शेषणं च ।
स नो देवो हविरिदं जुषाणो गन्धर्वेभिः सधमादं मदेम ॥५॥

(यः) जिस [अग्नि=अग्रणी] ने (नः) हमारे (द्युवे) व्यवहार-कर्म के लिये (इदम्) इस (धनम्) मुद्रा-धन को (चकार) निश्चित या निर्मित किया, (यः) तथा जिसने (अक्षाणाम्) द्यूतकर्म के पाशों का, या उन द्वारा द्यूतकर्म करने वालों को (ग्लहनम्) पकड़ा (च) और (शेषणम्) उनका विनाश [चकार] किया, (सः) वह (नः देव.) हमारा देव [अग्नि=अग्रणी] (इदम्) इस (हविः) सात्विक-अन्न का (जुषाणः) प्रीतिपूर्वक सेवन करे,

और हम प्रजाएं (गन्धर्वेभिः) पृथिवी के धारण करने वाले भूपतियों के साथ मिलकर (सधमादम्, मदेम) पारस्परिक आनन्द में आनन्दित हों।

[द्युवे=दिव् धातु, व्यवहारार्थक का चतुर्थ्येकवचन में रूप। दिवु "क्रीडाविजिगीषाव्यवहार" आदि (दिवादिः); क्षिव्, वकार को ऊठ् [च्छ्वोः शूडनुनासिके च; अष्टा० ६।४।१९] यण् (सायण)+उवङ्+चतुर्थ्येकवचन "ङे"। अक्षाणां ग्लहनम्=द्यूत ने वाले के पाशों को ले लेना और उन्हें विनष्ट कर देना। ग्लह=गृहू ग्रह ग्लह च (भ्वादिः)। शेषणम्=शिष हिंसार्थः (भ्वादिः), अथवा अक्षाणा अक्षैः दीव्यतां कितवानाम्, तेषां ग्लहणं शेषणम् च। गन्धर्वेभिः=गौः पृ नाम (निघं० १।१)+धृञ् धारणे]।

संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्यक्षाः ।
तेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥६॥

(अक्षाः) न्यायालय के अध्यक्ष, (उग्रंपश्याः) कठोरतापूर्वक [कितवों पर] दृष्टि रखते हैं, और इस प्रकार (हि) निश्चय से (राष्ट्रभृतः) राष्ट्र का भरण-पोषण करते हैं, (वः) हे अध्यक्षो! तुम्हारा (नामधेयम्) नाम है (संवसवः[1] इति) सम्यक् वसाने वाले, प्रजाओं को राष्ट्र में सम्यक्-वसाने वाले। (इन्दवः) हे चन्द्रसम शीतल हृदयों वाले अध्यक्षो! (तेभ्यः वः) उन प्रसिद्ध तुम्हारे लिये (हविषा) सात्विक अन्न द्वारा (विधेम) हम परिचर्या करें, सेवा करें, (वयम्) हम [आपकी अध्यक्षता में] (रयीणाम्) सम्पत्तियों के (पतयः) स्वामी (स्याम) हों।

[अक्षः=Legal procedure, a law-suit (आप्टे), अर्थात् न्याय सम्बन्धी प्रक्रिया; तथा न्यायालय में किया अभियोग, मुकदमा। न्यायाध्यक्ष, राष्ट्रकर्म विरोधियों पर उग्रंपश्याः होकर, वस्तुतः राष्ट्र का भरण-पोषण करते हैं। वे उग्रंपश्याः होते हुए भी "इन्दवः" चन्द्रसम शीतल हृदयों वाले होते हैं। राष्ट्र के भरण-पोषण से राष्ट्र में सम्पत्तियों की वृद्धि होती है। ऐसे अध्यक्षों का सत्कार करना चाहिये]।

---

१. अथवा तुम मिलकर राष्ट्र के वसुरूप हो, रत्नरूप हो। संवसवः = संभूय वसवः।

देवान् यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम ।
अक्षान् यद् बभ्रूनालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे ॥७॥

(नाथितः) उपतप्त-संतप्त हुआ (यत्) जो (देवान् हुवे) मैं देवों का आह्वान करता हूं, उनकी शरण में जाता हूं, (यत्) और जो (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य (ऊषिम) वास हमने किया है, (यत्) जो (बभ्रून) भरण-पोषण करने (अक्षान्[1]) न्यायाध्यक्षों को (आलभे) मैं प्राप्त करता हूं, (ईदृशे) इस प्रकार के कर्म-कलाप में, (ते) वे सब, (नः) हमें (मृडन्तु) सुखी करें।

[ब्रह्मचर्यवास और द्यूतकर्म परस्पर विरोधी हैं। ब्रह्मचर्यवास में वीर्य-रक्षा, वेदाध्ययन नियमित जीवन के होते व्यक्ति द्यूत आदि कर्मों में प्रवृत्त नहीं हो सकता। अतः यह समग्र सूक्त द्यूतकर्म का विधायक नहीं, अपितु निषेधक है। देवों के आह्वान और ब्रह्मचर्यवास इन दोनों का, द्यूतक्रीडा के अक्षों की प्राप्ति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता, अक्षों अर्थात् न्यायालयाध्यक्षों के साथ सम्बन्ध तो प्रतीत होता है कि उन द्वारा निर्दिष्ट मार्गों पर चलना, प्रतिकूल नहीं]।

सूक्त ११४

(१-३) भृगुः । इन्द्रः, अग्निः । १ गायत्री; २ त्रिष्टभ्; ३ अनुष्टुभ् ।

अग्न इन्द्रश्च दाशुषे हुतो वृत्राण्यप्रति ।
उभा हि वृत्रहन्तमा ॥१॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन् ! तू (च) और (इन्द्रः) सम्राट् (दाशुषे) "कर" देने वाले प्रजाजन के लिये, (अप्रति) किसी प्रतिपक्ष के विना, (वृत्राणि) राष्ट्र का आवरण करने वालों, घेरा डालने वालों का (हतः) हनन करते हो। (उभा=उभौ) दोनों (हि) ही (वृत्रहन्तमा=वृत्रहन्तमौ) मिलकर वृत्रों का अतिशय हनन करते हैं।

याभ्यामजयन्त्स्वर्ऽग्र एव यावातस्थतुर्भुवनानि विश्वा ।
प्रचर्षणी वृषणा वज्रबाहू अग्निमिन्द्रं वृत्रहणा हुवेऽहम् ॥२॥

१. अक्षः=Legal Procedure, अक्षदर्शकः=a judge (आप्टे)।

(याभ्याम्) जिन दो की सहायता द्वारा (एव) ही [प्रजाजनों ने] (अग्रे स्वः) प्रथम सुख पर (अजयन्) विजय पाई। (यौ) जो दोनों (विश्वा भुवनानि) साम्राज्य के सब प्रान्तों पर (आतस्थतुः) पूर्णतया अधिष्ठित हुए हैं। (प्रचर्षणी) जो श्रेष्ठ प्रजावाले हैं या साम्राज्य पर दृष्टि रखते हैं, (वृषणा) सुखों की वर्षा करते हैं, (वज्रबाहू) हाथों में वज्र अर्थात् आयुध रखते, या वज्रवत् कठोर अर्थात् मजबूत बाहुओं वाले हैं; (वृत्रहणा) वृत्रघाती (अग्निम्, इन्द्रम्) सर्वाग्रणी को और सम्राट् को (अहम्) मैं (हुवे) सहायतार्थ बुलाता हूं।

[अहम्=बृहस्पतिः (मन्त्र ३)। प्रधानमन्त्री और सम्राट् का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है प्रजा का सुखसम्पादन, और साम्राज्य के वृत्रों का हनन]।

उप त्वा देवो अग्रभीच्चमसेन बृहस्पतिः ।
इन्द्र गीर्भिर्न आ विश यजमानाय सुन्वते ॥३॥

(इन्द्र) हे सम्राट् ! (बृहस्पतिः देवः) बृहती सेना के पति देव ने (उप) तेरे समीप होकर (चमसेन) सोमपान द्वारा (त्वा अग्रभीत्) तेरा ग्रहण किया है, सत्कार किया है, तू (सुन्वते) सोमयाग आदि करने वाले (यजमानाय) यज्ञशील प्रजाजन की रक्षा के लिये, (नः) हमारी (गीर्भिः) स्तुति-वाणियों द्वारा स्तूयमान हुआ, (आविश) सिंहासन में प्रवेश कर।

[बृहस्पति है साम्राज्य की बड़ी सेना का अधिपति। इसका सेना के साथ सम्बन्ध है। यथा-"बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः" (यजु० १७।४०)। इन्द्र=सम्राट् (यजु० ८।३७)। प्रजाएं तो सम्राट् का चुनाव करती हैं। परन्तु सम्राट् के चुनाव में साम्राज्य की सेना का अधिकार होना चाहिये। सेना द्वारा सम्राट् स्वीकृत हुआ है, इसे "उप अग्रभीत्" द्वारा सूचित किया है। इस स्वीकृति में बृहस्पति, सम्राट् को, पेयरूप में, सोमपात्र द्वारा, सोमरस भेंट करता है]।

सूक्त ११५

ब्रह्मा । वृषभः । पराबृहती, त्रिष्टुभ् ।

इन्द्रस्य कुक्षिरसि सोमधानं आत्मा देवानामुत मानुषाणाम् ।
इह प्रजा जनय यास्त आसु या अन्यत्रेह तास्ते रमन्ताम् ॥१॥

हे परमेश्वर! (इन्द्रस्य) सूर्य का (कुक्षिः) गर्भाशयरूप (असि) तू है, (सोमधानः) चन्द्रमा का तू निधान है। (देवानाम्) देवकोटि के (उत) तथा (मानुषाणाम्) साधारणकोटि के मनुष्यों की तू (आत्मा) आत्मा है, उन में प्रेरणाएं देता है। (इह) इस भूलोक में (प्रजाः) प्रकृष्ट सन्तानें (जनय) पैदा कर, अर्थात् (आसु) इन स्त्रियों में (याः) जो कि (ते) तेरी हैं, तेरी उपासिका हैं, (ते) तेरी प्रजाएं (याः) जो (अन्यत्र) अन्य लोकान्तरों में हैं, और (इह) इस भूलोक में हैं, (ताः) वे सब (रमन्ताम्) तुझ में रमण करें।

[इन्द्रस्य कुक्षिः=यथा "यत्राधि सूर ऽ उदितो विभाति" (यजु० ३२। ७), अर्थात् जिस परमेश्वर में सूर्य उदित हुआ दीप्त होता है। "यत्राधि" द्वारा परमेश्वर को सूर्य का आश्रय माना है, जहां से कि सूर्य उदित होता है, पैदा होता है। व्याख्येय मन्त्र का देवता है "वृषभ" अर्थात् वर्षाकारी मेघवत्, सुखवर्षी परमेश्वर]।

सूक्त ११६

(१-२) **वरुणः। मन्त्रोक्त देवताः। अनुष्टुभ्; १ भुरिक्।**

शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते।
आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥१॥

(द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी (शुम्भनी) शोभा युक्त हैं, (अन्तिसुम्ने) अति सुखदायी हैं, अथवा अन्तिक अर्थात् उन के समीप पहुंचने पर वे सुखदायी होते हैं, (महिव्रते) वे महाव्रती हैं। (सप्त) तथा ७ प्राण, (देवीः आपः) दिव्य जलों की तरह, (सुस्रुवुः) स्रवित हुए हैं। (ताः) उन जलों के सदृश ७ स्राव (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें।

[मन्त्र में प्रातः काल के त्वरित-भ्रमण का कथन हुआ है। प्रातः काल में उषा के प्रकाश में द्यौ और पृथिवी शोभायमान होते हैं। ये दोनों अपने अपने महाव्रतों में सदा रहते हैं, व्रतभंग नहीं करते। ७ प्राण हैं, प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, तथा पायु का नियमपूर्वक स्राव, और उपस्थ द्वारा मूत्र का स्राव। जलों का स्रवण होना, उनका स्वाभाविक धर्म है। "अंहस्" का अभिप्राय है स्रावों के ठीक प्रकार से स्रवित न होने से उत्पन्न कष्ट।

मुञ्चन्तु मा शपथ्याऽदथो वरुण्यादुत।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥२॥

[आपः (मन्त्र १), जल] (शपथ्यात्) शपथ लेने के दोष से, (उत) और (अथो) तत्पश्चात् (वरुण्यात्) वरुणसम्बन्धी जलोदर रोग से, (अथो) तत्पश्चात् (यमस्य) मृत्युसम्बन्धी (पड्वीशात्) पादबन्धन से, बेड़ी से तथा (विश्वस्मात्) सब (देवकिल्बिषात्) इन्द्रिय-दोषों से (मा) मुझे (मुञ्चन्तु) मुक्त करें, छुड़ा दें]।

[मन्त्र में जलचिकित्सा का वर्णन है। शपथें सदा झूठी होती हैं, जो कि मानसिक विकृति के कारण होती हैं, जलचिकित्सा से यह मानसिक विकृति ठीक हो जाती है। वरुण है अपामधिपति। यथा "वरुणोऽपामधिपतिः" (अथर्व० ५।२४।४)। जलोदर रोग जलसम्बन्धी है, अतः यह वरुण्य है। देव=इन्द्रियां। यथा "देवा द्योतनात्मकाः चक्षुरादीन्द्रियाणि" (महीधर, यजु० ४०।४)। इन्द्रियों के किल्बिष[1] अर्थात् दोष या रोग भी जलचिकित्सा द्वारा शान्त हो जाते हैं। जलचिकित्सा द्वारा शारीरिक मलों के नाश से मनुष्य पूर्ण आयु भोगता है, अतः वह मृत्यु सम्बन्धी पादबन्धन से रहित हो जाता है। पड्वीशः="पदि विशतीति"]।

सूक्त ११७

(१-२) **भार्गवः। तृष्टिका। १ विराट् अनुष्टुभ्; २ शंकुमती चतुष्पदा भुरिक् उष्णिक्।**

तृष्टिके तृष्टवन्दन उदमूं छिन्धि तृष्टिके।
यथा कृतद्विष्टाऽसोऽमुष्मै शेप्यावते ॥१॥

---

१. किल्विष=किल (निश्चित)+विष (दोष और रोग, जो कि इन्द्रियों के लिये विषरूप हैं)। उणादिकोष में किल्विष को "किल्बिष" मान कर "किल्+बुक्+टिषच्" द्वारा व्युत्पन्न माना है (१।५०), और निरुक्त में किल्बिषम् की निरुक्ति "किल्भिदम्" कही है (११।३।२३); किल्बिषम्=किल् बि (भि=भी)+षणु दाने; भयप्रदम्।

(तृष्टिके) हे अल्पतृष्णा! (तृष्टवन्दने) हे तृष्णावालों द्वारा स्तुति प्राप्त हुई! (तृष्टिके) हे अल्पतृष्णा! तू (अमुष्मै) उस (शेप्यावते) वीर्य-रक्षक के लिये (यथा) जिस किसी प्रकार से भी (कृतद्विष्टा) द्विष्ट हुई (असः) हो जा, और (अमूम्) उस शेष बची तृष्णा का भी (उत् छिन्धि) उच्छेद कर।

[तृष्टिके= तृष्+भावे क्तः+कन्, टाप् (अल्पे, अष्टा०५।३।८५)। तृष्ट वन्दने=तृष्ट, तृष्णावालों (कर्तरि क्तः) द्वारा+वन्दने=अभिवन्दिते स्तुत्ये। तू, अमूम्=उस अवशिष्ट तृष्णा का "उच्छिन्धि" उच्छेद कर।

व्यक्ति है शेप्यावत्=शेपः पुरुषेन्द्रिय, शेप्य=तद्भव वीर्य+अव् रक्षायाम्, शतृ प्रत्यय। व्यक्ति जो विषयभोग से पराङ्मुख हो गया है, और योगमार्ग की ओर जाना चहता है वह अल्प विषयतृष्णा को भी योगमार्ग में बाधिका मानता है, और वीर्य की रक्षा करता है। वीर्य, योग में साधक है, यथा "श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्" (योग १।२०)। शेप्यावते=शेप्य+अवते। अन्यथा "शेप्या" में "आकार" व्यर्थ होगा। "तृष्टिके" का दो वार प्रयोग उसकी निश्चित अल्पता दर्शाने के लिये है। तृष्टवन्दने=तृष्टैः वन्दनं यस्याः, तत्सम्बुद्धौ]।

तृष्टासि तृष्टिका विषा विषातक्यसि।
परिवृक्ता यथासस्यृषभस्य वशेव ॥२॥

(तृष्टा असि) तू तृष्णा है, (तृष्टिका) चाहे अल्पतृष्णा है, (विषा) तथापि विषरूपा है, (विषातकी) विषरूपा हुई जीवन को कष्टमय करने वाली (असि) तू है। (यथा) जिस किसी प्रकार से भी (परिवृक्ता) तू पूर्णतया त्यक्त[1] कर दी गई है, (इव) जैसे (ऋषभस्य) श्रेष्ठ पुरुष द्वारा (वशा) कामना[1] परित्यक्त कर दी जाती है।

१. तृष्णा है विषय-भोग की पिपासा। तृष्णा के उद्भूत होने पर संयम द्वारा उसके विषय के उपभोग से विरत रहते हुए, शनैः शनैः, तृष्णा के वेग का क्षय होता जाता है। शेष बची अल्प तृष्णा के प्रति कहा है कि तू भी निज स्वरूप में शान्त हो जा। जैसे कि मनु ने कहा है कि "न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते"। अर्थात् काम के उपभोग से काम बढ़ता है, जैसे कि हवि द्वारा अग्नि बढ़ती है। क्षुधा और तृष्णा भिन्न-भिन्न हैं।

[विषातकी=विषरूपा तृष्णा+तकि कृच्छ्रजीवने (भ्वादिः)। वशा= वश कान्तौ, कान्तिः कामना, विषयभोगेच्छा, कामात्मता। यथा "कामात्मता न प्रशस्ता" (मनु)।

सूक्त ११८

(१-२) भृगुः। अग्निः, सोमः। अनुष्टुभ्।

आ ते ददे वक्षणाभ्य आ तेऽहं हृदयाद् ददे।
आ ते मुखस्य सङ्काशात् सर्वं ते वर्च आ ददे ॥१॥

[हे शत्रु!] (ते) तेरे (वक्षणाभ्यः) वक्षःस्थल के अवयवों से [वर्चः] दीप्ति का (आ ददे) मैं अपहरण करता हूं, (ते) तेरे (हृदयात्) हृदय से [दीप्ति का] (अहम्) मैं (आ ददे) अपहरण करता हूं, (ते) तेरी (मुखस्य) मुख की (संकाशात्) दीप्ति से [तेज का] (आ) मैं अपहरण करता हूं, (ते) तेरी (सर्वम्) सब (वर्चः) दीप्ति का (आददे) मैं अपहरण करता हूं।

[शत्रु जब परास्त हो गया तब मानो उसकी छाती का बल, हृदय की भावनाएं, तथा मुख का तेज आदि सब हर लिये गए। संकाशात्=सम्+काशृ दीप्तौ]।

प्रेतो यन्तु व्याध्यः प्रानुध्याः प्रो अशस्तयः।
अग्नी रक्षस्विनीर्हन्तु सोमो हन्तु दुरस्यतीः ॥२॥

(इतः) इस [हमारे राष्ट्र से] (व्याध्यः) व्याधियां अर्थात् रोग (प्र यन्तु) प्रयाण कर जांय, (अनुध्याः) चिन्ताएं (प्र) प्रयाण कर जांय, (अशस्तयः) अप्रशस्तियां आदि निन्दाएं, अपकीर्तियां (उ) निश्चय से (प्र) प्रयाण कर जांय। (अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री (रक्षस्विनीः) राक्षस स्वभाव वाली [परकीय] सेनाओं का (हन्तु) हनन करे, (सोमः) सेनाध्यक्ष (दुरस्यतीः) दुरिच्छाओं वाली सेनाओं का (हन्तु) नाश करे।

[शत्रु के सब प्रकार के तेजों का जब अपहरण हो गया (मन्त्र १), तब अपने राष्ट्र की व्याधियों, आधियों, निन्दाओं और अपकीर्तियों ने मानो प्रयाण कर लिया, राष्ट्र से ये चली गईं। सोम=सेनाध्यक्ष (यजु० १७।४०)]।

सूक्त ११९

(१-४) अथर्वाङ्गिराः । सविता, जातवेदाः । अनुष्टुभ्; २,३ त्रिष्टुभ् ।

प्र पतेतः पापि लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत ।
अयस्मयेनाङ्केन द्विषते त्वा सजामसि ॥१॥

(पापि लक्ष्मि) हे पापरूपिणी लक्ष्मी ! (इतः) यहां से (पपत) तू उड़ जा (इतः) यहां से (नश्य) अदृष्ट हो जा, (अमुतः) उस दूर देश से भी (प्रपत) चली जा । (द्विषते) जैसे द्विष्ट-शत्रु के पराजय के लिये, (अयस्मयेन अङ्केन) अंकित कर देने वाले लोह निर्मित शल्य द्वारा [उसके शरीर को अंकित कर दिया जाता है, वैसे] हे पापरूपिणी लक्ष्मी ! (त्वा) तुझे (सजामसि) हम शल्य द्वारा सम्बद्ध कर देते हैं। [ताकि तेरा विनाश हो जाय]।

[दो प्रकार से लक्ष्मी का उपार्जन होता है, सुपथ द्वारा तथा दुष्पथ द्वारा । दुष्पथ द्वारा उपार्जित लक्ष्मी पापरूपिणी है । इसका परित्याग करना चाहिये । वेद में सु-पथ द्वारा लक्ष्मी के उपार्जन का निर्देश किया है। यथा- "अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान्" (यजु० ४०।१६)] ।

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टाऽभि चस्कन्द वन्दनेव वृक्षम् ।
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धा हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः ॥२॥

(या) जो (पतयालूः) पतन कराने वाली, (अजुष्टा) इस लिये अप्रिया और असेविता (लक्ष्मीः) लक्ष्मी (मा, अभिचस्कन्द) मुझ पर आरूढ़ हुई है, (इव) जैसे कि (वन्दना) लता (वृक्षम्) वृक्ष पर; (सवितः) हे उत्पादक तथा ऐश्वर्य वाले परमेश्वर ! (ताम्) उसे (इतः अस्मत् अन्यत्र) यहां से अर्थात् हम से अन्यत्र (धाः) स्थापित कर, और (हिरण्यहस्तः) मानों हाथों में हिरण्य लेकर (नः) हमें (वसुरराणः) धन देने वाला हो ।

[अजुष्टा=अ+जुष्टा; जुषी प्रीतिसेवनयोः (तुदादिः) । सवितः=षु प्रसवैश्वर्ययोः (भ्वादिः, अदादिः) । रराणः—रा दाने (अदादिः)+कानच् । "मा अस्मत्" मुझ और हमसे । वैदिक वर्णनों में यह प्रायः देखा जाता है कि व्यक्ति जो अपने लिये चाहता है वह अपने लिये चाहता हुआ अन्यों के लिये भी चाहता है। यह उसकी प्रबल सामाजिक भावना का द्योतक है] ।

एकशतं लक्ष्म्यो३ मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुषोऽधि जाताः ।
तासां पापिष्ठा निरितः प्र हिण्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नि यच्छ ॥३॥

(मर्त्यस्य) मरणधर्मा मनुष्य सम्बन्धी (लक्ष्म्यः) लक्ष्मियां (एकशतम्) १०१ हैं, जोकि (तन्वा साकम्) शरीर के साथ (जनुषः अधि) जन्म से (जाताः) पैदा हुई हैं। (तासाम्) उनमें से (पापिष्ठाः) अत्यन्त पापी लक्ष्मियों को (इतः) इस जीवन से (निः) निःशेषरूप में (प्रहिण्मः) हम प्रगत करते हैं, अपसारित करते हैं, (जातवेदः) हे जातप्रज्ञ, प्रज्ञानी परमेश्वर! (शिवाः) कल्याणकारिणी लक्ष्मियां (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (नियच्छ) नियत कर, या प्रदान कर ।

[नि यच्छ=नि+यम ("इषुगमियमां छः" अष्टा० ७।३।७७) द्वारा "छः" । अथवा नियच्छ=नि+दा (दाने), ("पाघ्रा" अष्टा० ७।३।७८) द्वारा "दा" को "यच्छ" आदेश । मनुष्य एक वर्ष लगभग माता के पेट में वास करता है, और "शतायुष" होने से १०० वर्ष और, उसका जीवन वेद कथित है। १०१ वर्षों की दृष्टि से उसकी लक्ष्मियां १०१ कही हैं। लक्ष्मियां दो प्रकार की हैं पापिष्ठाः और शिवाः । मन्त्र (४) में इन्हें पापीः और पुण्याः कहा है] ।

एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव ।
रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम् ॥४॥

(एताः) इन [पापिष्ठाः], (एनाः) और इन (शिवाः) लक्ष्मियों को (व्याकरम्) मैंने अलग-अलग कर दिया है, दर्शा दिया है [मन्त्र ३ में], (इव) जैसे कि (खिले[1]) खलियान में (विष्ठिताः) विशेषतया स्थित (गाः) गौओं को [सायंकाल के समय] ग्वाला अलग-अलग कर देता है । (पुण्याः लक्ष्मीः) पुण्य लक्ष्मियां (रमन्ताम्) मुझमें रमण करें, (याः) जो (पापीः)

१. खिल=खलिहान, जहां धान्य को भूसे से अलग किया जाता है। वहां भूसे के बिखरे रहने से गौएं एकत्रित हो जाती हैं। सायंकाल में ग्वाला उन्हें, घेर कर वापिस लाता है, और इन की व्याकृति कर देता है, इन्हें अलग-अलग कर देता है । खिले का अर्थ अनुपजाऊ भूमि करने पर अर्थ प्रासंगिक नहीं होता । खिले=गोष्ठे (सायण) ।

पापमार्ग से उपार्जित होती हैं (ताः) उन्हें (अनीनशम्) मैंने नष्ट कर दिया है, उनका उपार्जन परित्यक्त कर दिया है।

सूक्त १२०

(१-२) अथर्वाङ्गिराः। चन्द्रमाः। १ पुरोष्णिक्; २ द्विपदा आर्ची अनुष्टुभ्।

नमो॑ रू॒राय॒ च्यव॑नाय॒ नोद॑नाय धृ॒ष्णवे॑।
नमः॑ शी॒ताय॑ पूर्वकाम॒कृत्व॑ने ॥१॥

(रूराय) गर्मी पैदा करने वाले, (च्यवनाय) पसीना बहाने वाले (नोदनाय) विक्षिप्त करने वाले, (धृष्णवे) पराभव करने वाले [ज्वर के लिये] (नमः) औषध-वज्र हो। तथा (शीताय) सर्दी लगकर होने वाले, (पूर्वकामकृत्वने) ज्वर से पूर्व की गई कामनाओं को काट देने वाले [ज्वर के लिये] (नमः) औषध-वज्र हो।

[नमः वज्रनाम (निघं० २।२०)। कृत्वने=कृती छेदने+क्वनिप् (सायण) ग्रीष्म और शीत ज्वर का वर्णन हुआ है।

यो अ॑न्ये॒द्युरु॑भय॒द्युर॒भ्येती॒मं म॒ण्डूक॑म॒भ्ये॑त्वव्र॒तः ॥२॥

(यः) जो (अव्रतः) अनियत काल का ज्वर, (अन्येद्युः) एक दिन के व्यवधान में (उभयद्युः) तथा दो दिनों के व्यवधान में (अभ्येति) आता है, वह (इमम्, मण्डूकम्) इस मण्डूक को (अभ्येतु) आए।

[मण्डूकम् = उपमावाचक पद लुप्त है। जैसे मण्डूक जलप्रदेशवासी हैं, उसी प्रकार जो मनुष्य जलप्राय प्रदेश में निवास करता है उसे, दोनों प्रकार के ज्वर आते हैं। अथवा "मण्डूक" पद यौगिक है। यथा "मण्डूकाः, मण्ड एषामोक इति वा" (निरुक्त ९।१।५), मण्ड अर्थात् उदक में अनूप प्रदेश में जिन का "ओकः" घर है वे मण्डूक हैं। "मण्ड" का अर्थ है उदक; यथा दधिमण्डः=दधिजलम् (वैद्यकशब्दसिन्धुः)। जलप्राय प्रदेश में निवास करने से, शरीर में जल की आनुपातिक मात्रा बढ़ जाने पर, मलेरिया का आक्रमण होता रहता है]।

सूक्त १२१

अथर्वाङ्गिराः। इन्द्रः। पथ्याबृहती।

आ म॒न्द्रैरि॑न्द्र॒ हरि॑भिर्या॒हि म॒यूर॑रोमभिः।
मा त्वा॒ के चि॒द् वि य॑म॒न् विं न पा॒शिनो॑ऽति॒ धन्वे॑व॒ ताँ इ॑हि ॥१॥

(इन्द्र) हे सम्राट्! (मन्द्रैः) स्तुतियोग्य (मयूररोमभिः) मोर के रोम के सदृश रोम वाले (हरिभिः) अश्वों द्वारा (आ याहि) तू आ। (केचिद्) कोई (त्वा) तुझ [आते हुए] को (मा) न (वि यमन्) रोकें, (न) जैसे कि (पाशिनः) फन्दों वाले शिकारी (विम्) पक्षी को रोक लेते हैं; (तान्) उन्हें (अति इहि) अतिक्रान्त करके आ जा, (धन्व इव) जैसे कि यात्री, जलरहित मरु-प्रदेश का अतिक्रमण कर, प्रापणीय स्थान में आ जाते हैं।

[हरिभिः में बहुवचन से या तो रथ में जुते नाना अश्व अभिप्रेत हैं, या सम्राट् के रक्षकों के अश्व भी अभिप्रेत हैं। वियमन्=नियमन् (यजु० २०। ५३)। मयूररोमभिः=मन्त्र में प्रसिद्धार्थ कर दिया है। अश्व की गर्दन पर बाल होते हैं जिन्हें कि अयाल [mane] कहते हैं, परन्तु वे मयूर के रोमों के सदृश चितकबरे नहीं होते। "मयूररोमभिः" में बहुव्रीहि समास न मानकर "सह" अर्थ में "तृतीया" प्रतीत होती है, जिसका अर्थ होगा "मोर के रोमों से युक्त अश्व। यह देखा भी गया है कि घुड़सवार अपने घोड़ों के सिरों पर शोभा के लिए मोर के पंख लगा लेते हैं, तांगे वाले भी घोड़ों के सिर पर कलगीरूप में मोरपंख लगा लेते हैं। यह केवल शोभार्थ किया जाता है]।

सूक्त १२२

अथर्वाङ्गिराः। बहुदेवताः, चन्द्रमाः। त्रिष्टुभ्।

मर्मा॑णि ते॒ वर्म॑णा छादयामि॒ सोम॑स्त्वा॒ राजा॒ऽमृते॒नानु॑ वस्ताम्।
उ॒रोर्वरी॑यो॒ वरु॑णस्ते कृणोतु॒ जय॑न्तं॒ त्वाऽनु॑ दे॒वा मद॑न्तु ॥१॥

हे सम्राट्! (ते) तेरे (मर्माणि) मर्मस्थानों को (वर्मणा) कवच द्वारा (छादयामि) मैं आच्छादित करता हूं, (अनु) तत्पश्चात् (राजा) अस्त्र-शस्त्रों से प्रदीप्त (सोमः) सेनानायक (अमृतेन) जो मारे नहीं जा सकते अर्थात् अति शूरवीर सैनिक वर्ग द्वारा (त्वा) तुझे (वस्ताम्) आच्छादित

करे। (ते) तेरे सत्कार के लिये (वरुणः) राष्ट्र का राजा (उरोः वरीयः) विस्तृत से भी विस्तृत अर्थात् विशाल स्थान (कृणोतु) तय्यार करे, (जयन्तम्) और विजय प्राप्त करते हुए (त्वा) तुझे (अनु) लक्षित करके (देवाः) साम्राज्य के दिव्य सज्जन तथा अधिकारी (मदन्तु) प्रसन्न हों।

["वरुणः" पद द्वारा साम्राज्य के अङ्गभूत राष्ट्र का राजा अभिप्रेत होता है। "इन्द्रश्च सम्राड्वरुणश्च राजा (यजु० ८।३७)। सम्राट् है संयुक्त राष्ट्रों का अधिपति, जिसके अङ्ग हैं राष्ट्राधिपति वरुण नामक राजा। मर्मों का आच्छादन करने वाला है "बृहस्पतिः" साम्राज्य की बृहती सेना का अधिपति। सोम है सेनानायक जो कि सेना के आगे होकर चलता है, (देखो यजु० १७।४०)। साम्राज्य के जिस राष्ट्र पर शत्रु ने आक्रमण किया है, उस शत्रु के पराजित हो जाने पर उस राष्ट्र का अधिपति वरुण राजा सम्राट् के सत्कार के लिये विशाल स्थान का प्रबन्ध करता है। 'अमृतेनानु वस्ताम्' द्वारा यह दर्शाया है कि सेनानायक ही सम्राट् की रक्षा के लिये व्यूह की रचना करता है, जिस व्यूह में सम्राट् आच्छादित रहता है]।

दशम अनुवाक समाप्त

श्री प्रोफेसर विश्वनाथ विद्यालंकार विद्यामार्तण्ड कृत

"अथर्ववेद ७ वें काण्ड" का

हिन्दी-भाष्य सम्पूर्ण हुआ॥

—:०:—

आठवां काण्ड

सूक्त १

विषय-प्रवेश

(१) उपनीत ब्रह्मचारी के दीर्घजीवन और स्वास्थ्य के लिये प्राकृतिक साधन (मन्त्र १-५), और बुढ़ापे में ज्ञानोपदेश करने का परामर्श (मन्त्र ६)।

(२) ब्रह्मचारी को सदुपदेश और उसका हस्तावलम्बन (मन्त्र ७, ८)।

(३) यम के दो श्वानौ, श्याम और शबल (मन्त्र ९)।

(४) प्रेयमार्ग भीमपथ है (मन्त्र १०)।

(५) ब्रह्मचारी की रक्षा के ६ साधन बोध, प्रतीबोध आदि (मन्त्र १३)

(६) ब्रह्मचारी दुर्जन के संग का परित्याग करे (मन्त्र १२)।

— —

सूक्त १ अनुवाक १

(१-२१) ब्रह्मा। आयुः। त्रिष्टुप्; १ पुरोबृहती त्रिष्टुप्; २,३, १७-२१ अनुष्टुप्; ४-९, १५,१६ प्रस्तार पंक्तिः; ७ त्रिपदा विराड् गायत्री; ८ विराट् पथ्या बृहती; १२ त्र्यवसाना पञ्चपदा जगती; १३ त्रिपाद् भुरिग् महाबृहती; १४ एकावसाना द्विपदा साम्नी भुरिग् बृहती।

अन्तकाय मृत्यवे नमः प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम्।
इहायमस्तु पुरुषः सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके॥१॥

(अन्तकाय मृत्यवे) अन्त करने वाले मृत्युनामक परमेश्वर के लिये (नमः) नमस्कार हो। [हे आयु की कामना वाले!] (ते) तेरे (प्राणाः अपानाः) प्राण और अपान (इह) इस तेरे शरीर में (रमन्ताम्) रमण

करें । (अयम् पुरुषः) यह आयुष्काम पुरुष, (सह असुना) प्राणों के साथ वर्तमान हुआ, (सूर्यस्य भागे) सूर्य के सेवन के स्थान अर्थात् (अमृतस्य) शीघ्र न मरने के (इह लोके) इस लोक अर्थात् पृथिवी में (अस्तु) विद्यमान रहे ।

[मन्त्र में तीन का वर्णन है; परमेश्वर का, आचार्य का, तथा आयुष्काम पुरुष का । कौशिक सूत्रों में माणवक के उपनयनकर्म में मन्त्र का विनियोग किया है । अथर्व० १३।४ (३) में परमेश्वर को "मृत्यु" कहा है । यथा "स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं सः रक्षः" । माणवक के दीर्घायुष्य के लिये परमेश्वर को नमस्कार किया है । साथ ही पुरुष पद द्वारा माणवक को सम्बोधित कर उसे कहा है कि तू ऐसे स्थान में वास कर जो कि सूर्य के प्रकाश वाला हो, प्रकाशरहित गृहों में निवास न कर । यथा "ता वां वास्तून्युष्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः" (ऋ० १।१५४।६) । "गावः भूरिशृङ्गाः" का अर्थ है बहुप्रकाशी सूर्यरश्मियां । शृङ्गाणि ज्वलतो नाम (निघं० १।१७) । गावः रश्मिनाम (निघं० १।५) ।

अमृत का लोक है पृथिवी । योगाङ्गों के अनुष्ठान से योगी पृथिवी में ही निवास करता हुआ अमृतत्व को, या अमृत-परमेश्वर को प्राप्त कर मुक्तात्मा हो सकता है । भागे=भज सेवायाम्] ।

उदे॑नं॒ भगो॑ अग्रभी॒दुदे॑नं॒ सोमो॑ अंशु॒मान् ।
उदे॑नं म॒रुतो॑ दे॒वा उदि॑न्द्रा॒ग्नी स्व॒स्तये॑ ॥२॥

(भगः) भजनीय परमेश्वर ने (उद्) इसकी उन्नति के लिये (एनम्) इस आयुष्काम का (अग्रभीत्) ग्रहण किया है, इसे निज शरण में लिया है, (उद्) इसकी उन्नति के लिये (अंशुमान् सोमः) किरणों वाले चन्द्रमा ने (एनम्) इसे अपनाया है । (उद्) इसकी उन्नति तथा (स्वस्तये) कल्याण के लिये (देवाः मरुतः) मोदप्रद वायुओं ने तथा (इन्द्राग्नी) अन्तरिक्षस्थ-विद्युत् तथा भौम-अग्नि ने (एनम्) इसे ग्रहण किया है ।

[आयु की समृद्धि के लिये चन्द्रमा के प्रकाश का सेवन, मोदप्रद शुद्ध-स्वच्छ वायुओं का सेवन वर्षा-प्रद अन्तरिक्षस्थ-विद्युत् का प्रयोग तथा अग्निहोत्र सम्बन्धी पार्थिवाग्नि आवश्यक है । देवाः=दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोद आदि (दिवादिः)] ।

इ॒ह ते॑ऽसु॑रि॒ह प्रा॒ण इ॒हायु॑रि॒ह ते॒ मनः॑ ।
उत् त्वा॒ निर्ऋ॑त्याः॒ पाशे॑भ्यो॒ दैव्या॑ वा॒चा भ॑रामसि ॥३॥

(इह) इस पृथिवी में (ते) तेरी (असुः) प्रज्ञा हो, (इह) इसमें (प्राणः) प्राणापान क्रिया हो, (इह) इसमें (आयुः) पूर्ण आयु हो, (इह) इसमें (ते) तेरा (मनः) मन हो । (निर्ऋत्याः) कृच्छ्रापत्ति के (पाशेभ्यः) फन्दों से (दैव्या वाचा) दिव्य वेदवाणी के अनुसार (त्वा) तेरा (उत् भरामसि) हम उद्धार करते हैं ।

[आयुष्काम व्यक्ति, निज ज्ञान तथा मन द्वारा दृढ निश्चय तथा संकल्प दीर्घजीवन के लिये करे तो वह दीर्घायु प्राप्त कर सकता है, और कष्टों से मुक्त रह सकता है । असुः प्रज्ञानाम (निघं० ३।९)] ।

उत्क्रा॒माऽतः॑ पुरुष॒ माव॑ पत्था मृ॒त्योः पड्वी॑शमव॒मुञ्च॒मानः॑ ।
मा च्छि॑त्था अ॒स्माल्लो॒काद॒ग्नेः सूर्य॑स्य सं॒दृशः॑ ॥४॥

(पुरुष) हे पुरुष ! (मृत्योः) मृत्यु के (पड्वीशम्) पादबन्धन को (अवमुञ्चमानः) छोड़ता हुआ (अतः) इस अवस्था से (उत्क्राम) उन्नति की ओर तू पग बढ़ा, (मा अवपत्थाः) नीचे की ओर अपना पतन न कर । (अस्मात् लोकात्) इस पृथिवीलोक से, तथा (अग्नेः सूर्यस्य) अग्नि और सूर्य के (संदृशः) सम्यक् दर्शन से (मा छित्थाः) तू अपना सम्बन्ध न काट ।

[उत्क्राम =उत्+क्रमु पादविक्षेपे । पड्वीशम् =पैरों में प्रविष्ट पाश बन्धन बेड़ियां । मन्त्र में निराश हुए पुरुष को निराशा से मुक्त करने के लिये प्रोत्साहित किया है] ।

तुभ्यं॒ वातः॑ पवतां मात॒रिश्वा॒ तुभ्यं॑ वर्षन्त्व॒मृता॒न्यापः॑ ।
सूर्य॑स्ते त॒न्वे॒३ शं त॑पाति॒ त्वां मृ॒त्युर्द॑यतां॒ मा प्र मे॑ष्ठाः ॥५॥

(तुभ्यम्) तेरे लिये (मातरिश्वा) अन्तरिक्षसंचारी (वातः) वायु (पवताम्) प्रवाहित हो (तुभ्यम्) तेरे लिये (आपः) मेघीय-जल (अमृतानि) अमृत वस्तुएं (वर्षन्तु) वर्साएं । (सूर्यः) सूर्य (ते तन्वे) तेरी तनू के लिये (शम्) सुखपूर्वक (तपाति) तपे, (मृत्युः) मृत्यु (त्वां) तेरी (दयताम्) रक्षा करे या तुझ पर दया करे, (मा प्रमेष्ठाः) ताकि तू हिंसित न हो ।

[मन्त्र में पुरुष के लिये आशीर्वाद का कथन हुआ है । मातरिश्वा=

माता अन्तरिक्षम्, निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानीति व्युत्पत्तेः, तस्मिन् श्वसितीति मातरिश्वा (सायण)। अन्तरिक्षसंचारी वायु स्वास्थ्यकारी होती है। अमृतानि=जल, नानाविध अन्न, फल, सब्जी आदि अमृत वस्तुएं हैं, जिनकी प्राप्ति वर्षा द्वारा होती है। मृत्युः=परमेश्वर (मन्त्र १)। दयताम्=दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु (भ्वादिः) में "दय" का अर्थ "रक्षण" भी है। तपाति=लेट्। मेष्ठाः=मीङ् हिंसायाम्, लुङ्]।

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥६॥

(पुरुष) हे पुरुष! (ते) तेरा (उद्यानम्) मार्ग ऊपर की ओर है, (न अवयानम्) नीचली ओर मार्ग नहीं (ते) तेरे (जीवातुम्) जीवन को (दक्षतातिम्) वृद्धि का विस्तार करने वाला (कृणोमि) मैं करता हूं। (इमम्) इस (अमृतम्) दीर्घजीवी या मोक्ष के साधनभूत, (सुखम्) सुखदायक (रथम्) शरीर-रथ पर (हि) निश्चयपूर्वक (आ रोह) आरोहण कर, (अथ) और (जिर्विः) जीर्ण होकर, बूढ़ा हो कर (विदथम्) ज्ञानोपदेश (आ वदासि) सर्वत्र किया कर।

[जीवातुम्=जीवनम् (उणा० १।७८; दयानन्द)। दक्षतातिम्=दक्ष वृद्धौ (भ्वादिः)+तातिम् (तनु विस्तारे, तनादिः) कृणोमि=यह कथन परमेश्वर अथवा आचार्य का है (मन्त्र १) रथम्="शरीरं रथमेव तु" (कठ० उप० १।३।३)]।

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्यः प्र मदो मानु गाः पितॄन्।
विश्वे देवा अभि रक्षन्तु त्वेह ॥७॥

(ते) तेरा (मनः) मन (तत्र) परलोक की ओर (मा गात्) न जाय, (मा तिरः) न तिरस्कृत या तिरोभूत (भूत्) हो, (मा जीवेभ्यः प्रमदः) न प्राणियों की सेवा में तू प्रमाद कर, (पितॄन्) [मृत] पितरों का (मा अनुगाः) अनुगामी न बन। (विश्वे देवाः) सब देवकोटि के आचार्य (त्वा) तुझे (इह) इस आश्रम में (अभि रक्षन्तु) सब प्रकार से सुरक्षित करें।

[मन्त्रों का विनियोग उपनयन संस्कार निमित्त हुआ है (मन्त्र १)। उपनयन का अर्थ है "अपने समीप लाना", (उप=समीप+नयन=लाना)।

आचार्य माणवक को, उपनयन विधि द्वारा, अपने आश्रम में ले आता है। "विश्वे देवाः" का अर्थ इसलिये आचार्य किया है। आश्रम के सभी आचार्य देवकोटि के होने चाहियें]।

अथवा

[इस आश्रम में रहकर तेरा मन निज माता-पिता के घर की ओर न जाता रहे, न आश्रम में रहकर तेरा मन टेढ़ी चालों वाला हो, न माता-पिता आदि की ही तू निरन्तर चिन्ता करता रहे]।

मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम्।
आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे ॥८॥

(गतानाम्) गुजरे हुओं का (मा) न (आ दीधीथाः) सदा ध्यान अर्थात् चिन्तन किया कर, (ये) जो कि (परावतम्) कर्तव्यपथ से परे (नयन्ति) ले जाते हैं, पराङ्मुख कर देते हैं। (आ रोह) तू आरोहण कर (तमसः) तमस् से (ज्योतिः) ज्योति पर (आ इहि) तू आ (ते) तेरे (हस्तौ) दो हाथों को (आ रभामहे) हम पूर्णतया सहारा देते हैं।

[गुजरों का सदा ध्यान करते रहना, यह तमोगुण का परिणाम है, सत्त्वगुण ज्योतिरूप है। तू तमोगुण का परित्याग कर सत्त्वगुण की ओर आरोहण कर। तू इस आश्रम में आ [एहि], हम आश्रमवासी सदा तेरे सहायक हैं]।

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ।
अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः ॥९॥

(यमस्य) यम के (श्वानौ) दो कुत्ते हैं, (श्यामः) काला (च) और (शबलः च) चितकबरा (प्रेषितौ) [ये यम के] भेजे हुए हैं, (यौ) जो दोनों कि (पथिरक्षी) [यम द्वारा दर्शाए] मार्ग में रक्षक हैं, [चौकीदार हैं]। (अर्वाङ्) इधर अर्थात् इस आश्रम की ओर (एहि) आ (विदीध्यः मा) विविध पदार्थों का ध्यान न कर या विविध प्रकार की चिन्ताएं न कर, और (अत्र) इस ब्रह्मचर्याश्रम में (पराङ्मनाः) कर्तव्य पराङ्मुख हुआ (मा तिष्ठः) तू बैठा न रह।

[यम का अभिप्राय है "नियन्ता परमेश्वर"। इसे "महायम" भी कहा है (अथर्व० १३।४(१)।५), यह नियन्ता है और सर्वतो महान् है। दो कुत्ते

हैं तमोगुण और रजस् तथा तमस् का मिश्रण। "तमस्" श्यामः काला कुत्ता है, और रजस्-तमस् का मिश्रण शबल अर्थात् चितकबरा कुत्ता। ये दोनों प्रेयमार्ग के पथिक को प्रेयमार्ग में बान्धे रखते हैं। इन से बचने का उपाय है ब्रह्मचर्य जीवन। दोनों कुत्ते यम द्वारा निर्दिष्ट मार्ग की रक्षा करते हैं, ताकि तमोगुणी की ओर रजस्-तमस् के मिश्रणवाले व्यक्ति की निजकर्मों से बन्धी हुई आत्मा इस मार्ग में रहती हुई, निजकर्मों के फलों को भोग सके]।

मैतं पन्थामनु गा भीम एष येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि।
तम एतत् पुरुष मा प्र पत्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक् ॥१०॥

(एतम्) इस (पन्थाम्) प्रेय पथ का (मा अनुगाः) अनुगमन न कर, (एषः) यह पथ (भीमः) भयानक है, (येन) जिस पथ द्वारा (पूर्वम्) पुराकाल में (न इयथ) तुम अभी नहीं गए (तम्) उसे (ब्रवीमि) मैं आचार्य कहता हूं। (पुरुष) हे पुरुष! (एतत् तमः) इस प्रेयरूपी तमोमय पथ को (मा प्र पत्थाः) न स्वीकार कर, (परस्तात्) यह परला पथ है (भयम्) जो कि भयानक है, (अर्वाक्) और इधर का ब्रह्मचर्य पथ (ते, अभयम्) तेरे लिये भयरहित है।

[मन्त्र ६ में "पथिरक्षी" द्वारा पथ का निर्देश हुआ है, यह मार्ग, "जिस में कि "श्वानौ" अर्थात् श्याम और शबल दो कुत्ते रक्षक हैं" भयानक है। यह मार्ग तमोगुणी और रजस्तमस्-गुणी व्यक्तियों का है, सत्त्वगुणियों का नहीं। यह मार्ग सत्त्वगुणियों के लिये परे[1] का मार्ग है, और अर्वाक् मार्ग है ब्रह्मचर्य का मार्ग। यह "अर्वाक्" मार्ग तेरे लिये अभयरूप है, श्रेयरूप है। प्रेय और श्रेय मार्गों की विस्तृत व्याख्या के लिये देखो "कठोपनिषद"[2]]।

रक्षन्तु त्वाग्नयो ये अप्स्वन्तता रक्षतु त्वा मनुष्या३यमिन्धते।
वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्र धाग् विद्युता सह ॥११॥

(ये अग्नयः) जो अग्नियां (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर हैं वे (त्वा रक्षन्तु) तेरी रक्षा करें, (यम्) जिसे (मनुष्याः इन्धते) मनुष्य प्रदीप्त करते हैं [वह अग्नि] (त्वा रक्षतु) तेरी रक्षा करे। (वैश्वानरः) सब नर-नारियों का हितकारी (जातवेदाः) प्रज्ञानी परमेश्वर (रक्षतु) तेरी रक्षा करे, (विद्युता सह) विद्युत् के साथ (दिव्यः) द्युलोकस्थ [सूर्याग्नि] (त्वा) तुझे (मा प्रधाक्) दग्ध न करे।

1. अर्थात् त्याज्य है।
2. श्रेय और प्रेय मार्ग, (अध्याय १, वल्ली २, सन्दर्भ १-५)।

[भिन्न-भिन्न स्थानों के जलों में अग्नियां होती हैं। यथा "अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशंभुवम्" (अथर्व० १।६।२) में जलों में सब ओषधों की, और सब रोगों को शान्त करने वाली अग्नि की सत्ता कही है। जलचिकित्सा द्वारा पुरुष की रक्षा होती है। मनुष्य पाकाग्नि को, तथा अग्निहोत्र आदि याज्ञिय अग्नियों को प्रदीप्त करते हैं। ये भी रक्षक हैं। वैश्वानर-अग्नि भी सब की रक्षा करती है। जातवेदाः =जातप्रज्ञानः (निरुक्त ७।५।१९)। दिव्य अग्नि = सूर्य। तथा विद्युत् है मेघीय-विद्युत्। अर्थात् निवासगृह ऐसे होने चाहिये जिन में सूर्य का ताप, संतापकारी न हो, और जिन्हें मेघीय-विद्युत्प्रपात नष्ट न कर सके]।

मा त्वा क्रव्यादभि मंस्तारात् संकसुकाच्चर।
रक्षतु त्वा द्यौ रक्षतु पृथिवी सूर्यश्च त्वा रक्षतां चन्द्रमाश्च।
अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्याः ॥१२॥

(क्रव्याद्) कच्चामांस खाने वाली अग्नि (त्वा) तुझे (मा अभिमंस्त) न अपनाए, (संकसुकात्) दुर्जन से (आरात्) दूर (चर) विचर, उसका संग न कर। (द्यौः) द्युलोक (त्वा रक्षतु) तेरी रक्षा करे, (पृथिवी रक्षतु) पृथिवी रक्षा करे, (सूर्यः च, चन्द्रमाः च) सूर्य और चन्द्रमा (त्वा) तेरी (रक्षताम्) रक्षा करें। (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षस्थ वायु (रक्षतु) रक्षा करे (देवहेत्याः) इन्द्रियों की मार से।

[क्रव्याद् = क्रव्य (कच्चामांस) + अद् (भक्षणे)। शवाग्नि अल्पावस्था में मृतदेह के कच्चे मांस का भक्षण करती है। जीवनचर्या इस प्रकार की होनी चाहिये कि व्यक्ति १०० वर्षों से पूर्व न मरे। १०० वर्षों की आयु के आसपास देह जीर्ण हो जाता है, मानो पक जाता है, कच्चा नहीं रहता। संकसुक का अर्थ है, दुर्जन (उणा० २।३० पर दयानन्द तथा भट्टोजी दीक्षित)। दुर्जन का संग त्याज्य है। द्युलोक "स्वः और नाक" आदि लोकों की प्राप्ति द्वारा तेरी रक्षा करे, पृथिवी आवास और अन्न द्वारा रक्षा करे। सूर्य ताप, प्रकाश और वर्षा द्वारा रक्षा करे, चन्द्रमा शीतल प्रकाश द्वारा

रक्षा करे। अन्तरिक्ष अर्थात् तत्स्थ स्वच्छ तथा संचारो वायु द्वारा तेरी इन्द्रियों को शुद्ध कर अपवित्र इन्द्रियों की मार से तुझे बचाए, इस प्रकार तेरी रक्षा करे। मन्त्र में उपनीत पुरुष के रक्षासाधनों का निर्देश किया है। देवाः=इन्द्रियाणि (यजु० ४०।४)]।

बोधश्च॑ त्वा प्रतीबोधश्च॑ रक्षतामस्वप्नश्च॑ त्वानवद्राणश्च॑ रक्षताम् ।
गोपायंश्च॑ त्वा जागृविश्च रक्षताम् ॥१३॥

(बोधः[1] च) इन्द्रियजन्य ज्ञान, (प्रतीबोधः[1] च) और योगसमाधिजन्य प्रातिभज्ञान (त्वा) तेरी (रक्षताम्) रक्षा करें, (अस्वप्नः च) स्वप्नों से रहित निद्रा (अनवद्राणः च) तथा [दिन में] निद्रा न करना (त्वा) तेरी (रक्षताम्) रक्षा करें। (गोपायन्) आत्मरक्षा करना (जागृविः च) और जागरूक अर्थात् सावधान रहना (त्वा रक्षताम्) तेरी रक्षा करें।

[गोपायन्=गुप् धातु रक्षार्थ, अथवा गो (इन्द्रियां)+पायन् (रक्षा)। इन्द्रियों की रक्षा अर्थात् इन्द्रियों को विषयों में न जाने देना। मन्त्र में उपनीत माणवक को निर्देश दिये गए हैं। अनवद्राणः=निद्रारहितः (सायण)। ब्रह्मचारी के लिये कहा है कि "दिवा मा स्वाप्सीः"। कि तू दिन में न सोया कर। गोपायन्=गो (इन्द्रियां)+पा (रक्षणे)+युक्+शतृ; आतो युक् चिण्कृतोः (अष्टा० ७।३।३३)]।

ते त्वा॑ रक्षन्तु ते त्वा॑ गोपायन्तु तेभ्यो॒ नम॒स्तेभ्यः॒ स्वाहा॑ ॥१४॥

(ते) वे [मन्त्र १३ में कथित निर्देश] (त्वा) तेरी (रक्षन्तु) रक्षा करें, (ते) वे (त्वा) तेरी (गोपायन्तु) रक्षा करें, (तेभ्यः) उन के लिये (नमः) यथोचित अन्न [का सेवन] हो, (तेभ्यः) उन के लिये (स्वाहा) यथोचित अन्न की यथोचित आहुतियां [जठराग्नि में] हों।

[मन्त्र में आत्मयाजी उपनीत-माणवक का निर्देश है। आत्मयाजी निज जीवन को यज्ञमय समझे और उस यज्ञ की पूर्ति के निमित्त, यज्ञिय अन्न की आहुतियां, यज्ञिय प्रकार से, निज जठराग्नि में दिया करे। इस द्वारा मन्त्र १३ में कथित निर्देश सफल हो सकते हैं। नमः अन्ननाम (निघं० २।७)। गोपायन्तु=गोपायनं सर्वतो रक्षणम् (सायण)]।

१. "ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः" (अथर्व० ५।३०।१०)।

जीवेभ्य॑स्त्वा स॒मुदे॑ वा॒युरिन्द्रो॑ धा॒ता द॑धातु सवि॒ता त्राय॑माणः ।
मा त्वा॑ प्रा॒णो बलं॑ हासी॒दसुं॒ तेऽनु॑ ह्वयामसि ॥१५॥

(जीवेभ्यः) प्राणियों के लिये (समुदे) संमोदार्थ (वायुः) वायु, (इन्द्रः) मेघीय-विद्युत् (धाता) धारण और पोषण करने वाला मेघ, (त्रायमाणः सविता) त्राण करता हुआ प्रातःकालीन सूर्य (त्वा) तेरी (दधातु) रक्षा करे। (त्वा) ताकि तुझे (प्राणः) प्राण तथा (बलम्) शारीरिक बल (मा) न (हासीत्) त्याग दे, इस निमित्त (ते) तेरी (असुम्) प्रज्ञा का (अनु) तदनुरूप (ह्वयामसि) हम आचार्य आह्वान करते हैं। समुदे=संमोदाय (सायण); समुदे=मोदसहित होने के लिये।

[दधातु=धारण करे; वायु आदि प्रत्येक, अथवा इन सबका समुदाय। असुः प्रज्ञानाम (निघं० ३।९)। उपनीत-ब्रह्मचारी के लिये कहा है कि तू प्राणियों के मोद अर्थात् हर्ष को इन की सेवा करके बढ़ाया कर। इन्हें कष्ट न पहुंचाया कर। समुदे=संमुदे=मुद हर्षे (भ्वादिः)। ब्रह्मचारी स्वयं भी निज प्रज्ञा का प्रयोग इस निमित्त किया करे]।

मा त्वा॑ जम्भः॒ संह॑नु॒र्मा तमो॑ विद॒न्मा जि॒ह्वा ब॒र्हिः प्र॑म॒युः क॒था स्याः॑ ।
उत् त्वा॑दि॒त्या वस॑वो भर॒न्तूदि॑न्द्रा॒ग्नी स्व॒स्तये॑ ॥१६॥

(जम्भः) दाढ़ (संहनुः) परस्पर मिलकर (त्वा) तेरा हनन (मा) न करे, (तमः) तम (मा विदत्) तुझे न प्राप्त हो, (जिह्वा) तेरी वाणी (बर्हिः) किसी की हिंसा (मा) न करे, (प्रमयुः) हिंसा करने वाला (कथा) किस प्रकार (स्याः) तू हो सकता है ?। (आदित्याः वसवः) आदित्य और वसु कोटि के आचार्य (त्वा) तेरा (उद्भरन्तु) उद्धार करें, (इन्द्राग्नी) इन्द्र और अग्नि (स्वस्तये) तेरे कल्याण के लिये हों।

[संहनुः=सम् (मेल)+हनुः (जबड़ा)। हिंस्रप्राणी के जम्भ अर्थात् दाढ़ें ऐसी न हों कि उसके दो जबड़े परस्पर मिल जांय। काटना तभी सम्भव होता है जब कि हिंस्रप्राणी के मुख के ऊपर और नीचे के दो जबड़े मिल जाँय। इसके द्वारा यह कहा गया है कि सांप आदि हिंस्रप्राणी तुझे न काटें, और तेरा हनन न करें। हनुः=हन्यतेऽनेनेति हनुः कपोलावयवः (उणा० १।१०, दयानन्द)। विषैले प्राणी द्वारा काटने पर मृत्यु भी सम्भव है और

मूर्च्छा भी। तुझे तम अर्थात् मूर्च्छान्धिकार न प्राप्त हो, इसे "तमो मा विदत्" द्वारा सूचित किया है। जिह्वा का अर्थ है वाणी, वाक् "जिह्वा वाङ्नाम" (निघं० १।११) और बर्हिः का अर्थ है काटने वाली। बर्ह हिंसायाम् (चुरादिः, भ्वादिः), अर्थात् तेरी वाणी दूसरों को काटने वाली अर्थात् कटु न हो। जब उपनीत ब्रह्मचारी वाणी द्वारा भी किसी की हिंसा न करेगा, तो उसने शरीर द्वारा तो हिंसा किसी प्रकार भी करना सम्भव नहीं। "प्रमयुः" अर्थात् वह ब्रह्मचारी किसी प्रकार हिंसा करने वाला नहीं हो सकता। प्रमयुः=प्र+मीङ्, मीञ् हिंसायाम् (दिवादिः, क्र्यादिः)+उः (औणादिक प्रत्ययः)। इन्द्रः =सम्राट् "इन्द्रश्च सम्राट्" (यजु० ८।३७); अग्निः=अग्रणीर्भवति (निरुक्त) प्रकरणानुसार अग्निः=अग्रणी प्रधानमन्त्री। अभिप्राय यह है कि राष्ट्रावस्था ऐसी हो कि सभी अधिकारी ब्रह्मचारियों के कल्याण की व्यवस्था करें]।

उत् त्वा द्यौरुत पृथिव्युत प्रजापतिरग्रभीत्।
उत त्वा मृत्योरोषधयः सोमराज्ञीरपीपरन् ॥१७॥

(त्वा) तुझे (द्यौः) द्युलोक ने (उदग्रभीत्) समुन्नति के लिये स्वीकृत किया है, अपनाया है, (उत् पृथिवी) पृथिवी ने उन्नति के लिये अपनाया है, (उत् प्रजापतिः अग्रभीत्) प्रजाओं के पति परमेश्वर ने उन्नति के लिये अपनाया है। (त्वा) तुझे (मृत्योः) मृत्यु से [छुड़ा कर] (सोमराज्ञीः) सोम-ओषधिप्रधान (ओषधयः) ओषधियों ने (अपीपरन्) पालित किया है।

[अपीपरन्=पृ पालनपूरणयोः (जुहोत्यादिः, क्र्यादिः)। मृत्योः= आसन्नमृत्यु से, या मूर्च्छा से]।

अयं देवा इहैवास्त्वयं मामुत्र गादितः।
इमं सहस्रवीर्येण मृत्योरुत् पारयामसि ॥१८॥

(देवाः) हे आदित्य आदि देवो! [मन्त्र १६] (अयम्) यह [उपनीत माणवक] (इह एव अस्तु) यहां ही रहे, (अयम्) यह (इतः) इस स्थान से (अमुत्र) उस मृत्यु के स्थान में (मा गात्) न जाय। (इमम्) इसे (सहस्रवीर्येण) सहस्रवीर्य द्वारा (मृत्योः) मृत्यु से (उत्पारयामसि) हम पार कर देते हैं।

["सहस्रवीर्य" नामक ओषधि है, या इसका अभिप्राय है "अपरिमित सामर्थ्य"। आचार्यों के अपरिमित सामर्थ्यों का निर्देश हुआ है, ये आध्यात्मिक तथा लौकिक सामर्थ्य हैं। यथा (अथर्व० ४।१३।५-७)]।

उत् त्वा मृत्योरपीपरं सं धमन्तु वयोधसः।
मा त्वा व्यस्तकेश्योऽ मा त्वाघरुदो रुदन् ॥१९॥

(त्वा) तुझे (मृत्योः) मृत्यु से (उत् अपीपरम्) मैंने पार कर दिया है, (वयोधसः) आयु को धारण कराने वाली धमनियां (स धमन्तु) सब धड़कने लगें (व्यस्तकेश्यः) बिखरे केशों वाली स्त्रियाँ (त्वा) तुझे लक्षित कर (मा रुदन्) न रोएं, (अघरुदः) व्यसन अर्थात् दुःख आने पर रोदन करने वाले अन्य बन्धुजन (त्वा) तुझे लक्षित करके (मा रुदन्) न रोएं।

[सं धमन्तु=सम्+ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः (भ्वादिः)। यहाँ शब्द अर्थात् धमनियों का धड़कना अभिप्रेत है]।

आहार्षमविदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः।
सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेऽविदम् ॥२०॥

(त्वा) तुझे (आहार्षम्) मैंने मृत्यु से छीन लिया है, (अविदम्) और तुझे प्राप्त कर लिया है, (पुनः) फिर तू (आ अगः) आ गया है, (पुनर्णवः) फिर तुझे नया जीवन प्राप्त हुआ है। (सर्वाङ्ग) हे सब अङ्गों वाले! (ते) तुझे (चक्षुः) चक्षु आदि (सर्वम्) सब इन्द्रियां (च) और (सर्वं आयुः) सम्पूर्ण आयु (अविदम्) मैंने प्राप्त करादी है।

व्यवात् ते ज्योतिरभूदप त्वत् तमो अक्रमीत्।
अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि ॥२१॥

(ते) तेरा (तमः) [मूर्च्छा सम्बन्धी] अन्धकार (व्यवात्) विगत हो गया है, (ज्योतिः अभूत्) और जीवन-ज्योति प्रकट हो गई है, (त्वत्) तुझ से (तमः) अन्धकार (अप अक्रमीत्) अपक्रान्त हो गया है, हट गया है। (त्वत्) तुझसे (मृत्युम्) मृत्यु को (अप) अलग (निदध्मसि) हम कर देते हैं, (निर्ऋतिम्) कष्टापत्ति को (अप) अलग कर देते हैं, (यक्ष्मम्) यक्ष्मरोग को [अप] अलग कर देते हैं।

[व्यवात्=वि+अवात् (अट्+वात्) वा गतिगन्धनयोः (अदादिः)= विगत हो गया है, नष्ट हो गया है]।

——

सूक्त २

विषय-प्रवेश

(१) ब्रह्मचारी को रजस्-तमस् मार्ग से बचाना (मन्त्र १, १०)।

(२) रुग्ण ब्रह्मचारी का उपचार ब्रह्मचर्याश्रम में ही गुरुजन करते हैं। (मन्त्र ४, ५, ६, आदि)।

(३) ब्रह्मरूपी वर्म [कवच] का धारण (मन्त्र १०; २५)।

(४) ब्रह्मचारी कोमल वस्त्र धारण करे (मन्त्र १६)।

(५) केश श्मश्रू का वपन (मन्त्र १७)।

(६) ब्रह्मचारी के लिये भोजन, (१) कृषि में प्राप्त धान्य, (२) पयः (दूध); (मन्त्र १९)।

(७) ब्रह्मचारी को युगों और युगकालों का परिज्ञान देना (मन्त्र २१)।

(८) जीवन की परिधि ब्रह्म (मन्त्र २५)।

(९) एकशतं मृत्यवः (मन्त्र २७)।

(१०) "पूतुद्रु" भेषज है, रोगनाशक (मन्त्र २८)।

(११) आदित्यौ=सूर्याचन्द्रमसौ। (विशेष वक्तव्य) अदिति है प्रकृति, उसके पुत्र हैं आदित्यौ (मन्त्र १५)। चन्द्रमा को भी आदित्य कह कर यह ध्वनित किया है कि वैदिक नामपद यौगिकार्थक हैं, आख्यातज हैं।

——

सूक्त २

१-२८ ब्रह्मा। आयुः। त्रिष्टुप्; १, २ ७ भुरिक्; ३, २६ आस्तार-पंक्तिः; ४ प्रस्तारपंक्तिः; ६ पथ्यापंक्तिः; ८ पुरस्ताज्ज्योतिष्मती जगती; ९ पंचपदा जगती; ११ विष्टारपंक्तिः; १२, २२, २८ पुरस्ताद् बृहती; १४ त्र्यवसाना षट्पदा जगती; १९ उपरिष्टाद् बृहती; २१ सतः पंक्तिः; ५, १०, १६-१८, २०, २३-२५, २७ अनुष्टुप्।

आ रंभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते।
असुं त आयुः पुनरा भरामि रजस्तमो मोप गा मा प्र मेष्ठाः ॥१॥

(आरभस्व=आलभस्व) प्राप्त कर (अमृतस्य) अमृत परमेश्वर की (इमाम्) इस (श्नुष्टिम्=प्रस्नुतिम्[1]) प्रस्रवित हुई आनन्द रसमयी धारा को, ताकि (अच्छिद्यमाना) बिना कटी (जरदष्टिः) जरावस्था की प्राप्ति (ते) तुझे (अस्तु) हो। (ते) तेरे (असुम्) प्राण या प्रज्ञा (आयुः) तथा आयु को (पुनः) फिर (आ भरामि[2]) मैं वापिस लाता हूं। (रजस्तमः) रजोगुण और तमोगुण को (मा उपगाः) न प्राप्त हो, (मा प्रमेष्ठाः) और न हिंसित हो।

[यह उक्ति उपनीत माणवक के आचार्य की है। "रलयोरभेदः" द्वारा आरभस्व=आलभस्व। श्नुष्टिम्=प्रस्नुतिम् (सायण)। आभरामि=आहरामि, "हृग्रहोर्भश्छन्दसि" द्वारा हकार को भकार हुआ है]।

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङा त्वा हरामि शतशारदाय।
अवमुञ्चन् मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि ॥२॥

(जीवताम्) जीवित मनुष्यों की (ज्योतिः) ज्योति की (अभि) ओर (एहि) तू आ, (अर्वाक्) अर्थात् इधर आश्रम की ओर (शतशारदाय) सौ सर्दियों अर्थात् शरदृतुओं तक जीवित होने के लिये (त्वा) तुझे (आ हरामि) मैं आचार्य लाता हूं। (मृत्युपाशान्) मृत्यु के फंदों और (अशस्तिम्) अप्रशस्त जीवन को (अवमुञ्चन्) छुड़ाता हुआ (ते द्राघीयः आयुः) तेरी दीर्घ आयु को (प्रतरम्) अधिक प्रकृष्ट करके (दधामि) मैं आचार्य परिपुष्ट करता हूं।

---

१. प्रस्नुतिम्=प्र+स्नु [ष्णु, प्रस्रवणे, अदादिः]+तिप्=धाराम्।

२. यह आचार्य का कथन है। ब्रह्मचारी यदि रुग्ण हो गया हो तो आचार्य का कर्तव्य है कि वह ब्रह्मचारी का रोगोपचार करे।

[बच्चों के आचार्य कैसे होने चाहियें, इसका वर्णन सूक्त १ और २ में हुआ है]।

वाता॑त् ते प्रा॒णम॑विदं॒ सूर्या॒च्चक्षु॑र॒हं तव॑ ।
यत् ते॒ मन॒स्त्वयि॒ तद् धा॑रयामि॒ सं वि॑त्स्वाङ्गै॒र्वद॑ जि॒ह्वया॑ऽलपन् ॥३॥

(वातात्) वायु से (ते) तेरे (प्राणम्) प्राण को (अविदम्) मैंने पाया है, (सूर्यात्) सूर्य से (तव) तेरी (चक्षुः) चक्षु अर्थात् दृष्टिशक्ति को (अहम्) मैंने पाया है। (यत्) जो (ते) तेरा (मनः) मन है (तत्) उसे (त्वयि) तुझ में (धारयामि) मैं स्थापित करता हूं, (अङ्गैः) समग्र अङ्गों से सम्पन्न हुआ तू (संवित्स्व) सम्यक् प्रकार से ज्ञान प्राप्त कर, और (जिह्वया) जिह्वा द्वारा (अलपन्) प्रलाप न करता हुआ (वद) बोला कर।

[माणवक को खुली अन्तरिक्षीय वायु में रखना चाहिये, तथा अन्धेरे कमरों में उसके अध्ययन के स्थान में, सूर्य के प्रकाश में उसका अध्ययन-अध्यापन होना चाहिये। उसके मन में स्थिरता पैदा करनी चाहिये, मन की चञ्चलता का निरोध करना चाहिये ताकि वह सम्यक् प्रकार से ज्ञान प्राप्त कर सके। दण्ड प्रदान द्वारा उसका कोई अङ्ग विकृत नहीं करना चाहिये। व्यर्थ की बातचीत से उसे रोकना चाहिये। उसे ठीक प्रकार बोलना सिखाना चाहिये। अथवा मूर्छा तथा रोग के कारण माणवक के प्राण तथा चक्षुः आदि इन्द्रियों में जो क्षति आ गई है, और मनोविकार हो गया है, तथा अङ्ग विकृत हो गया है, और बोलने में जिह्वा का पक्षाघात हो गया है; इन सब को स्वस्थ करने का कथन मन्त्र में हुआ है]।

प्रा॒णेन॑ त्वा द्वि॒पदां॒ चतु॑ष्पदाम॒ग्निमि॑व जा॒तम॒भि सं ध॑मामि ।
नम॑स्ते मृत्यो॒ चक्षु॑षे॒ नमः॑ प्रा॒णाय॑ तेऽकरम् ॥४॥

(द्विपदां चतुष्पदाम्) दो पायों और चौपायों सम्बन्धी (प्राणेन) प्राण द्वारा (त्वा अभि) हे माणवक ! तुझ पर (संधमामि[1]) मैं आचार्य प्राण फूंकता हूं, (इव) जैसे कि (जातम्) नवोत्पन्न (अग्निम्, अभि) अग्नि को [धौंकनी, मुख,

१. "संधमामि" द्वारा धौंकनी सूचित होती है। अतः सम्भवतः धौंकनी द्वारा शनैः शनैः स्वच्छ वायु के संचार का कथन हुआ है। मुख द्वारा संचारित वायु स्वच्छ नहीं होती।

पंखे आदि द्वारा फूंका जाता है]। (मृत्यो) हे मृत्यु नामक परमेश्वर [सूक्त १। मन्त्र १] (ते) तेरी (चक्षुषे) कृपादृष्टि के लिये (नमः) नमस्कार, तथा (ते) तेरे (प्राणाय) प्राणप्रदस्वरूप के लिये (नमः) नमस्कार (अकरम्) मैं करता हूं, या मैंने किया है।

[मूर्च्छित हुए माणवक के स्वास्थ्य के लिये, उसे निज मुख आदि द्वारा प्राण अर्थात् प्राणवायु के फूंकने का वर्णन हुआ है। द्विपद्-मनुष्यों तथा चतुष्पद्-पशुओं में जैसे स्वस्थ प्राण होते हैं, तत्सम्बन्धी स्वस्थ प्राण के फूंकने का कथन आचार्य ने किया है। इसलिये आचार्य रुग्ण माणवक को कहता है कि द्विपदों और चतुष्पदों की स्वस्थ प्राणवायु के सदृश प्राणवायु द्वारा मैं आचार्य हे माणवक ! तुझ में, फूंक कर प्राणवायु का संचार करता हूं। इस निमित्त आचार्य मृत्युनामक परमेश्वर की सहायता के लिये उसे नमस्कार करता है]।

अ॒यं जी॑वतु॒ मा मृ॑ते॒मं समी॑रयामसि ।
कृ॒णोम्य॑स्मै भेष॒जं मृत्यो॒ मा पुरु॑षं वधीः ॥५॥

(अयम्) यह (जीवतु) जीए, (मा मृत) न मरे (इमम्) इसे (समीरयामसि) [पंखे आदि द्वारा] हम प्राणवायु प्रेरित करते हैं। (अस्मै) इसके लिये (भेषजम्) औषध (कृणोमि) मैं आचार्य या वैद्य करता हूं, (मृत्यो) हे मृत्यु के अधिष्ठाता मृत्यु नामक परमेश्वर ! (मन्त्र १) (पुरुषम्) माणवक का (मा वधीः) वध न कर।

[समीरयामसि=अन्तरिक्षस्थ वायु को "समीरण" कहते हैं, जो कि 'सम्' सम्यक्तया "ईरण" गति करती रहती है। सम्+ईर् (गतौ)। इस लिये वायु का नाम "सदागति" भी है। सदा गति करने के कारण इसकी शुद्धता को सूचित किया है, अतः यह प्राणप्रद है। "मा मृत" द्वारा सूचित किया है कि पुरुष अर्थात् माणवक वस्तुतः मरा नहीं, अपितु यह मूर्च्छित या आसन्नमृत्यु है]।

जी॒व॒लां न॑घारि॒षां जी॑व॒न्तीमोष॑धीम॒हम् ।
त्रा॒य॒मा॒णां सह॑मानां॒ सह॑स्वतीमि॒ह हु॑वे॒ऽस्मा अ॑रि॒ष्टता॑तये ॥६॥

(जीवलाम्) जीवन देने वाली, अर्थात् प्राण धारण कराने वाली, (नघा-

रिषाम्) अहत्या और अहिंसा करने वाली, (जीवन्तीम्) जीवित, हरी-भरी अर्थात् ताजा (त्रायमाणाम्) रक्षा करने वाली, (सहमानाम्) रोगों का पराभव करने वालो, (सहस्वतीम्) बलवती (ओषधीम्) ओषधि का (अहम्) मैं (इह) यहां (हुवे) आह्वान करता हूं। (अस्मै) इस माणवक की (अरिष्टतातये) अहिंसा के लिये।

[जीवलाम्=जीव (जीव प्राणधारणे)+लाम् (मत्वर्थीय: ल:)। नघारिषाम्=न+घ (हन्)=(न हन्ति)+अ, रिषाम् (रिष हिंसायाम्) न हनन करने वाली, न हिंसा करने वाली। सहमानाम्=रोगस्याभिभवित्रीम् (सायण)। सहस्वतीम्=सह: बलनाम (निघं० २।९)। अरिष्टतातये=अरिष्ट+ताति:, "शिवशमरिष्टस्य करे" (अष्टा० ४।४।१४३) द्वारा तातिल् प्रत्यय। "जीवलाम्" आदि नाना नाम भिन्न-भिन्न गुणों की दृष्टि से एक ही ओषधि के हैं, अथवा ये नाना ओषधियां हैं। "औषधीम्" पद का तथा 'हुवे' का प्रत्येक के साथ अन्वय है (सायण)। सायण के अनुसार यह ओषधि "पाठा" है]।

अधि ब्रूहि मा रंभथाः सृजेमं तवैव सन्त्सर्वहाया इहास्तु ।
भवाशर्वौ मृडतं शर्म यच्छतमपसिध्य दुरितं धत्तमायुः ॥७॥

(अधिब्रूहि) हे परमेश्वर ! अधिकार पूर्वक इसे तू "अपना" कह, (मा आरभथा:=लभस्व) इसे [रोग में] पकड़ न रख, (इमम्) इसका (सृज) सर्जन कर, नवजीवन सर्जन कर, (तव एव सन्) तेरा ही हुआ (सर्वहाया:) सब प्रकार की गतियों वाला होकर (इह) इस पृथिवी या आश्रम में (अस्तु) रहे। (भवाशर्वौ) हे नवोत्पत्ति करने वाले ! तथा रोगों का विनाश करने वाले ! (मृडतम्) तुम्हारे दोनों रूप इसे सुखी करें, और (शर्म यच्छतम्) आश्रय प्रदान करें, (दुरितम्) बुरे परिणाम [रोग] को (अपसिध्य) हटाकर (आयु:धत्तम्) आयु प्रदान करें।

[आचार्य प्रत्यक्षीकृत परमेश्वर से माणवक के स्वास्थ्य के लिये प्रार्थना करता है। गुणभेद से परमेश्वर के दो नाम हैं भव और शर्व। सर्वहाया:=सर्व+हाङ् (गतौ)+असुन्। असुनि णिद्वद् भावात् युक् (सायण) शर्म गृहनाम (निघं० ३।४)। गृह=आश्रय]।

अस्मै मृत्यो अधि ब्रूहीमं दयस्वोदितो३ यमेतु ।
अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुज्जरसा शतहायन आत्मना भुजमश्नुताम् ॥८॥

(मृत्यो) मृत्यु के अधिष्ठाता मृत्यु नामक हे परमेश्वर ! [मन्त्र १], (अस्मै) इसे (अधिब्रूहि) सन्मार्ग का निर्देश कर (इमम्) इस पर (दयस्व) दया कर, या इसकी रक्षा कर, (अयम्) यह (अरिष्ट:) अहिंसित हुआ, (सर्वाङ्ग:) सब अङ्गों समेत (सुश्रुत्) ठीक श्रवण करने वाला, (जरसा) जरावस्था के साथ (शतहायन:) सौ वर्षों वाला हो, (इत: उद् एतु) इस रुग्णावस्था से उठे, और (आत्मना) स्वयं (भुजम्) भोजनादि को (अश्नुताम्) प्राप्त करे।

[दयस्व=दया कर, या रक्षाकर। दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु (भ्वादि:)]।

देवानां हेतिः परि त्वा वृणक्तु पारयामि त्वा रजस उत् त्वा मृत्योरपीपरम् ।
आराद्ग्निं क्रव्यादं निरूहं जीवातवे ते परिधिं दधामि ॥९॥

(देवानाम्) इन्द्रियों का (हेति:) आयुध (त्वा) तुझे (परि वृणक्तु) छोड़ दे, (त्वा) तुझे (रजस:) रजोगुण से (पारयामि) मैं पार करता हूं, और (मृत्यो:) मृत्यु से (उत् अपीपरम् त्वा) तुझे उठाकर तेरा मैंने पालन किया है। (क्रव्यादम् अग्निम्) हिंसाप्राप्त-मांसभक्षक शवाग्नि को (आरात्) दूर (निरूहम्) मैंने निकाल दिया है, (ते) तेरे (जीवातवे) जीवन के लिये (परिधिम्) परिधि को (दधामि) मैं स्थापित करता हूं।

[इन्द्रियों का आयुध है, विषयों में विचरना। रजोगुण, इन्द्रियों को विषयों की ओर प्रेरित करता है। रजोगुण मृत्यु का कारण है। क्रव्याद्=कच्चे[1] मांस का भक्षण करने वाली शवाग्नि। निरूहम्=निर्+वह्।

१. कच्चे मांस का अभिप्राय है अल्पावस्था तथा युवावस्था के ब्रह्मचारियों का शरीर। आचार्य रोगोपचार द्वारा यह अभिलाषा प्रकट करता है कि ब्रह्मचारी का शरीर शवाग्नि के भेंट न होने पाए। वृद्धावस्था में शरीर परिपक्व हो जाता है। इस अवस्था में शवाग्नि के प्रति शरीर की भेंट तो स्वाभाविक है। कच्चा मांस है बिना पकाया मांस, जिसे कि हिंस्र प्राणी खाते हैं।

परिधि का अर्थ है घेरा । जीवन को जिस घेरे के भीतर रहना चाहिये वह जीवन की परिधि "ब्रह्म" (८।२।२५)] ।

यत् ते नियानं रजसं मृत्यो अनवधर्ष्यम् ।
पथ इमं तस्माद् रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि ॥१०॥

(मृत्यो) हे मृत्यु ! (यत् ते) जो तेरा (अनवधर्ष्यम्) न धर्षण करने योग्य अर्थात् अप्रसह्य (रजसम्) रजोगुणी (नियानम्) नीचे की ओर ले जाने वाला मार्ग है, (तस्मात् पथः) उस पथ अर्थात् मार्ग से (इमम्) इस माणवक की (रक्षन्तः) रक्षा करते हुए, (अस्मै) इसके लिये (ब्रह्म) ब्रह्म को (वर्म कृण्मसि) कवच हम करते हैं ।

[रजोमार्ग मृत्युकारक है । माणवक की रजोगुण से रक्षा करनी चाहिये । रजोगुण नीचे की ओर ले जाता, अर्थात् पतन करता है । नियान तथा रजोगुण के प्रहारों से बचने के लिये ब्रह्मरूपी कवच को धारण करना चाहिये] ।

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति ।
वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान् ॥११॥

हे माणवक ! (ते) तेरे लिये (प्राणापानौ) प्राण और अपान को (जराम्, मृत्युम्) जरावस्था को, तदनन्तर मृत्यु को; (दीर्घम्, आयुः) दीर्घ आयु तथा (स्वस्ति) अविनाश या कल्याण को (कृणोमि) मैं आचार्य करता हूं । (वैवस्वतेन) विवस्वान् अर्थात् सूर्य द्वारा (प्रहितान्) भेजे गए (चरतः) संचरण अर्थात् विचरते हुए, (सर्वान् यमदूतान्) यम के सब दूतों को (अप सेधामि) मैं निवारित करता हूं ।

[वैवस्वतेन=विवस्वान्+स्वार्थे अण्, सूर्य द्वारा । विवस्वान् या वैवस्वत है सूर्य, सूर्य की जाया है रात्रि । रात्रि माता है यम की । यम द्वारा भेजे गये दूत हैं मच्छर, सांप आदि हिंस्रप्राणी, जो कि मृत्युकारक हैं, और रात्रि में संचरण करते हैं, विचरते हैं । इनके निराकरण का वर्णन मन्त्र में हुआ है । विवस्वान् आदि के स्वरूप के परिज्ञानार्थ देखो (ऋ० १०।१७।१) तथा निरुक्त (१२।१।१२) । जराम्, मृत्युम्=जरावस्था को, तदनन्तर मृत्यु को] ।

आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान् ।
रक्षो यत् सर्वं दुर्भूतं तत् तम इवाप हन्मसि ॥१२॥

(अरातिम्) शक्तिप्रदान न करने वाले शत्रुभूत रोग को, (निर्ऋतिम्) तथा कृच्छ्रापत्ति को (आराद्) दूरतः [हन्मसि] हम आचार्य मार देते हैं, या भगा देते हैं, (ग्राहिम्) अङ्गों को जकड़ देने वाले रोग को, (क्रव्यादः, पिशाचान्) मांसभक्षक रोगकीटाणुओं को, और (यत्) जो (दुर्भूतम्) दुःस्थिति पैदा करने वाला (रक्षः) राक्षसी स्वभाव वाला कीटाणु समूह है, (तत् सर्वम् परः) उस सब को दूर करके, (अपहन्मसि) हम उसका हनन कर देते हैं । (तमः इव) जैसे कि अन्धकार को दूर कर दिया जाता है, या उसका हनन कर दिया जाता है ।

[ग्राहि=वात रोग, रूमाटिज्म आर्थ्रईटिस । क्रव्याद् और पिशाच का अर्थ है मांसभक्षक "रोग-कीटाणु" । ये रोगकीटाणु रोग द्वारा मांस को सुखा देते हैं, marasmus पैदा कर देते हैं । मांस को सुखा देना ही मांस को खाना है । दुर्भूतम्=दुः स्थितिः; दुर्+भू (सत्तायाम्) । अपहन्मसि=अपगत करके हनन करते हैं, (हन्=हिंसागत्योः, अदादिः) । क्रव्यम्=कृवि हिंसाकरणयोश्च (भ्वादिः) । पिशितम्=पिश अवयवे (तुदादिः)] ।

अग्नेष्टे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः ।
यथा न रिष्या अमृतः सजूरसस्तत् ते कृणोमि तदु ते समृध्यताम् ॥१३॥

[हे रुग्ण माणवक !] (अमृतात्) अमृतस्वरूप (आयुष्मतः) आयुप्रदाता (जातवेदसः) जातप्रज्ञ अर्थात् प्रज्ञानी (अग्नेः) सर्वाग्रणी परमेश्वर से (ते) तेरे (प्राणम्) प्राण की (वन्वे) मैं याचना करता हूं । (यथा) जिस प्रकार कि (न रिष्याः) तू हिंसित न हो, (अमृतः) और अमृत हो जाय, (सजूः) और परमेश्वर के साथ प्रीति करने वाला (असः) हो जाय । (ते) तेरे लिये (तत्) उस कर्म को (कृणोमि) मैं आचार्य करता हूं, (ते) तेरे लिये (तत् उ) वह कर्म (समृध्यताम्) समृद्धिदायक हो ।

[वन्वे=वनु याचने(तनादिः)। सजूः=स+जुषी प्रीतिसेवनयोः(तनादिः)। मन्त्र में अग्नि द्वारा परमेश्वरार्थ प्रतीत होता है । आयुष्मतः=अथवा

जिसके साथ आयुः अर्थात् जीवनकाल का नित्य सम्बन्ध है उस नित्य स्वरूप परमेश्वर से तेरे लिये प्राण की याचना करता[1] हूं]।

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ।
शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे।
शिवा अभि क्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥१४॥

(अभिश्रियौ) शोभा और सम्पत्तियों को प्राप्त हुए (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवी (ते) तेरे लिये (शिवे) कल्याणकारी (स्ताम्) हों; (असन्तापे) [और सम्पत्ति प्रदान कर तेरे लिये] मानसिक-सन्ताप अर्थात् चिन्ता को हटाने वाले हों। (ते) तेरे लिये (सूर्यः) सूर्य (शम्) सुख-शान्ति पूर्वक (आतपतु) सदा तपे, (ते) तेरे (हृदे) हृदय के लिये (वातः) वायु (शम्) सुख-शान्ति (वातु) प्रवाहित करे। (दिव्याः) दिव्य तथा (पयस्वतीः) स्वादिष्ट, मधुर (आपः) जल (त्वा अभि) तेरे प्रति, (शिवाः) कल्याणकारी हुए (क्षरन्तु) क्षारित हों, प्रस्रवित हों।

[अभिश्रियौ=अभिप्राप्तश्रियौ, सम्पत्तियों वाले, सम्पत्तियों के कारण-भूत तथा शोभायुक्त। असंतापे=सम्पत्ति के अभाव में मानसिक संताप अर्थात् चिन्ता रहती है। द्यावापृथिवी संपत्ति प्रदान कर तुझे सन्ताप से मुक्त करें]।

शिवास्ते सन्त्वोषधय उत् त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि।
तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा ॥१५॥

(ते) तेरे लिये (ओषधयः) ओषधियां (शिवाः सन्तु) कल्याणकारिणी हों, (त्वा) तुझे (अधरस्याः) नीचे की भूमि से (उत्तराम् पृथिवीम् अभि) ऊपर की पृथिवी की ओर (उत् अहार्षम्) मैं उठा लाया हूं। (तत्र) वहां अर्थात् पृथिवी पर (उभौ सूर्याचन्द्रमसौ) दोनों सूर्य और चन्द्रमा (आदित्यौ) जो कि निज प्रकाशों द्वारा प्रदीप्त हैं, (त्वा) तुझे (रक्षन्तु) सुरक्षित करें।

[अधर की पृथिवी है, समतलभूमि; और उत्तरा पृथिवी है पर्वतभूमि पर्वत भूमि स्वास्थ्यप्रद होती है। पर्वत भूमि स्वास्थ्यकरी होती है, चूंकि वहां वायु स्वच्छ होती है, और सूर्य की गर्मी कम होती है, चन्द्रमा भी पृथिवी की अशुद्ध वायु से अमिश्रित हुआ प्रकाश देता है। तथा ताजी और विविध प्रकार की ओषधियां भी सुगमता से प्राप्त हो सकती हैं। आदित्यौ। आदित्यः "आदीप्तो भासा" इति वा (निरुक्त २।४।१३), अर्थात् जो सूर्य और चन्द्रमा दीप्ति द्वारा आदीप्त होते हैं]।

1. ब्रह्मचारी के स्वास्थ्य तथा समृद्धि के लिये आचार्य के हृदय में कितनी उग्र भावना है, यह इन मन्त्रों द्वारा प्रकट हो रहा है।

यत् ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम्।
शिवं ते तन्वे३ तत् कृण्मः संस्पर्शेऽद्रूक्ष्णमस्तु ते ॥१६॥

(यत्) जो (ते) तेरा (परिधानम्, वासः) ओढ़ने का वस्त्र है, (याम्) और जिस (नीविम्) अधोवस्त्र को (त्वम्) तू (कृणुषे) धारण करता है, (तत्) उसे (ते तन्वे) तेरी तनू के लिये (शिवम्) कल्याणकारी वा सुखकारी (कृण्मः) हम करते हैं, वह (संस्पर्शे) शरीर के साथ स्पर्श में (ते) तेरे लिये (अद्रूक्ष्णम्) कोमल (अस्तु) हो।

[अद्रूक्ष्णम्=अरूक्ष्णम् "दकार" का आगम। न-रूखा अर्थात् न-कठोर अपितु कोमल। नीविम् नाभिदेशे संबद्धं वस्त्रं नीविरित्युच्यते (सायण)। पहनने के वस्त्र कोमल होने चाहियें। यह निर्देश रुग्णावस्था में है। नीविः =निवीयते संव्रियते सा नीविः, दुकूलबन्धनं वा (उणा० ४।१३७, दयानन्दः)]।

यत् क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु।
शुभं मुखं मा न आयुः प्र मोषीः ॥१७॥

(यत्) जो (मर्चयता) शुद्ध और (सुतेजसा) उत्तम प्रकार से तेज (क्षुरेण) उस्त्रे के द्वारा, (वप्ता) तू छेदन करने वाला नापित (केशश्मश्रु) केशों तथा मूंछ-दाढ़ी को (वपसि) काटता है, तो (नः) हमारे (शुभम्, मुखम्) मुख की शोभा को बढ़ा, तथा (आयुः) जीवनकाल को (मा) न (प्रमोषीः) नुकसान पहुंचा।

[मर्चयता="मर्च" धातु शब्दार्थक है। यथा "गज मार्ज शब्दार्थौ, मर्च च (चुरादिः) परन्तु उणा० ३।४३ में "मर्च" को सौत्रधातु कहा है (दयानन्दः); "मर्च इति सौत्रो धातुरिति बहवः" (कौमुदी टीका, ज्ञानेन्द्र सरस्वती)। अतः इनके मत में मर्च धातु चुरादिगणी नहीं। मर्च=To cleanse (आप्टे), अर्थात् शोधन। यह अर्थ मन्त्र में सङ्गत प्रतीत होता है।

क्षुर को शुद्ध अर्थात् स्वच्छ तथा तेज होना ही चाहिये। तभी क्षौर-कर्म ठीक सम्पन्न हो सकता है। मोषीः=मुष स्तेये। स्तेय द्वारा द्रव्यापहरण किया जाता है। हमारे मुख की शोभा और आयु को वपन द्वारा तू अपहृत न कर, यह भाव है। ब्रह्मचारी विद्याग्रहण के लिये उपनयन पूर्वक गुरु के आश्रय में जाता है। वैदिक विधि में उस समय उसका क्षौरकर्म होना चाहिये। विद्या के ग्रहण में आयु का विचार नहीं है। अल्पायु तथा युवा भी उपनयन पूर्वक विद्या ग्रहण कर सकता है। युवा की दृष्टि से "श्मश्रु" पद पठित है[1]।

शिवौ तें स्तां व्रीहियवावंबलासावंदोमधौ ।
एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः ॥१८॥

(ते) तेरे लिये (व्रीहियवौ) धान और जौ (शिवौ) कल्याणकारी, (अबलासौ) बलास रोग से रहित, (अदोमधौ=अदोमधू) खाने में मधुर (स्ताम्) हों। (एतौ) ये दोनों (यक्ष्मम्) यक्ष्मा को (वि बाधेते) विशेषतया बाधित करते हैं, उसके आने में बाधा उपस्थित करते हैं, (एतौ) ये दोनों (अंहसः) पाप से (मुञ्चतः) मुक्त करते हैं।

[अबलासौ=अ+बल+अस् (क्षेपणे), बल का न क्षेपण करने वाले। "अबलासौ=शरीरबलस्य अक्षेप्तारौ, बलकरौ" (सायण)। अदोमधौ=अदोमधू मधुरौ (सायण)। अथवा अदोमधौ=अदोमदौ=अदसि भक्षणे मदौ तृप्तिकरौ (मद तृप्तियोगे; चुरादिः, वर्णविकारः)। अंहसः=व्रीहि और यव सात्त्विक भोजन हैं, तामसिक और राजसिक भोजन नहीं, अतः इनका भोजन पाप की ओर प्रवृत्त नहीं करता। मन्त्र १७ में युवावस्था के ब्रह्मचारी का वर्णन हुआ है, उसे सात्त्विक भोजन करने का निर्देश दिया है। युवावस्था में पापकर्म की ओर प्रवृत्ति की सम्भावना हो जाती है]।

---

१. मन्त्र १७ की व्याख्या में सायणाचार्य ने "देवसविता" का अध्याहार करके अर्थ किया है, "हे संस्कारक पुरुष !" यह अर्थ आधिभौतिक है, आधिदैविक नहीं। इसलिये प्रकरणानुसार "देव और सविता" आदि पदों के आधिभौतिक अर्थ भी सम्भव हैं, यह सायणाचार्य को भी अभिप्रेत है। ऋषि दयानन्द ने अपने वैदिक भाष्यों में दैवत नामों के प्रायः आधिभौतिक अर्थ किये हैं। सायणाचार्य के अनुसार सविता है "वप्ता, केशानां छेत्ता नापितः" अर्थात् नाई। वप्ता=वप बीजसन्ताने छेदने च (भ्वादिः)। मन्त्र में वप्ता पद छेदनार्थक है, नापित है।

यदश्नासि यत् पिबसि धान्यं कृष्याः पयः ।
यदाद्यं१ यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि ॥१९॥

हे ब्रह्मचारिन् ! (यत्) जो (कृष्याः धान्यम्) कृषि से प्राप्त धान्य को (अश्नासि) तू खाता है, (यत्) जो (पयः) दूध (पिबसि) तू पीता है, अर्थात् (यद्) जो धान्य (आद्यम्) भक्षणीय है, (यत्) और जो (अनाद्यम्) भक्षणीय नहीं, अपितु पेय दुग्ध है, (ते) तेरे लिये, (अविषम्) विष रहित (सर्वम्, अन्नम्) इस सब अन्न को (कृणोमि) मैं आचार्य नियत करता हूं।

[अर्थात् मांसभक्षण तथा मदिरापान विषरूप अन्न हैं]।

अह्ने च त्वा रात्रये चोभाभ्यां परि दद्मसि ।
अरायेभ्यो जिघत्सुभ्य इमं मे परि रक्षत ॥२०॥

हे ब्रह्मचारिन् ! (त्वा) तुझे (अह्ने च रात्रये च) दिन के प्रति और रात्रि के प्रति (उभाभ्याम्) दोनों के प्रति, (परिदद्मसि) हम सुरक्षार्थ समर्पित करते हैं। (अरायेभ्यः) शत्रुरूप रोगों से, (जिघत्सुभ्यः) और भक्षण कर लेने वाले रोगों से, (मे) मेरे (इमम्) इस ब्रह्मचारी को (परिरक्षत) सब प्रकार से सुरक्षित करो।

[दिन में सूर्य के प्रकाश में रोगी को रखना और रात्रि में पूर्ण विश्राम, यह है दिन और रात्रि के प्रति समर्पण। "अराय" हैं अराति अर्थात् शत्रु। रोग सभी शत्रु होते हैं, कोई तो जीवन का न भक्षण करने वाले और कई जीवन का भक्षण करने वाले ! इन दोनों प्रकार के रोगों की निवृत्ति के लिये [वैद्यों से] प्रार्थना की गई है। (मे) "मेरे" द्वारा रोगी के प्रति आचार्य की आत्मीयता प्रकट की गई है। "जिघत्सुभ्यः" में अद् (भक्षणे) को घस्लृ आदेश हुआ है (अष्टा० २।४।३७)]।

शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥२१॥

हे ब्रह्मचारिन् ! (ते) तेरे लिये (शतम्, हायनान्) सौ वर्ष (कृण्मः) हम निश्चित करते हैं। और (अयुतम्) दस हजार [१०,०००] वर्षों की संख्या (१) के स्थान में पूर्व-पूर्व के क्रम में ४३२ रखकर ४३-२००० कलियुग की संख्या। का निर्माण करते हैं। (द्वे युगे) कलियुग की संख्या

को द्विगुणित करके द्वापर की संख्या ८६४००० करते हैं,। (त्रीणि युगानि) कलियुग की संख्या को त्रिगुणित करके त्रेता की संख्या १२९६००० करते हैं। (चत्वारि युगानि) कलियुग की संख्या को चार गुणा करके सतयुग की संख्या १७२८००० करते हैं। इस प्रकार चतुर्युगी की संख्या ४३२,००००० वर्ष करते हैं। (इन्द्राग्नी) इन्द्र अर्थात् राजा और अग्नि अर्थात् अग्रणी प्रधानमन्त्री, तथा (विश्वे देवाः)तथा राष्ट्र के सब विद्वान् (ते) तेरे परिज्ञान के लिये (अहृणीयमानाः) क्रोध किये विना (अनुमन्यताम्) युगशिक्षा को अनुकूल मान लें अर्थात् इसे स्वीकृत करलें।

[अहृणीयमानाः, "हृणीयते क्रुध्यतिकर्मा" (निघं० २।१२), तथा "हृणीङ् रोषणे लज्जायाञ्च" (कण्ड्वादिः)। लज्जा=संकोच। ब्रह्मचारी को युगों की संख्यानिर्माण की शिक्षा दी गई है।

मन्त्र में एक चतुर्युगी के काल का कथन किया है, जिसका कि परिज्ञान ब्रह्मचारी अर्थात् विद्यार्थी को करा देना चाहिये। जैसे विद्यार्थी को दिनांक, मास तथा संवत् या सन् का परिज्ञान वर्तमान में कराया जाता है,वैसे वैदिक विद्यार्थी को, एक चतुर्युगी के काल के परिज्ञान का कथन मन्त्र में हुआ है]।

मन्त्र में युग शब्द युगार्थक है इसमें निम्नलिखित मन्त्र प्रमाण है। यथा—

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहꣳ शतं धामानि सप्त च ॥ यजु० १२।७५॥

(याः) जो (ओषधीः) ओषधियां (पूर्वाः जाताः) प्रथम पैदा हुई हैं, (देवेभ्यः) देवों की अपेक्षया (त्रियुगम्, पुरा) तीन युग पहिले अर्थात् पुरा-काल में। उन (बभ्रूणाम्) भरण-पोषण करने वाली ओषधियों के (शत धामानि, सप्त च) सौ और सात धामों को (अहम्) मैं (नु) निश्चय से (मनै) जानता हूं।

[इस मन्त्र में, देवों से तीन युग पुराकाल में उत्पन्न ओषधियों का कथन हुआ है। इसमें पुरातत्त्वविद्या का निर्देश हुआ है। सम्भवतः प्रथम ओष-धियों के पुराकाल, तदनन्तर जलीय जन्तुओं के पुराकाल, तदनन्तर पृथिवी वासी जन्तुओं के पुराकाल का निर्देश मन्त्र में हुआ है। तत्पश्चात् देव अर्थात् मनुष्य देवों की उत्पत्ति निर्दिष्ट की है। ये तीन युग हैं कृतयुग [सत्ययुग], त्रेता तथा द्वापरयुग। मनुष्य युग है कलियुग। यजुर्वेद में "देवेभ्यः", तथा व्याख्येय मन्त्र में "विश्वेदेवाः" का कथन हुआ है। दोनों पदों में "देव" पद का एक ही अभिप्राय है]।

"चतुर्युगी" का वर्णन भूमिसम्बन्धी पुरावृत्त के ज्ञान के लिये है। भूमि के पुरातत्त्व के सम्बन्ध में देखो (अथर्व० ११।८।७; १२।१।८,६०)।

शरदे॑ त्वा हेम॒न्ताय॑ वस॒न्ताय॑ ग्री॒ष्माय॒ परि॑ दद्मसि।
व॒र्षाणि॒ तुभ्यं॑ स्यो॒नानि॒ येषु॒ वर्ध॑न्त॒ ओष॑धीः ॥२२॥

(त्वा) तुझे (शरदे) शरदृतु के लिये, (हेमन्ताय) हेमन्त ऋतु के लिये (वसन्ताय) वसन्त ऋतु के लिये (ग्रीष्माय) ग्रीष्म ऋतु के लिये (परिदद्मसि) रक्षार्थ हम सौंपते हैं। (वर्षाणि) बरसातें (तुभ्यम्) तेरे लिये (स्योनानि) सुखदायक हों, (येषु) जिन में (ओषधीः) ओषधियां (वर्धन्ते) बढ़ती हैं।

[मन्त्र में ऋतुचर्या का निर्देश किया है। वर्षाणि=वर्ष शब्द नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त है, जिसका अर्थ है वर्षा। स्योनानि "स्योनम् सुखनाम" (निघं० ३।६)]।

मृ॒त्युरी॑शे द्वि॒पदां॑ मृ॒त्युरी॑शे॒ चतु॑ष्पदाम्।
तस्मा॒त् त्वां मृ॒त्योर्गोप॑ते॒रुद् भ॑रामि॒ स मा बि॑भेः ॥२३॥

(मृत्युः) मृत्यु (द्विपदाम्) दो-पायों का (ईशे) अधीश्वर है, (मृत्युः) मृत्यु (चतुष्पदाम्) चौपायों का (ईशे) अधीश्वर है। (तस्मात्) उस (गोपते) पृथिवी के पति (मृत्योः) मृत्यु से (त्वाम्) तेरा (उद्भरामि) उद्धार मैं करता हूं, (सः) वह तू (मा) न (बिभेः)भय कर।

[गोपतेः; गौः पृथिवीनाम (निघं० १।१)। दो-पायों और चौ-पायों का पृथिवी के साथ सम्बन्ध है, इसलिये "गोपतेः" का अर्थ "पृथिवीपति" सु-सङ्गत है। पृथिवीनिवासी समग्र प्राणियों की अधीश्वरी है मृत्यु]।

सो॑ऽरिष्ट॒ न म॑रिष्यसि॒ न म॑रिष्यसि॒ मा बि॑भेः।
न वै तत्र॑ म्रियन्ते॒ नो य॑न्त्यध॒मं तमः॑ ॥२४॥

(सः) वह (अरिष्ट) हे हिंसारहित! (न मरिष्यसि) तू न मरेगा, (न मरिष्यसि) न मरेगा, (मा बिभेः) तू न भय कर। (वै) निश्चय से (तत्र) उस अवस्था में (न म्रियन्ते) नहीं मरते, (नो) न (अधमम् तमः) मरण-कालीन अधम मूर्छा को (यन्ति) प्राप्त होते हैं॥२४॥

सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः ।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम् ॥२५॥

(तत्र) उस अवस्था में (वै) निश्चय से (जीवति) जीवित रहता है, (सर्व) सभी (गौः, अश्वः, पुरुषः, पशुः) गौ अश्व तथा पुरुष और पशु, (यत्र) जिस अवस्था में (इदम् कम् ब्रह्म) इस सुखस्वरूप ब्रह्म को (जीवनाय) जीवन के लिये (परिधिः) परिधि (क्रियते) कर लिया जाता है ॥२५॥

["गौः, अश्वः, पुरुषः, पशुः" के दो अभिप्राय सम्भव हैं (१) गौ, अश्व, पुरुष, इन में से प्रत्येक पशु है। यथा "तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः" (अथर्व० ११।२।९) में गौ आदि पांचों को पशु कहा है। (२) गौ, अश्व, पुरुष तथा तद्भिन्न पशु। पशु जात्येकवचन है। ब्रह्म के भी दो अर्थ हैं। (१) परमेश्वर (२) वेद। ये दोनों परिधि हैं। परमेश्वरार्थ में अभिप्राय है ब्रह्म को निज की परिधि मानना। अपने-आप को इस परिधि में केन्द्ररूप में जानकर यह समझना कि मैं ब्रह्म द्वारा घिरा हुआ हूं, जो कि कर्माध्यक्ष और कर्मफल दाता है, अतः सदा सत्कर्म करना। इससे जीवन पवित्र और सात्त्विक बन कर जीवनावधि से पूर्व नहीं मरता। जीवनावधि है १०० वर्ष।

दूसरी परिधि है, वेद। जैसे कि कहा है कि "सप्तास्यासन् परिधयः" (यजु० ३१।१५) अर्थात् सप्तविध छन्दों वाला वेद परिधिरूप है। इस परिधि के भीतर अपने-आप को रख कर वेदोपदिष्ट मार्ग पर चलने से व्यक्ति जीवनावधि से पहले नहीं मरता, अपितु "शतात्" से भी "भूयः" जीवित रह सकता है। वेद भी "कम्" है, यतः वेद सुखी जीवन का मार्ग दर्शाता है]।

परि त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात् सबन्धुभ्यः ।
अमम्रिर्भवामृतोऽतिजीवो मा ते हासिषुरसवः शरीरम् ॥२६॥

[हे ब्रह्मचारिन्!] (त्वा) तेरी (परिपातु) सब ओर से रक्षा करे, [आचार्य], (समानेभ्यः) समान आचार्य वाले सतीर्थ्यों से होने वाली, तथा (सबन्धुभ्यः) समानजाति के बन्धुओं से होने वाली (अभिचारात्) अभिचार क्रिया से, हिंसा से। [ब्रह्म की परिधि के भीतर रहता हुआ तू (मन्त्र २५)] (अमम्रिः भव) न मरने वाला हो जा (अमृतः) अमृत हो जा, (अतिजीवः) जीवन काल को अतिक्रान्त कर जा, (असवः) प्राण (ते शरीरम्) तेरे शरीर को (मा हासिषुः) न त्यागें [जीवन की अवधि से पूर्व]।

[अतिजीवः=जीवन की सामान्य अवधि है १०० वर्ष। इस अवधि को तू अतिक्रान्त कर जा, "भूयश्च शरदः शतात्" के अनुसार १०० वर्षों से भी अधिक तू जीवित हो। समानेभ्यः=सतीर्थ्येभ्यः, यथा "समानतीर्थे वासी" (अष्टा० ४।४।१०७)। हासिषुः=ओहाक् त्यागे (जुहोत्यादिः)]।

ये मृत्यव एकशतं या नाष्ट्रा अतितार्याः ।
मुञ्चन्तु तस्मात् त्वां देवा अग्नेर्वैश्वानरादधि ॥२७॥

(ये) जो (एकशतम्) एक सौ या एकाधिक सौ (मृत्यवः) मृत्युएं हैं, तथा (याः) जो (अतितार्याः) सुगमता से तैरा जा सकने वाली अन्य (नाष्ट्राः) विनाशक शक्तियां हैं, (तस्मात्) उस द्विविध से, तथा (वैश्वानरात् अग्नेः) सब नर-नारियों सम्बन्धी अग्नि अर्थात् जो शवाग्नि है उस से (त्वाम्) तुझे (देवाः) देव आचार्य (अधि मुञ्चन्तु) छुड़ा दें।

[१०० वर्षों में से प्रत्येक वर्ष में, एकैक की दृष्टि से सम्भाव्य मृत्युएं १०० हैं, तथा गर्भ में ही सम्भाव्य मृत्यु उन से एक पृथक् है। इस प्रकार मृत्युओं की संख्या १०० भी है, और १०१ भी। नाष्ट्राः शक्तियां हैं, रोग-रूप। इनसे सुगमता पूर्वक तैर जाना सम्भव है, जैसे कि नौका द्वारा नदी या समुद्र को तैर जाना। देवाः=अध्यात्मशक्तिसम्पन्न व्यक्ति आचार्य]।

अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णु रक्षोहासि सपत्नहा ।
अथो अमीवचातनः पूतुद्रुर्नाम भेषजम् ॥२८॥

(अग्नेः) अग्नि का (शरीरम्) शरीर (असि) तू है, (पारयिष्णु) रोगों से पार करने वाला (रक्षोहा) रोगकीटाणुओं का हनन करने वाला, (सपत्नहा) रोगशत्रु का हनन करने वाला (असि) तू है। (अथो) तथा (अमीवचातनः) अमीवा नामक रोगकीटाणु का विनाशक तू है, (पूतुद्रुः नाम) पूतुद्रु नामक (भेषजम्) औषध तू है।

[मन्त्र (२७) में कथित "नाष्ट्राः" रोगों का परिगणन मन्त्र २९ में हुआ है। "पूतुद्रु" नामक भेषज द्वारा इनका हनन या विनाश किया जा सकता है। "पूतुद्रु" का अर्थ है पूति अर्थात् दुर्गन्धि का द्रावण करने वाला। यह दुर्गन्ध है, रोगजन्य। पूतुद्रु वृक्षविशेष है जो कि अग्नि का शरीर है। अग्नि इस वृक्षशरीर में निवास करती है। सम्भवतः पूतुद्रु की लकड़ी शीघ्र ज्वलनशील है, इसलिये इसे अग्नि का शरीर कहा हो। अमीव=अम रोगे (चुरादिः)। चातनः; सम्भवतः "चट भेदने" (चुरादिः)। चाट जाने वाला खा जाने वाला। पूतुद्रु=पूतुम्, पूतिः Putrid, foul smelling (आप्टे) +द्रु (गतौ), द्रावक। अथवा पूतु+द्रु (द्रुम, वृक्ष)]।

काण्ड ८ अनुवाक १ समाप्त

सूक्त ३

विषय-प्रवेश

(१) सूक्त में २६ मन्त्र हैं। आधिभौतिकार्थ दर्शाया है। आधिदैविकार्थ तो स्पष्ट है। आधिभौतिक अग्नि=प्रधानमन्त्री।

(२) अग्नि अर्थात् अग्रणी प्रधानमन्त्री "उभयावी" है, राष्ट्र के अभ्युदय और निःश्रेयस का रक्षक है प्रधानमन्त्री (मन्त्र ३)।

(३) यातना देने वालों के हृदयवेधन और उनकी बाहुओं को तोड़ देना। (मन्त्र ६)।

(४) यातुधान है जो अनृत द्वारा ऋत अर्थात् सत्य का हनन करता है (मन्त्र ११)।

(५) परस्पर शाप देने वाले पति-पत्नी को, तथा कटु-वक्ता को मानसिक क्रोधरूपी शर-समूह द्वारा हृदय-वेधन दण्ड (मन्त्र १२)।

(६) पापी और कुटिल को, तथा "वाचा स्तेन" को बन्धनागार का दण्ड (मन्त्र १४)।

(७) अश्वादि पशु की हत्या करके उनके मांस के भक्षक पुरुष को, तथा जो अहन्तव्या गौ के हनन द्वारा गोदुग्ध का अपहरण करता है उसे शिरःछेद दण्ड (मन्त्र १५)।

(८) गोहत्यारे के मर्मस्थान का वेधन (मन्त्र १७)।

(९) "न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः" द्वारा ज्ञात होता है कि राक्षसों के साथ संग्राम करने पड़ते हैं। अतः राक्षस है मनुष्य, और वे संग्रामशील हैं। अतः सूक्त ३ का आधिभौतिक अर्थ सूक्त में अभिप्रेत है (मन्त्र १८)।

(१०) अग्नि अर्थात् अग्रणी प्रधानमन्त्री कवि है, मेधावी है (निघं० ३।१५), और वह काव्येन अर्थात् वेदकाव्योक्त विधि द्वारा रक्षा करता है (मन्त्र २०)।

(११) राक्षस स्वभाव वाले व्यक्तियों का हनन विष तथा अस्त्रों द्वारा (मन्त्र २३)।

(१२) शृङ्गे=जलते हुए आग्नेय अस्त्र-शस्त्र (मन्त्र २४,२५)।

(१३) अग्नि अर्थात् प्रधानमन्त्री कैसा होना चाहिये (मन्त्र २६)।

द्वितीय अनुवाक

सूक्त ३

१-२६ चातनः । अग्निः । त्रिष्टुप् ७, १२-१५, १७, २१ भुरिक्; २२, २३ अनुष्टुप्; २५ पञ्चपदा बृहतीगर्भा जगती; २६ गायत्री ।

रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुप यामि शर्म ।
शिशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम् ॥१॥

(रक्षोहणम्) राक्षसों का हनन करने वाले, (वाजिनम्) बलशाली तथा अन्नवाले अग्नि को (आ जिघर्मि) मैं प्रदीप्त करता हूं, ओर (प्रथिष्ठम्) विस्तार वाले (मित्रम्) मित्र को (शर्म) आश्रयरूप में (उपयामि) मैं प्राप्त करता हूं । (अग्निः) अग्नि (शिशानः) अपने आप को तीक्ष्ण करता हुआ, (क्रतुभिः) क्रतुओं द्वारा (समिद्धः) सम्यक् प्रदीप्त (सः) वह अग्नि (दिवा नक्तम्) दिन-रात (नः) हमें (रिषः) हिंसाओं तथा हिंसकों से (पातु) सुरक्षित करे ।

[वेदों में कई मन्त्र द्व्यर्थक तथा त्र्यर्थक होते हैं । इसलिये उनमें ऐसे पद होते हैं जो कि दो या तीन अर्थों को सूचित करें । वर्तमान सूक्त भी ऐसा है । मैंने केवल आधिभौतिक अर्थ की व्याख्या की है । एतदनुसार मन्त्र में "अग्नि" अर्थात् प्रधानमन्त्री के प्रति राजा की उक्ति है । राजा प्रधानमन्त्री को कहता है कि राक्षसों अर्थात् निज राष्ट्र पर आक्रमण करने वाले परराष्ट्र के सैनिकों की हत्या करने वाले, बलशाली तथा प्रभूत अन्न सामग्री वाले तुझको मैं राजा घृत आदि पदार्थों द्वारा पूर्णतया प्रदीप्त करता हूं, तेरी शक्ति को बढ़ाता हूं । और तेरी सहायता के लिये, विस्तृत राष्ट्र वाले तथा विस्तृत शक्ति वाले मित्र राष्ट्र के राजा की सहायतार्थ उसके राष्ट्र में उसे मिलने के लिये मैं जाता हूं । तू अपने राष्ट्र में अस्त्र-शस्त्रों आदि द्वारा तीक्ष्णता प्राप्त कर, और नाना सैनिक कर्मों तथा प्रज्ञाओं द्वारा सम्यक्-प्रदीप्त होकर हम सब की रक्षा आक्रमणकारियों से दिन-रात कर ।

वाजिनम् "वाजः बलनाम", "वाजः अन्ननाम" (निघं० २।९; २।७) । आजिघर्मि=आ+घृ क्षरणदीप्त्योः । मित्रम्="क्षत्रेणाग्ने स्वेन संरभस्व

मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व । सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह" (अथर्व० २।६।४) । इस मन्त्र में क्षत्रेण, मित्रेण, मित्रधा राज्ञाम्, अग्ने, विहव्यः [विविध हव्यों अर्थात् भक्षणयोग्य अन्नों वाला), तथा दीदिहि [प्रदीप्त हो] तथा इह [इस अपने राष्ट्र में] इत्यादि शब्द राजनीतिक अर्थात् आधिभौतिक अर्थ के सूचक हैं । व्याख्येय मन्त्र १, तथा २।६।४ के मन्त्र में पदों के सामान्य अर्थ पर विचार करने पर व्याख्येय मन्त्र राष्ट्रपरक प्रतीत होता है । "शर्म गृहनाम" (निघं० ३।४) । गृह आश्रय होता है। अतः मन्त्र में शर्म का अर्थ आश्रय किया है] ।

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः ।
आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व क्रव्यादो वृष्ट्वापि धत्स्वासन् ॥२॥

(जातवेदः) हे उत्पन्नप्रज्ञ ! मन्त्रिन् ! (समिद्धः) शस्त्रास्त्र द्वारा सम्यक्-प्रदीप्त हुआ, तथा (अयोदंष्ट्रः) लोहनिर्मित दाढ़ों से सम्पन्न हुआ तू (अर्चिषा) जलती आग्नेय-लपटों द्वारा (यातुधानान्) यातना देने वाले परकीय सैनिकों को (उपस्पृश) समीपता से स्पर्श कर । (जिह्वया) आग्नेय लपटों द्वारा (मूरदेवान्) परराष्ट्र के मूढ विजिगीषु-सैनिकों को (आरभस्व - आलभस्व) तू पकड़, और (क्रव्यादः) इन कच्चा मांस खानेवाले सैनिकों पर (वृष्ट्वा) बाणवर्षा करके (अपि धत्स्व) जेलों में बन्द कर दे, जैसे कि (आसन) मुख में खाद्यवस्तु को बन्द कर दिया जाता है, और मुखाग्नि उन्हें खा जाती है ।

[अयोदंष्ट्रः=प्रधानमन्त्री के लोहनिर्मित शस्त्रास्त्र । यथा 'अयोमुखाः' बाणाः (अथर्व० ११।१०।३) ; स्वायसाः असयः (अथर्व० १०।१।२०) आदि । यातुधानान्=यातवो यातनाः ता एषु धीयन्ते=यातुधानाः (सायण) । जिह्वया=अग्नि की सात जिह्वाएं, ज्वालाएं (मुण्डक० उप० १।२।४) । मूर (मूढ़)+देवान्, दिवु विजिगीषा० (दिवादिः) । क्रव्यादः=निज सैनिकों द्वारा, शस्त्रास्त्रों से परकीय जीवित सैनिकों को मारना, उनके कच्चे मांसों को खा जाना है । क्रव्य (कच्चा मांस)+अदः (भक्षणे) खा जाने वाले] ।

उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रौ हिंस्रः शिशानोऽवरं परं च ।
उतान्तरिक्षे परि याह्यग्ने जम्भैः सं धेह्यभि यातुधानान् ॥३॥

(उभयाविन्) हे दोनों की रक्षा करने वाले ! (हिंस्र) शत्रु की हिंसा करने वाला तथा (शिशानः) शस्त्रास्त्रों द्वारा तीक्ष्ण हुआ तू (अवरम्, परम्

च) अवर और पर के (उभौ) दोनों (दंष्ट्रौ) दाढ़ों को (उपधेहि) शत्रु के समीप स्थापित कर। (उत) तथा (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (परि याहि) सब ओर तू जा। (अग्ने) हे अग्रणी! प्रधानमन्त्रिन्! (जम्भैः) शस्त्रास्त्र-रूपी दाढ़ों या दांतों द्वारा (यातुधानान्) यातना देने वालों की (अभि) साक्षात् (संधेहि) संनिधि में तू जा।

[उभयाविन्[1] प्रजा के अभ्युदय और निश्रेयः इन दोनों की रक्षा करने वाला अग्रणी प्रधानमन्त्री। अवर और पर दो दंष्ट्राएं हैं, निजराष्ट्र के शस्त्रास्त्र (मन्त्र २), तथा परराष्ट्र अर्थात् मित्रराष्ट्र के शस्त्रास्त्र। मन्त्र में "अग्ने" पद द्वारा प्राकृतिक अग्नि का ग्रहण संमत नहीं होता]।

अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम्।
प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात् क्रविष्णुर्वि चिनोत्वेनम् ॥४॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (यातुधानस्य) यातना देने वाले की (त्वचम्) त्वचा को (भिन्धि) छिन्न-भिन्न कर दे। (हिंस्रा अशनिः) हिंसाकारी वैद्युतास्त्र (हरसा) जीवनापहरण द्वारा (एनम् हन्तु) इस का हनन करे। (जातवेदः) हे उत्पन्नप्रज्ञ! (पर्वाणि) इस के शारीरिक अङ्गों या जोड़ों को (प्रशृणीहि) काट दे, (क्रव्यात्) कच्चा मांस खाने वाला, (क्रविष्णुः) कच्चा मांस खाने के स्वभाव वाला [वृकादि पशु] (एनम्) इसे (विचिनोतु) भक्षणार्थ चुने।

[शान्तिप्रिय राष्ट्र या व्यक्ति को यातना देने वाले व्यक्ति के लिये, उग्र दण्ड विधान हुआ है]।

यत्रेदानीं पश्यसि जातवेदस्तिष्ठन्तमग्ने उत वा चरन्तम्।
उतान्तरिक्षे पतन्तं यातुधानं तमस्ता विध्य शर्वा शिशानः ॥५॥

(अग्ने) हे अग्रणी, प्रधानमन्त्रिन्। (जातवेदः) तथा हे उत्पन्नप्रज्ञ! (इदानीम्) इस काल में (यत्र) जिस भी प्रदेश में (तिष्ठन्तम्) स्थित हुए (उत वा) या (चरन्तम्) इधर-उधर घूमते हुए, (उत) या (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (पतन्तम्) उड़ते हुए (यातुधानम्) यातना देने वाले को (पश्यसि) तू देखता है, (तम्) उसे (अस्ता) अस्त्र प्रहार करने वाला तू (शिशानः) उग्र हुआ-हुआ (शर्वा) घातकायुध द्वारा (विध्य) वींध।

१. उभय + अव (रक्षणे) + इनिः, सम्बुद्धौ।

[पतन्तम्=विमान द्वारा उड़ते हुए को। विध्य=वाण या वज्र द्वारा, या गाली द्वारा बींध। (अथर्व० १।१६।४) में सीसे द्वारा बींधने का वर्णन हुआ है, जो कि सीसे की गोली प्रतीत होती है]।

यज्ञैरिषूः संनममानो अग्ने वाचा शल्याँ अशनिभिर्दिहानः।
ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान् प्रतीचो बाहून् प्रति भङ्ग्ध्येषाम् ॥६॥

(अग्ने) हे अग्रणी, प्रधानमन्त्रिन्! (यज्ञैः) युद्धयज्ञों के कारण या द्वारा (इषूः) शत्रुओं के वाणों को (संनममानः) नमाता हुआ उनके वाणों को अधोमुख करता हुआ तू (वाचा) वेदवाणी में कथित विधि के अनुसार (अशनिभिः) विद्युत् प्रयोगों द्वारा (शल्यान्) निज इषुओं के अग्रभागों में लगे शंकुओं को (दिहानः) तीक्ष्ण करता हुआ, (ताभिः) उन तीक्ष्ण इषुओं द्वारा (यातुधानान्) यातना देने वालों को (हृदये) हृदय में (विध्य) बींध और (एषाम्) इनके (बाहून्) बाहुओं को (प्रतीचः) टेड़े कर (प्रतिभङ्ग्धि) प्रत्येक बाहु को तोड़ डाल।

[यज्ञैः=युद्धयज्ञैः। आत्मरक्षार्थ किये गये युद्ध, यज्ञरूप हैं। परकीय-राष्ट्र पर विजय की भावना से किये युद्ध, यज्ञरूप नहीं। भङ्ग्धि= बाहुओं को तोड़ना ताकि बाहुओं द्वारा ये अस्त्र न चला सकें]।

उतारब्धान्त्स्पृणुहि जातवेद उतारेभाणाँ ऋष्टिभिर्यातुधानान्।
अग्ने पूर्वो नि जहि शोशुचान आमादः क्ष्विङ्कास्तमदन्त्वेनीः ॥७॥

(जातवेदः) हे उत्पन्नप्रज्ञ! (उत) तथा (आरब्धान्) जिन्होंने युद्ध आरम्भ कर दिया है उन पर (स्पृणुहि) तू वाणों की बौछार कर, (उत) तथा (आरेभाणान्) जो युद्धारम्भ करने वाले हैं उन (यातुधानान्) यातना देने वालों को, (ऋष्टिभिः) आयुधों द्वारा, (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (शोशुचानः) तेजस्वी शस्त्रास्त्रों द्वारा तेजस्वी हुआ तू (पूर्वः) पहला हो कर (निजहि) नितरां मार डाल। (आमादः) कच्चा मांस खाने वाले (एनीः) नाना वर्णों वाले (क्ष्विङ्काः) पक्षी, (तम्) उस प्रत्येक यातुधान को (अदन्तु) खा जांय।

[स्पृणुहि=स्पृ प्रीतिसेवनयोः । प्रीतिचलनयोरित्यन्ये (स्वादिः), धातुप्रोक्त अर्थ मन्त्र में संगत प्रतीत नहीं होता । सम्भवतः आङ्गल भाषा का "Spray" शब्द "स्पृ" का विकृतरूप हो, जिसका अर्थ है बौछार करना । इससे मन्त्रार्थ संगत हो जाता है। सायणाचार्य ने अर्थ किया है "आरब्धान् त्वां स्तोतुं प्रक्रान्तान् अस्मान् स्पृणुहि पालय"। "स्पृणुहि" अथवा उनकी तू वाणों द्वारा सेवा कर। यह वक्रोक्ति है। अभिप्राय पूर्ववत् है कि वाणों की बौछार कर (स्पृ सेवने)]।

इह प्र ब्रूहि यतमः सो अग्ने यातुधानो य इदं कृणोति ।
तमा रभस्व समिधा यविष्ठ नृचक्षसश्चक्षुषे रन्धयैनम् ॥८॥

(अग्ने) हे सर्वाग्रणी प्रधानमन्त्रिन् ! (इह) यहां या इस सम्बन्ध में (प्रब्रूहि) कहिये कि (यतमः) जो कि (सः) वह (यातुधानः) यातना देने वाला है (यः) जोकि (इदम्) यह यातना-कर्म (कृणोति) करता है।(तम्) उसे (समिधा) समिधा द्वारा (आरभस्व = आलभस्व) पकड़ (यविष्ठ) हे युवतम मन्त्रिन् ! और (एनम्) इसे (नृचक्षसः) प्रजाओं पर दृष्टि रखने वाले राजा की (चक्षुषे) दृष्टि के लिये (रन्धय) वशंगत कर, उपस्थित कर।

[सेनापति की उक्ति है प्रधानमन्त्री के प्रति कि वह "समिधा" द्वारा यातुधान को पकड़ कर उसे राजा के सामने उपस्थित करे। मन्त्र में शिष्ट भाषा का प्रयोग हुआ है। विशिष्ट व्यक्ति को कोई वस्तु देनी हो तो उसे "नजाना" [नज़राना] कहते हैं अर्थात् शिष्ट की नजर अर्थात् चक्षु (दृष्टि) के लिये उपस्थित की जाने योग्य समिधा वस्तु। समिधा है यज्ञिय समिधा, जिस द्वारा अग्नि को प्रदीप्त करना होता है। युद्ध-यज्ञ में समिधा है सेना या सेनाध्यक्ष। इस द्वारा युद्धाग्नि प्रदीप्त की जाती है। यह ही परराष्ट्र के यातुधान को पकड़ता है। पकड़ा गया यातुधान राजा के लिये 'नजराना' हैं। राजा ही इसे यथोचित दण्ड देता है]।

तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञं प्राञ्चं वसुभ्यः प्र णय प्रचेतः ।
हिंस्रं रक्षांस्यभि शोशुचानं मा त्वा दभन् यातुधाना नृचक्षः ॥९॥

(प्रचेतः) पूर्णतया सचेत अर्थात् सावधान रहने वाले, (नृचक्षः) तथा प्रजाजनों पर दृष्टि रखने वाले,(अग्ने)हे प्रधानमन्त्रिन् ! (तीक्ष्णेन चक्षुषा) अपनी पैनी दृष्टि द्वारा (यज्ञम्) राष्ट्र-यज्ञ की (रक्ष) रक्षा कर, (प्राञ्चम्) और प्रगतिशील राष्ट्र-यज्ञ को (वसुभ्यः) राष्ट्र में वसने वाले वसुरूप अधिकारियों के प्रति (प्रणय) सौंप। (यातुधाना) यातना देने वाले (रक्षांसि) राक्षस (हिंस्रम्) परसेना की हिंसा करने वाले और (अभि शोशुचानम्) तेज द्वारा तेजस्वी (त्वा) तेरे साथ (मा दभन्) दम्भ अर्थात् छल कपट न करें, या तेरी हिंसा न कर दें।

नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा ।
तस्याग्ने पृष्टीर्हरसा शृणीहि त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च ॥१०॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन् ! (नृचक्षाः) प्रजाजनों पर दृष्टि रखने वाला तू (विक्षु) निज प्रजाजनों में [प्रविष्ट] (रक्षः) परकीय राक्षस प्रकृति वाले व्यक्ति को (परि पश्य) ढूंढ। (तस्य) उसके (त्रीणि) तीन (अग्रा) अग्र अर्थात् उपर के भागों को (प्रति शृणीहि) एक-एक करके काट डाल ! (तस्य)उसकी (पृष्टीः) छाती और पीठ के अङ्गों को (हरसा) संहारी शस्त्र द्वारा (शृणीहि) काट डाल, (यातुधानस्य) यातना देने वाले के (मूलम्) मूलभाग को (त्रेधा) तीन भागों मे (वृश्च) छिन्न-भिन्न कर।

[मन्त्र में उग्र दण्ड का विधान है। उग्रदण्ड, राष्ट्रव्यवस्था को स्थिररूप में बनाए रखता है। नर्मदण्ड प्रजा को भ्रष्टाचारी बनाता है। किसी उग्र अपराधी को उग्रदण्ड दे देने पर प्रजा भ्रष्टाचार से बची रहती है। उपरि भाग के तीन अग्र हैं, सिर तथा दो बाहुएं। मूल का अर्थ होता है जड़। वृक्ष का मूल अर्थात् जड़ नीचे की ओर होती है। अतः यातुधान के मूल का अभिप्राय है शरीर के निचले अङ्ग। ये तीन हैं। घुटनों से ऊपर के अङ्ग हैं ऊरू; घुटनों से नीचे के अङ्ग हैं टांगें अर्थात् जङ्घाएं तथा पाद। धड़ के अङ्गों को काटने का पृथक् विधान हुआ है "पृष्टीः" शब्द द्वारा। इस प्रकार ये नीचे के विविध अंग हैं। सिर, पृष्टीः और बाहुओं से नीचे हैं]।

त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति ।
तमर्चिषा स्फूर्जयन् जातवेदः समक्षमेनं गृणते नि युङ्ग्धि ॥११॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन् ! (यातुधानः) यातना देने वाला (ते) तेरे (प्रसितिम्) बन्धन को (त्रिः) तीन बार (एतु) प्राप्त हो, (यः) जो कि (अनृतेन) असत्य द्वारा (ऋतम्) सत्य का (हन्ति) हनन करता है।

(जातवेदः) हे जातप्रज्ञ ! (स्फूर्जयन्) गर्जता हुआ तू (तम्, एनम्) उसे अर्थात् (गृणते) स्तोतृ प्रजाजन के लिये (समक्षम्) अपनी आंखों के सामने (अर्चिषा) निज क्रोधाग्नि द्वारा (नि युङ्ग्धि) नितरां युक्त कर, सम्बद्ध कर।

[यातुधान को प्रधानमन्त्री तीन बार कारागार में बन्द करे। यातुधान है असत्य वक्ता और असत्य व्यवहारी। यदि वह तब भी सत्याचारी न बने तो प्रधानमन्त्री गर्जता हुआ, निज क्रोधाग्नि द्वारा उसे सम्बद्ध करे, उसे फटकारे। प्रजा के भले के लिए यह कार्य वह अपने सामने कराए या करे। मन्त्र में जेलदण्ड तथा वाग्दण्ड का वर्णन हुआ है। प्रसितिम्=प्र+सि (षिञ् बन्धने)+तिम्]।

यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद् वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः।
मन्योर्मनसः शरव्या३ जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान् ॥१२॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन् ! (अद्य) आज अर्थात् किसी भी दिन (मिथुना) पति-पत्नी (यत्) जो (शपातः) परस्पर के प्रति शाप देते हैं उन्हें तथा (रेभाः) परमेश्वर के स्तोता (यत्) जो (वाचः) वाणी की (तृष्टं) कटुता (जनयन्त) पैदा करते हैं उन्हें तथा (यातुधानान्) जो यातना देने वाले हैं, उन्हें (या) जो कि (मनसः मन्योः) मानसिक मन्यु से (शरव्या) इषु (जायते) पैदा होती है (तया) उस द्वारा (हृदये) उनके हृदयों को (विध्य) बीन्ध।

[पति-पत्नी का परस्पर कलह, परमेश्वरभक्त द्वारा कटु वचनों का प्रयोग, इनके करने वाले भी यातुधान हैं, यातना देने वाले हैं, इन्हें मानसिक क्रोधरूपी वाण द्वारा हृदयों में बींधना चाहिये, ताकि ये हार्दिक कष्ट अनुभव करें। रेभ स्तोतृनाम (निघं० ३।१६)। मन्युः=मननपूर्वक क्रोध, अन्धा क्रोध नहीं]।

परा शृणीहि तपसा यातुधानान् पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि।
परार्चिषा मूरदेवान् छृणीहि परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि ॥१३॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन् ! (यातुधानान्) यातना देने वालों को (तपसा) तापक-शस्त्र-अस्त्र द्वारा (परा शृणीहि) पराङ्मुख कर, नष्ट कर, (रक्षः) राक्षस स्वभाव वाले को (परा) पराङ्मुख करके (हरसा) संहारी शस्त्र-अस्त्र द्वारा (शृणीहि) नष्ट कर। (मूरदेवान्) मूढ़ अर्थात्

कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान से रहित विजिगीषुओं को (परा) पराङ्मुख करके (अर्चिषा) ज्वाला द्वारा (शृणीहि) नष्ट कर, (असुतृपः) दूसरों के प्राणों को लेकर तृप्त होने वालों को, जो कि (शोशुचतः) अत्यन्त हनन कर्म में प्रदीप्त होते हैं, उन्हें (परा) पराङ्मुख करके (शृणीहि) नष्ट कर।

[मन्त्र में यातुधान, रक्षः, मूरदेव, तथा असुतृपः भिन्न-भिन्न प्रकार के, आततायी वर्णित हैं, तथा "तपसा, हरसा, अर्चिषा" द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन हुआ है]।

पराद्य देवा वृजिनं शृणन्तु प्रत्यगेनं शपथा यन्तु सृष्टाः।
वाचास्तेनं शरव ऋच्छन्तु मर्मन् विश्वस्यैतु प्रसितिं यातुधानः ॥१४॥

(अद्य) आज अर्थात् प्रतिदिन (देवाः) हमारे विजिगीषु सैनिक तथा सेनाधिपति (वृजिनम्) पापी तथा कुटिल को (पराशृणन्तु) नष्ट करें, (सृष्टाः) इस पापी द्वारा दिये (शपथाः) शाप, (प्रत्यक्) उल्टे (एनम्) इसको (यन्तु) प्राप्त हों। (वाचास्तेनम्) वाणी द्वारा धोखा देकर चोरी करने वाले को, (मर्मन्) उसके मर्मस्थान में, (शरवः) घातक शस्त्र-अस्त्र (ऋच्छन्तु) प्राप्त हों, (यातुधानः) इस प्रकार की यातनाएं देने वाला (विश्वस्य) सबके (प्रसितिम्) बन्धन को (एतु) प्राप्त हो।

[पापी तथा कुटिल, शपथदाता, तथा वाणी द्वारा धोखा देकर चोरी करने वाला, ये सब यातुधान हैं। कोई भी प्रजाजन इन्हें रस्सियों आदि द्वारा बान्ध सकता है। शरवः—शर और शरु में भेद प्रतीत होता है]।

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः।
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसाऽपि वृश्च ॥१५॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन् ! (यः) जो (यातुधानः) यातना देने वाला (पौरुषेयेण) पुरुष के (यः) जो (अश्व्येन) अश्व के (क्रविषा) मांस द्वारा (पशुना) [या अन्य किसी] पशु [के मांस] द्वारा (समङ्क्ते) अपने-आप को परिपुष्ट तथा कान्ति सम्पन्न करता है (यः) और जो (अघ्न्यायाः) अहन्तव्या गौ का हनन कर उसके (क्षीरम्) दूध को (भरति=हरति) हरता है, (तेषाम्) उन के (शीर्षाणि अपि) सिरों को भी (हरसा) अस्त्र-शस्त्र द्वारा (वृश्च) काट दे।

[मांसभक्षकों, तथा गौओं को मार कर उनके दूध का क्षय करने वालों के सिरों को भी प्रधानमन्त्री काट दे। प्रधानमन्त्री ने स्वयं तो सिरों को नहीं काटना, अपितु उसके निर्णीत नियमों के द्वारा जल्लाद आदि ने सिरों को काटना है। इन मन्त्रों में वर्णित दण्ड विधान को देखकर "अग्नि" आग अर्थ समन्वित नहीं होता]।

विषं गवां यातुधाना भरन्तामा वृश्चन्तामदितये दुरेवाः।
परैणान् देवः सविता ददातु परा भागमोषधीनां जयन्ताम् ॥१६॥

(यातुधानाः) यातना देने वाले (गवाम्) गौओं के (विषम्) विष अर्थात् मूत्रजल को (भरन्ताम्) प्राप्त करें, और (दुरेवाः) ये दुष्टगति वाले (अदितये) पृथिवी के लिये (आ वृश्चन्ताम्) छिन्न-भिन्न कर दिये जांय। (सविता देवः) सर्वप्रेरक देव अर्थात् सम्राट् (एनान्) इन्हें (परा ददातु) निरस्त कर दे, देशनिकाला दे दे, (ओषधीनाम्) व्रीहि-यव आदि ओषधियों के (भागम्) भाग को (पराजयन्ताम्) वे हार जांय अर्थात् उससे भाग-रहित हो जाँय[1], वञ्चित हो जांय।

[विषम् उदकनाम (निघं १।१२)। यातुधानों को गौ के दूध के स्थान में गोमूत्र[2] रूपी जल पिलाना चाहिये। तथा पृथिवीवासियों के भले के लिये इन दुष्टों को मृत्युदण्ड देना चाहिये, तथा देशनिकाले का दण्ड देना चाहिये, तथा अन्न से वञ्चित कर इन्हें मरने देना चाहिये। व्याख्येय मन्त्र में "सविता देव" का अर्थ है सर्वप्रेरक सम्राट् षू प्रेरणे (तुदादिः)]।

संवत्सरीणं पयं उस्रियायास्तस्य माशीद् यातुधानों नृचक्षः।
पीयूषमग्ने यतमस्तितृप्सात् तं प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्य मर्मणि ॥१७॥

(नृचक्षः) प्रजाजनों पर दृष्टि रखने वाले (अग्ने) हे अग्रणी प्रधान-मन्त्रिन्! (संवत्सरीणम्) संवत्सर में होने वाला (उस्रियायाः पयः) गौ का दूध है, (तस्य) उसका (मा आशीत्) न भक्षण करे (यातुधानः) गौ

१. तथा रुग्णावस्था में औषधोपचार से वञ्चित कर दिये जांय।

२. गोमूत्र शोधक तथा औषध रूप भी है। इसे हिन्दू पञ्चगव्य के अङ्गरूप में भी देते हैं। गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में चक्षूरोग में इसे कई वर्षों तक प्रयुक्त किया जाता रहा है। तथा देखो मन्त्र १७ की भावना, दण्डरूप में गोदुग्ध से उसे वञ्चित रखने को।

को यातना देने वाला। (यतमः) जो यातुधान (पीयूषम्) पेय दुग्धामृत को (तितृप्सात्) निज तृप्ति के लिये चाहे, (तम्) उस (प्रत्यञ्चम्) प्रतीपाचारी को (अर्चिषा) "अर्चिः" नामक अस्त्र द्वारा (मर्मणि) मर्मस्थल में (विध्य) बींध।

[प्रतिवर्ष वत्स दे कर गौ संवत्सर के पश्चात् दुधारू होती है। जो गौ को यातना देता है उसे गोदुग्ध से वञ्चित कर देना चाहिये (मन्त्र १६)। यदि राजाज्ञा के विरुद्ध वह फिर भी दूध द्वारा निज तृप्ति करता है तो उसे मृत्युदण्ड देना चाहिये]।

सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः।
सहमूरानुं दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥१८॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (सनात्) सदा से (यातुधानान्) यातना देने वालों को (मृणसि) तू मारता रहा है, (रक्षांसि) राक्षस-स्वभाव वाले यातुधान (त्वा) तुझे (पृतनासु) युद्धों में (न जिग्युः) नहीं जीत पाए। (क्रव्यादः) इन मांसभक्षियों को (सहमूरान्) जो कि मूढ़ता के साथ विद्यमान हैं, (अनु दह) निरन्तर दग्ध कर, (ते) तेरी (दैव्यायाः हेत्याः) दिव्य हेति अर्थात् अस्त्र से (मा मुक्षत) ये मुक्त न हों, छूट न पाएं।

[सनात् = सदा से, जब से तू प्रधानमन्त्री बना है तभी से। ये राक्षस मूढ़तासम्पन्न हैं, अतः कर्तव्याकर्तव्य से अनभिज्ञ हैं। मन्त्र १७ में अर्चिः, और १८ में हेति, दोनों अस्त्र विशेष हैं। सहमूरान् = अथवा मूढ़सैनिकों सहित अधिकारियों को]।

त्वं नो अग्ने अधरादुदक्तस्त्वं पश्चादुत रक्षा पुरस्तात्।
प्रति त्ये ते अजरासस्तपिष्ठा अघशंसं शोशुचतो दहन्तु ॥१९॥

(अग्ने) अग्रणी हे प्रधानमन्त्रिन्! (त्वम्) तू (नः) हमें (अधरात्) दक्षिण से, (उदक्तः) उत्तर से, (पश्चात्) पश्चिम से, (उत) और (पुरस्तात्) पूर्व से (त्वम्) तू (रक्षा) सुरक्षित कर। (ते) तेरे (त्ये) वे (अजरासः) अजीर्ण, (तपिष्ठाः) अत्यन्त तपे, (शोशुचतः) अतः अति चमकीले शस्त्रास्त्र (प्रति) प्रत्येक (अघशंसम्) पाप प्रशंसक को (दहन्तु) दग्ध कर दें।

पश्चात् पुरस्तादधरादुतोत्तरात् कविः काव्येन परि पाह्यग्ने ।
सखा सखायमजरो जरिम्णे अग्ने मर्ता अमर्त्यस्त्वं नः ॥२०॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन् ! (कविः) वेदकाव्य का कवि अर्थात् विद्वान् तू (काव्येन) वेदकाव्य की शिक्षा द्वारा (पश्चात्) पश्चिम से, (पुरस्तात्) पूर्व से, (अधरात्) दक्षिण से, (उत उत्तरात्) और उत्तर से (परि पाहि) सब ओर से हमारी रक्षा कर। (सखा) जैसे सखा (सखायम्) सखा की [पाति] रक्षा करता है, तथा (अजरः) जरारहित [युवा पुत्र] (जरिम्णे) बूढ़े पिता के लिये पालक होता है, वैसे (अमर्त्यः त्वम्) चिरजीवी तू (नः मर्तान्) हम मर्त्यों को (परिपाहि) सब ओर से सुरक्षित कर।

[(ऋग्वेद १०।८७।२१) में "अग्ने" के स्थान में "राजन्" पाठ है। इस से प्रतीत होता है कि ये मन्त्र राजनैतिक[1] अर्थपरक हैं। अमर्त्यः= प्रधानमन्त्री "अमर्त्य-सा" है, क्योंकि रक्षकवर्ग सदा सब ओर से उसकी रक्षा करता है। और प्रजाजन "मर्त" हैं, यतः उपद्रवों और आक्रान्ताओं के शिकार वे होते हैं]।

तदग्ने चक्षुः प्रति धेहि रेभे शफारुजो येन पश्यसि यातुधानान् ।
अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष ॥२१॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन् ! (येन) जिस [चक्षुषा] चक्षु अर्थात् दृष्टि द्वारा (शफारुजः) शफ द्वारा भग्न किये जा सकने वाले (यातुधानान्) यातना देने वालों को (पश्यसि) तू देखता है, (तत् चक्षुः) उस चक्षु अर्थात् दृष्टि को (रेभे) स्तोता पर (प्रति धेहि) तू रख। (अथर्ववत्) तथा अथर्वा के सदृश (दैव्येन ज्योतिषा) दिव्य ज्योति द्वारा, (सत्यम् धूर्वन्तम्) सत्य का हनन करने वाले (अचितम्) अज्ञानी को (न्योष) तू नितरां दग्ध कर।

[शफारुजः=शफ (खुर)+आरुजः (रुजो भङ्गे) (तुदादिः), अथवा "रुज हिंसायाम्" (चुरादिः)। "पदा क्षुम्पमिव स्फुरत्" (अथर्व० २०।६३।५); "शफारुजः आरुजासि" (अथर्व० २०।६४।६); "शफेन इव ओहसे" (२०।१३१।७) इन मन्त्रवाक्यों में शफारुजों का वर्णन है अर्थात् जो कि

१. इसलिये सूक्त में भिन्न-भिन्न अपराधों में भिन्न-भिन्न दण्ड विधान हुआ है, जो कि नियम द्वारा मिलता है।

गौ के खुर के स्पर्श द्वारा भग्न कर दिये जाते हैं। रेभे=रेभ है परमेश्वर का स्तोता, स्तवन करने वाला। यह यदि कटुभाषी[1] हो तो प्रधानमन्त्री जो दण्ड यातुधानों को देता है वही दण्ड इन्हें भी दे (मन्त्र ३।१२)। रेभः स्तोतृनाम (निघं० ३।१६)। अथर्ववत्; अथर्वा="थर्वतिः चरतिकर्मा, अकारः तत्प्रतिषेधः" (निरुक्त ११।२।१६) अर्थात् "अचलचित्तवृत्तिक" योगी। योगी जब "निरुद्धचित्तवृत्तिक" हो जाता है तब इसे दिव्यज्योति प्राप्त हो जाती है। उस द्वारा योगी के राजस-तामस कर्म विनष्ट हो जाते हैं। प्रधानमन्त्री की दिव्यज्योति है अन्तरिक्षीय-विद्युत्, तथा सूर्य की सप्तविध रश्मियां। इस ज्योति द्वारा वह यातुधानों तथा कटुभाषी रेभों, और सत्य के हन्ता को जला देने का दण्ड देता है। न्योष=नि (नितराम्)+उष (दाहे)]।

परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।
धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावतः ॥२२॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन् ! (सहस्य) तथा हे बलवन् ! (त्वा विप्रम्) तुझ मेधावी को (वयम्) हम प्रजाजन, (पुरम्) किले या नगर के सदृश (परिधीमहि) परिधिरूप में स्थापित करते हैं। जो तू कि (धृषद्वर्णम्) धर्षकरूप वाला है, और (दिवेदिवे) आए-दिन (भङ्गुरावतः) भग्न हो जाने वाले यातुधानों का (हन्तारम्) हनन करने वाला है।

[पुरम्=जैसे किले या नगर की परिधि प्रजा की रक्षा करती है वैसे तू बलवान् हमारी रक्षा करता है। तेरा स्वरूप यातुधानों का धर्षक है। तेरे स्वरूप को देखते ही यातुधानों के धैर्य भग्न हो जाते हैं]।

विषेण भङ्गुरावतः प्रति स्म रक्षसो जहि ।
अग्ने तिग्मेन शोचिषा तपुरग्राभिरर्चिभिः ॥२३॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन् ! (विषेण) विष प्रयोग द्वारा (भङ्गुरावतः)[2] भग्नस्वभाव वाले या भङ्गुर-चित्तवृत्तियों वाले (रक्षसः) राक्षसों

१. देखो (८।३।१२)।
२. अथवा आसानी से भग्न हो जाने वाले।

में से (प्रति) प्रत्येक का (जहि) हनन कर, (तिग्मेन) तथा तीक्ष्ण (शोचिषाः) दीप्ति द्वारा [जहि] [इनका हनन कर] तथा (तपुरग्राभिः) तपते अग्र-भागों वाले (अर्चिभिः) अर्चि नामक अस्त्रों द्वारा [जहि] [इन का हनन कर]।

[तीन साधनों द्वारा राक्षसस्वभाव वालों के विनाश का वर्णन मन्त्र में हुआ है। (१) विषप्रयोग द्वारा। (२) आंखों पर तीक्ष्ण प्रकाश डाल कर इन्हें चौंधिया कर। (३) अस्त्रों के अग्रभाग में तपाने वाले आग्नेय-विस्फोटक लगाकर। ऋग्वेद (१०।८७।२३) में 'अर्चिभिः' के स्थान में 'ऋष्टिभिः' का प्रयोग हुआ है। ऋष्टिः=आयुध (अथर्व० ८।३।७)। तथा "शतम् ऋष्टीः अयस्मयीः" (अथर्व० ४।३७।८), लोहनिर्मित सैकड़ों ऋष्टियां, आयुध]।

वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा ।
प्रादेवीर्मायाः संहते दुरेवाः शिशीते शृङ्गे रक्षोभ्यो विनिक्ष्वे ॥२४॥

(अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री (बृहता ज्योतिषा) महातेज द्वारा (विभाति) चमकता है, और (महित्वा) निज महत्व द्वारा (विश्वानि) राष्ट्र के (सब स्वरूपों [साधनों] को (आविः कृणुते) प्रकट करता है। (दुरेवाः) दुष्ट चालों वाली (अदेवीः मायाः) आसुरी-मायाओं का (प्रसहते) पराभव करता है, (रक्षोभ्यः) राक्षसों के लिये, उनके (विनिक्ष्वे) विनाश के लिए, (शृङ्गे) जलते हुए अस्त्रों और शस्त्रों को (शिशीते) तीक्ष्ण करता है।

[विश्वानि=राष्ट्र के सब युद्ध-साधनों को अर्थात् शस्त्रास्त्र, सैनिक शक्ति, तथा धनसम्पत् आदि को आविष्कृत करता है। मायाः=छलकपट। शृङ्गे="शृङ्गाणि ज्वलतो नाम" (निघं० १।१७)। अथवा गौ जैसे निज रक्षार्थ दो सींग रखती है, तद्वत् निज राष्ट्र की रक्षा के लिये प्रधानमन्त्री शस्त्र और अस्त्ररूपी द्विविध शृङ्गों को रखता और उन्हें तेज करता है। विनिक्ष्वे=वि+निक्ष् (चुम्बने, भ्वादिः) चुम्बन=छूना। प्रधानमन्त्री के शस्त्रास्त्र ऐसे होने चाहियें कि शत्रु के साथ स्पर्श होते ही शत्रु का विनाश हो जाय। 'वि, निक्षे=तुमर्थे केन् प्रत्ययः। वकारोपजनश्छान्दसः' सायण]।

१. चुम्बन स्पर्श मात्र ही तो होता है। णिक्ष चुम्बने (भ्वादिः)।

ये ते शृङ्गे अजरे जातवेदस्तिग्महेती ब्रह्मसंशिते ।
ताभ्यां दुर्हार्दमभिदासन्तं किमीदिनं प्रत्यञ्चमर्चिषा जातवेदो वि निक्ष्व ॥२५॥

(जातवेदः) हे जातप्रज्ञ ! (ये) जो (ते) तेरे (अजरे) अजीर्ण (शृङ्गे) दो सींग हैं, या जलते हुए (तिग्महेती) तिग्म शस्त्र और अस्त्र हैं, (ब्रह्म-संशिते) जो कि वेदोक्त विधि द्वारा सम्यक्-तीक्ष्ण किये गए हैं, (ताभ्याम्) उन दो द्वारा (जातवेदः) हे जातप्रज्ञ ! तू (दुर्हार्दम्) दुष्टहृदय, कपटी (अभिदासन्तम्) उपक्षयकारी, (प्रत्यञ्चम्) हमारे विरोध में गतिवाले (किमीदिनम्) "अब क्या हो रहा है, यह क्या है" इस प्रकार हमारा भेद लेने-वाले "पर गुप्तचर" को (अर्चिषा) अर्चि नामक अस्त्रों के द्वारा (वि निक्ष्व) चुम्बन अर्थात् शस्त्रास्त्र के स्पर्श[1] मात्र द्वारा विनष्ट कर।

[शृङ्गे, तिग्महेती=दो प्रकार के तीक्ष्ण आयुध=अस्त्र और शस्त्र। अभिदासन्तम्=दसु उपक्षये (दिवादिः)। प्रत्यञ्चम्=प्रति अर्थात् प्रतिकूल हो कर "अञ्चु गतौ" गति करने वाला]।

अग्नी रक्षांसि सेधति शुक्रशोचिरमर्त्यः ।
शुचिः पावक ईड्यः ॥२६॥

(अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री, जो कि (शुक्रशोचिः) प्रदीप्तप्रकाश वाला है, प्रसिद्ध है, (अमर्त्यः) मरणधर्म रहित है, (शुचिः) आचार-व्यवहार से शुद्ध है, (पावकः) प्रजा को पवित्र करने वाला है, (ईड्यः) स्तुति के योग्य है, वह (रक्षांसि) राक्षसस्वभाव वालों का (सेधति) निवारण करता है।

[अमर्त्यः=शुद्धाचारी होने से दीर्घायुष्य वाला]।

---

१. चुम्बन स्पर्श मात्र ही होता है। णिक्ष चुम्बने (भ्वादिः)।

सूक्त ४

विषय-प्रवेश

(१) सूक्त ४ के मन्त्र २५। इन्द्र और सोम का वर्णन।

(२) इन्द्र है सम्राट्, और सोम है सेनाध्यक्ष, जो कि सेना के आगे-आगे चलता है (मन्त्र १)।

(३) ब्रह्मद्वेषी के प्रति द्वेषधारण करना (मन्त्र २)।

(४) दुष्कर्मियों को गहरे अन्धेरे गढ़े या कूप में डाल कर बीन्धना (मन्त्र ३)।

(५) मांसभक्षकों की पसलियों, छाती को बीन्धना (मन्त्र ५)।

(६) इन्द्र और सोम को वेदोक्त सन्मति प्रदान (मन्त्र ६)।

(७) झूठे दोषारोपणों द्वारा पवित्रमन वाले शासक के निन्दक को विद्यमान न रहने देना (मन्त्र ८, ६)।

(८) चौर्यकर्म करने वाले चोर को दण्ड (मन्त्र १०)।

(९) सत्य और असत्य वचनों की परख (मन्त्र १२), तथा असद्-वक्ता को दण्ड (मन्त्र १३, १४)।

(१०) झूठा दोषारोप करने वाले को निज परिवार से पृथक् कर देना (मन्त्र १५)।

(११) शत्रु प्रेषित गुप्तचर-स्त्री को गहरे कूप में डालकर पत्थरों द्वारा मार डालना (मन्त्र १७)।

(१२) उल्लू आदि की चाल वालों को सम्राट् मार डाले (मन्त्र २२)।

(१३) यातना देने वाले मायावी पुरुष और स्त्री को सम्राट् ग्रीवाछेद दण्ड दे (मन्त्र २४)।

विशेष

वैदिक दण्ड-विधान उग्र है। इसके होते राजकर्मचारी तथा प्रजावर्ग अनाचार, भ्रष्टाचार तथा चौर्य आदि दुष्कर्मों से बचे रहते हैं, और नर्म

दण्डों के होते अनाचार आदि की वृद्धि हो जाती है। उग्र दण्डों का यह परिणाम था कि निज जनपदव्यापी सदाचार तथा सात्त्विक वृत्ति के आधार पर केकय जनपद का महाराज यह उद्घोषित कर सका था कि =

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥(छान्दोग्य उपनिषद् अध्या० ५। खण्ड ११)। तथा महाभारत में उद्घोषित हुआ था कि पुराकाल में—

न राज्यं नैव राजासीद् न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः वर्तन्ते स्म परस्परम् ॥

——

सूक्त ४

१-२५। चातनः। इन्द्रासोमौ। जगती; ८-१४,१६,१७,१९,२२,२४ त्रिष्टुप्; २०,२३ भुरिक्; २५ अनुष्टुप्।

इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतं न्यर्पयतं वृषणा तमोवृधः।
परा शृणीतमचितो न्योषतं हतं नुदेथां नि शिशीतमत्त्रिणः ॥१॥

(इन्द्रासोमा[1])हे परमैश्वर्य वाले सम्राट्! तथा सेना के प्रेरक सेनाध्यक्ष! तुम दोनों (रक्षः) राक्षसवर्ग को (तपतम्) तपाओ, (उब्जतम्) उसें ऋजु कर्मों वाला करो। (वृषणा) हे बाणों की वर्षा करने वालो! (तमोवृधः) तमोगुण के बढ़ाने वालों को (न्यर्पयतम्) हमारे प्रति समर्पित करो। (अचितः) इन अज्ञानी, (अत्त्रिणः) माँसभक्षकों को (परा शृणीतम्) हमारे राष्ट्र से परे करके विशीर्ण करो, (योषतम्) नितरां दग्ध करो, (हतम्) मार डालो, (नुदेथाम्) धकेल दो, (निशिशीतम्) नितरां जीर्ण-शीर्ण कर दो।

[वेदों में इन्द्र को क्षत्रिय कहा है, तथा अग्नि को ब्राह्मण। युद्धप्रकरण में सोम है सेनाध्यक्ष या सेनानायक, जो कि सेना के अग्रभाग में स्थित हुआ सेना का नयन करता है। यथा "इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर

---

१. सूक्त ४ में सम्राट् की देखभाल में सैनिक-शासन का वर्णन हुआ है।

एतु सोमः" (यजु० १७।४०) में सोम को "पुरः एतु" कहा है। मन्त्र में "राक्षससेनावर्ग" को राक्षस-कर्मों से हटाने के लिये विविध निर्देश दिये हैं। इन्द्रः—"इन्द्रश्च सम्राट्" (यजु० ८।३७)]।

इन्द्रासोमा समघशंसमभ्य१घं तपुर्ययस्तु चरुरग्निमाँ इव।
ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने ॥२॥

(इन्द्रासोमा) हे सम्राट् तथा सेनाध्यक्ष! (अघशंसम्) पाप की प्रशंसा करने वाले, (अघम्) पापी के (अभि) प्रति (तपुः) सन्तापी-अस्त्र (सम् ययस्तु) सम्यक्तया प्राप्त हो, (इव) जैसे कि (चरुः) चावल पकाने वाला माण्ड (अग्निमान्) अग्निवाला हो जाता है, अग्नि द्वारा सन्तप्त हो जाता है। तथा (ब्रह्मद्विषे) वेद और परमेश्वर के द्वेषी के लिये, तथा (क्रव्यादे) मांसभक्षक के लिये, और (घोरचक्षसे) भयङ्कर दृष्टि वाले, तथा (किमीदिने) भेद लेने वाले गुप्तचर के लिये (अनवायम्) विना व्यवधान अर्थात् सदा (द्वेषः धत्तम्) द्वेष धारण करो।

[पापी को तो सन्तापी अस्त्र द्वारा सन्तप्त करने, और ब्रह्मद्वेषी आदि के प्रति सदा द्वेष रखने का विधान हुआ है]।

इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम्।
यतो नैषां पुनरेकश्चनोदयत् तद् वामस्तु सहसे मन्युमच्छवः ॥३॥

(इन्द्रासोमा) हे सम्राट् तथा सेनाध्यक्ष! (दुष्कृतः) दुष्कर्मियों को (वव्रे अन्तः) कूप के अन्दर, (अनारम्भण तमसि) आलम्बन रहित तम में (प्र विध्यतम्) बींधो। (यतः) जहां से (एषाम्) इन में से (एकः चन) एक भी (पुनः) फिर (न उदयत्) न ऊपर आए, तथा (वाम्) तुम दोनों का (तद्) वह (मन्युमत् शवः) क्रोधसंवलित बल (सहसे) उन के पराभव के लिये (अस्तु) हो।

["वव्रः कूपनाम" (निघं० ३।२३)। कूप अन्धकारमय हो। कूप में इन्हें फैंक कर, या डाल कर, वाण आदि द्वारा इन्हें बींध डालने का विधान हुआ है। यह राजनैतिक दण्ड है, जो कि राजपुरुषों द्वारा दिया जाता है। प्रत्येक नागरिक को दण्ड देने का अधिकार नहीं। "शवः बलनाम" (निघं० २।९)]।

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवो वधं सं पृथिव्या अघशंसाय तर्हणम्।
उत् तक्षतं स्वर्य१ं पर्वतेभ्यो येन रक्षो वावृधानं निजूर्वथः ॥४॥

(इन्द्रासोमा) हे सम्राट् तथा सेनाध्यक्ष! (अघशंसाय) पाप की प्रशंसा करने वाले के प्रति (तर्हणम्) उसके हिंसक (वधम्) आयुध को (दिवः) द्युलोक से, (उत्) तथा (पृथिव्याः) अन्तरिक्ष से (संवर्तयतम्) युगपत् गिराओ तथा फैंको तथा (पर्वतेभ्यः) पर्वतों से (स्वर्यम्) शब्द करने वाले उपतापी आयुध को (तक्षतम्) घड़ो, निर्मित करो, (येन) जिस द्वारा (वावृधानम्) बढ़े हुए (रक्षः) राक्षस-वर्ग को (निजूर्वथः) तुम हिंसित करते हो।

[इस आयुध के लिये देखो (मन्त्र ५)। स्वर्यम्=स्वृ शब्दोपतापयोः (भ्वादिः)। तर्हणम्=तृह हिंसायाम् (रुधादिः)। निजूर्वथः=जूर्वति वधकर्मा (निघं० २।१९)। पृथिवी अन्तरिक्ष नाम (निघं० १।३)]।

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्पर्यग्नितप्तेभिर्युवमश्महन्मभिः।
तपुर्वधेभिरजरेभिरत्त्रिणो नि पर्शाने विध्यतं यन्तु निस्वरम् ॥५॥

(इन्द्रासोमा) हे सम्राट् तथा सेनाध्यक्ष! (युवम्) तुम दोनों (दिवस्परि) द्युलोक से [आयुधों को] (वर्तयतम्) फैंको, तथा (अग्नितप्तेभिः) अग्नि की तरह या अग्नि द्वारा प्रतप्त, (अश्महन्मभिः) पत्थररूपी हथियारों द्वारा और (अजरेभिः) नये (तपुर्वधेभिः) प्रतप्त आयुधों द्वारा (अत्त्रिणः) मांस-भक्षकों को (पर्शाने) उन की पसलियों पर (विध्यतम्) उन्हें बींधो और वे (निस्वरम्=निःस्वरम्) विना चिल्लाए (यन्तु) चल बसें, मर जांय।

[दिवः=अन्तरिक्ष के ऊपर के स्थान अर्थात् द्युलोक से। पृथिवीस्थ अत्त्रियों पर अन्तरिक्ष से, तथा विमानों द्वारा युद्ध करने वालों पर द्युलोक से आयुध फैंकों। निस्वरम्=निःस्वरम् (सायण)। अश्महन्मभिः=अश्मा, अयःसारः। अयः सारमयैर्हननसाधनैरायुधैः (सायण)]।

इन्द्रासोमा परि वां भूतु विश्वत इयं मतिः कक्ष्याश्वेव वाजिना।
यां वां होत्रां परिहिनोमि मेधयेमा ब्रह्माणि नृपती इव जिन्वतम् ॥६॥

(इन्द्रासोमा) हे सम्राट् और सेनाध्यक्ष! (इयम्, मतिः) यह मति, (विश्वतः) सब ओर से, (वाम्) तुम दोनों की (परिभूतु) हो, (इव) जैसे

कि (कक्ष्या) पेटी (वाजिना) बलवान् (अश्वा) दो अश्वों की कक्षाओं के सब ओर लिपटी होती है। (वाम्) तुम दोनों के लिये (याम्) जिस (होत्राम्) वेदवाणी को, (मेधया) विचार पूर्वक, (परिहिनोमि) तुम्हारी वृद्धि के लिये मैं प्रेरित करता हूं, (इमा ब्रह्माणि) इन वेदमन्त्रों अर्थात् वेदवाणियों को (जिन्वतम्) आप दोनों प्रीतिपूर्वक स्वीकार करो (इव) जैसे क (नृपती) प्रजाओं के दो अधिपति इन्हें प्रीतिपूर्वक स्वीकार करते हैं।

[मति है सन्मति, वेदोक्तज्ञान, जिसे कि मेधापूर्वक, विचारपूर्वक इन्द्र और सोम को दिया है। होत्रा=वेदवाणी "होत्रा वाङ्नाम" (निघं० १।११)। हिनोमि=हि गतौ वृद्धौ च (स्वादिः)। जिन्वतम्=जिवि प्रीणनार्थः (भ्वादिः)। इन्द्रासोमा तथा नृपती="इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७)। सम्राट् का अर्थ है "सम्+राट्" अर्थात् संयुक्त-राष्ट्रों का अधिपति। वरुण है राजा, अर्थात् एक राष्ट्र का अधिपति। राजाओं को वरुण इसलिये कहते हैं कि ये राष्ट्रपति मिलकर सम्राट् का वरण करते हैं, चुनाव करते हैं। जैसे सम्राट् और सेनाध्यक्ष को साम्राज्यशासन के लिये मति अर्थात् वैदिक सन्मति, वैदिक सत्-ज्ञान की आवश्यकता है, वैसे प्रत्येक राष्ट्र के वरुण अर्थात् राजा तथा उसके मन्त्री को भी इसकी आवश्यकता है। राजा और उसके मन्त्री को "नृपती" कहा है।

मेधया परिहिनोमि; इन्द्रासोमा=इन्द्रासोमौ, ये दो हैं सम्राट् और सेनाध्यक्ष। परन्तु वैदिक राजनीति के अनुसार शासन के लिये "अग्नि" अर्थात् अग्रणी प्रधानमन्त्री की भी आवश्यकता है, जिसका कि वर्णन सूक्त ३ में हुआ है। वह प्रधानमन्त्री ही "इन्द्रासोमौ" और "नृपती" के प्रति कहता है कि "शासन के लिये मैंने जो मेधापूर्वक राजशासन विषयक वेदवाणी या वैदिक मन्त्रों को, तुम्हें सन्मति देने के लिये दिया है, उन्हें तुम प्रीतिपूर्वक स्वीकार करो"]।

प्रति॑ स्मरेथां तु॒जय॑द्भि॒रेवै॒र्ह॒तं द्रु॒हो र॒क्षसो॑ भङ्गु॒राव॑तः।
इन्द्रा॑सोमा दु॒ष्कृते॒ मा सु॒गं भू॒द् यो मा॑ क॒दा चि॑दभि॒दास॑ति द्रु॒हुः॥७॥

(तुजयद्भिः) हिंसाकारक (एवैः) गतियों अर्थात् व्यवहारों द्वारा [हिंसाकारी], (प्रति) शत्रु के प्रत्येक व्यवहार का (स्मरेथाम्) तुम दोनों स्मरण करो, और (द्रुहः) द्रोहकारी (भङ्गुरावतः) भङ्गुर हो जाने वाले (रक्षसः) राक्षस स्वभाव वाले [शत्रु राजा] का (हतम्) तुम दोनों हनन करो। (इन्द्रासोमा) हे सम्राट् तथा सेनाध्यक्ष! (दुष्कृते) दुष्कर्मी राक्षस [शत्रु राजा] को (सुगम्) सुगम जीवन का सुख (मा भूत्) न हो, (यः) जो (द्रुहुः) दुष्कृत द्रोही कि (मा) मेरा (कदाचित्) कभी भी (अभि दासति) उपक्षय करता है। एवैः=अयनैः [व्यवहारैः] (निरुक्त २।७।२५; १२।२।२३)।

[राष्ट्र या साम्राज्य के अधिकारी, एक बार भी हिंसा करने वाले पर-राष्ट्र के दुष्कर्म को न भूलें, अपितु उसका स्मरण कर हिंसक के विनाश के लिये यत्न करें। तुजयद्भिः=तुज हिंसायाम् (भ्वादिः)। एवैः=इण् (गतौ)+वन् (उणा० १।१५२)। "मा" का अभिप्राय है प्रधानमन्त्री। साम्राज्य का उपक्षय, प्रधानमन्त्री का उपक्षय है]।

यो मा॒ पाके॑न॒ मन॑सा॒ चर॑न्तमभि॒चष्टे॒ अनृ॑तेभि॒र्वचो॑भिः।
आप॑ इव का॒शिना॒ संगृ॑भीता॒ अस॑न्न॒स्त्वास॑त इन्द्र व॒क्ता॥८॥

(पाकेन मनसा) परिपक्व या पवित्र मन से (चरन्तम्) [शासन कार्य में] विचरते हुए (मा) मुझे [प्रधानमन्त्री को] (यः) जो (अनृतेभिः वचोभिः) अनृतभाषणों द्वारा (अभिचष्टे) निन्दनीय देखता है, वह (असतः वक्ता) असत्य या अविद्यमान वस्तु का वक्ता, (इन्द्र) हे सम्राट्! (असत् अस्तु) विद्यमान न रहे नष्ट हो जाय, (इव) जैसे कि (काशिना) मुट्ठी द्वारा (संगृहीताः आपः) संग्रह किये गए जल [मुट्ठी के छिद्रों से बहकर अविद्यमान हो जाते हैं]।

[काशि=मुष्टि, मुट्ठी (निरुक्त ६।१।१)। "चष्टे पश्यति कर्मा" (निघं० ३।११)]।

ये पा॑कशं॒सं वि॒हर॑न्त॒ एवै॒र्ये वा॑ भ॒द्रं दू॒षय॑न्ति स्व॒धाभिः॑।
अह॑ये वा॒ तान् प्र॒ददा॑तु॒ सोम॒ आ वा॑ दधातु॒ निर्ऋ॑तेरु॒पस्थे॑॥९॥

(ये) जो (पाकशंसम्) परिपक्व विचारों तथा पवित्र कर्मों के कथन करने वाले मुझ को, (एवैः) निज व्यवहारों द्वारा (विहरन्ते) कर्तव्यों से विहृत अर्थात् पराङ्मुख कर देते हैं, (वा) या (ये) जो (स्वधाभिः) स्व-

निहित कुसंस्कारों के कारण (भद्रम्) [मेरे] भद्रकर्म को (दूषयन्ति) दूषित कर्म कहते हैं, (तान्) उन्हें (सोमः) सेनाध्यक्ष [मन्त्र १] (वा) या तो (अहये) सांप के लिये (प्रददातु) प्रदान करे, (वा) अथवा (निर्ऋतेः) कृच्छ्रापत्ति की (उपस्थे) गोद में (आदधातु) स्थापित करे।

[विहरणम्=Taking away (आप्टे)। एवैः=इण् गतौ+वन् (उणा० १।१५२), तथा मन्त्र (७)।

यो नो रसं दिप्संति पित्वो अंग्ने अश्वानां गवां यस्तनूनाम्।
रिपु स्तेन स्तेयकृद् दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा३ तना च ॥१०॥

(यः) जो (नः) हमारे (अश्वानाम्) अश्वों के (गवाम्) गौओं के (अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन्! (यः) जो (तनूनाम्) हमारे पुत्रादि के शरीरों सम्बन्धी (रसम्) पेय रस को (पित्वः) और खाद्य अन्न को (दिप्सति) दम्भ पूर्वक [आत्मसात् करना] चाहता है, (सः) वह (रिपुः) शत्रु (स्तेनः) चोर और (स्तेयकृत्) चोरी करने वाला, (दभ्रम्) रस और अन्न की अल्पता को (एतु) प्राप्त हो, (च) और (तन्वा) निज तनू से तथा (तना) सन्तानों से (निहीयताम्) विहीन हो जाय।

[दभ्रम्=Little, small (आप्टे)। तना=तनु विस्तारे+क्विप्+तृतीयैकवचन। सन्तान द्वारा विहीन हो जाय। हमारे शरीर तथा सन्तानें परम्परा प्राप्त वीर्य और रजस् के विस्तार रूप ही हैं। सन्तानों से विहीन होने का अभिप्राय है कि वह सन्तानों से मिल न सके। तथा वह रस और अन्न की अल्पता के कारण निर्बल होता-होता मृत्यु को प्राप्त हो जाय]।

परः सो अंस्तु तन्वा३ तना च तिस्रः पृथिवीरधो अंस्तु विश्वाः।
प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो मा दिवा दिप्संति यश्च नक्तम् ॥११॥

(सः) वह (तन्वा) निज शरीर से (च) और (तना) सन्तानों से (परः अस्तु) परे हो जाय, [अथवा] (विश्वाः) सब (तिस्रः पृथिवीः) तीन पृथिवियों से (अधः) नीचे (अस्तु) हो जाय तथा (अस्य) इसका (यशः) यश (प्रति शुष्यतु) सूख जाय, मिट जाय, (देवाः) हे साम्राज्य के दिव्य अधिकारियो! (यः) जो (मा) मुझे (दिवा) दिन में (यः च) और जो (नक्तम्) रात में (दिप्सति) धोखा देना चाहता है, या मार देना चाहता है।

[परः=परदेश निकाला, स्वदेश से निकाल देना। इस प्रकार वह स्व-शरीर की दृष्टि से स्वदेश से परे हो जाता है, और सन्तानों से भी परे हो जाता है। सन्तानें तो स्वदेश में ही रहती हैं।

तिस्रः पृथिवी=(१) पर्वतीय अधित्यका, उच्चभूमि। (२) पर्वतीय उपत्यका, पादभूमि। (३) तथा समतल भूमि। इन से अधोभूमि=कबर, भूमि खोद कर निर्मित गड्ढा]।

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासंच्च वचंसी पस्पृधाते।
तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासंत् ॥१२॥

(चिकितुषे, जनाय) ज्ञानी जन के लिये (सुविज्ञानम्) सुगमता से ज्ञेय है कि (सत् च, असत् च वचसी) सद्वचन [सत्यवचन] और असद् वचन [असत्यवचन] (पस्पृधाते) परस्पर स्पर्धा करते हैं। (तयोः) उन दोनों वचनों में (यत्) जो (सत्यम्) सत्य है, (यतरत्) जो कि (ऋजीयः) अपेक्षया अधिक ऋजु है, (तत् इत्) उस अधिक ऋजु की (सोमः) सोम (अवति) रक्षा करता है, और (असत्) असत् [असत्य] का (आ हन्ति) पूर्णतया हनन करता है।

[मन्त्र (८) में अनृत वचनों का कथन हुआ है। अनृत वचनों की पहचान के लिये मन्त्र (१२) में अनृत और सत्य की पहचान का वर्णन हुआ है। ज्ञानी जन सुगमता से जान लेता है। "सत्" वह वस्तु है जिसकी वस्तुतः सत्ता है; उसे "सत्य" कहा है। और "असत्" वह है जिसकी वस्तुतः सत्ता नहीं; उसे असत्य कहा है, क्योंकि असत् को सत्ता कल्पित होती है, वस्तुतः सत्ता नहीं होती। इन दोनों में "सत्य" अधिक "ऋजु" होता है, सीधे मार्ग वाला होता है, और "अनृत" कुटिल अर्थात् टेढ़े मार्ग का होता है। सत्य के कथन के लिये कल्पित बातें नहीं बनानी होतीं, परन्तु असत्य के कथन के लिये कई कल्पित बातों का मिश्रण करना पड़ता है। इसलिये सत्य का मार्ग ऋजु है, और असत्य का मार्ग अनृजु है। राष्ट्र या साम्राज्य प्रकरण में, सोम है सेनाध्यक्ष, जिससे कि शासन का वर्णन सूक्त (४) में हो रहा है। वह सेनाध्यक्ष, प्रजोन्नति की दृष्टि से सत्यवादी की तो रक्षा करता है, और असत्यवादी का पूर्णतया हनन। इस प्रकार सत्य की रक्षा और असत्य का हनन हो जाता है। ज्ञानी-जन जब आत्मनिरीक्षण करता है तो वह अनुभव कर लेता है कि मैं जो

कथन कर रहा हूं, वह सत्य है, या असत्य । लाभ और हानि की दृष्टि से सत्यवचन और असत्यवचन में परस्पर स्पर्धा होती रहती है, यह सर्व-साधारण अनुभूतियों का विषय है] ।

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम् ।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥१३॥

(सोमः) सेनाध्यक्ष (वै उ) निश्चय से (वृजिनम्) पाप और पापी को (न) नहीं (हिनाति) बढ़ाता या बढ़ने देता, तथा (मिथुया) मिथ्या अर्थात् असत्य को (धारयन्तम्) धारण करने वाले (क्षत्रियम्) क्षत्रिय को (न [हिनोति]) नहीं बढ़ाता या बढ़ने देता । (रक्षः) राक्षसस्वभाव वाले अर्थात् प्रजाभक्षक का (हन्ति) सोम हनन करता है, तथा (असत् वदन्तम्) असत्य-वादी का (आ हन्ति) पूर्णतया हनन करता है । (उभौ) ये दोनों (इन्द्रस्य) सम्राट् के (प्रसितौ) बन्धन अर्थात् बन्दीगृह में (शयाते) शयन करते हैं । प्रसितिः=प्र+षिञ् बन्धने+तिः ।

[उभौ=पापी और मिथ्याचारी क्षत्रिय; तथा रक्षः और असत्यवादी । शयाते=सम्भवतः दीर्घनिद्रा में शयन अर्थात् मृत्यु; अथवा बन्दीगृह] ।

यदि वाहमनृतदेवो अस्मि मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने ।
किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस्ते निर्ऋथं सचन्ताम् ॥१४॥

(अग्ने) हे अग्रणी प्रधानमन्त्रिन् ! (यदि वा) यदि (अनृतदेवः अहं अस्मि) अनृत को देव मानने वाला मैं हूं, (वा) अथवा (मोघम्) व्यर्थ में (देवान्) विजिगीषु सैनिकों या राष्ट्रव्यवहार सम्बन्धी अधिकारियों को (अपि ऊहे) मैंने अर्दित किया है, हिंसित किया है तो (हृणीषे) मुझे लज्जित या अप-मानित कर, या मुझ पर क्रोध कर, परन्तु [इन के न होते] (किम्) क्यों (जातवेदः) हे प्रज्ञाशील ! (अस्मभ्यम्) हमारे लिये [हृणोषे] तू क्रोध करता या हमें लज्जित, अपमानित करता है, (द्रोघवाचः) द्रोहवादी (ते) तुझ द्वारा निर्दिष्ट (निर्ऋथम्) निर्ऋति अर्थात् कृच्छ्रापत्ति को (सचन्ताम्) प्राप्त हों ।

[ऊहे=उहिर् अर्दने (भ्वादिः) । अर्द हिंसायाम् (चुरादिः) । हृणीषे= हृणीङ् रोषणे लज्जायाञ्च (कण्ड्वादिः); तथा हृणिः क्रोधनाम (निघं० २।१३); हृणीयते क्रुध्यतिकर्मा (निघं० २।१२) । देवान्=दिवु क्रीडा,

विजिगीषा, व्यवहार आदि (दिवादिः) । "अनृत देव" का अभिप्राय है अनृतभाषण, अनृतव्यवहार को ही निज देव मान कर तदनुकूल व्यवहार करना ।

समग्र चतुर्थ सूक्त में इन्द्र और सोम का वर्णन है । इन्द्र है सम्राट् तथा सोम है सेनाध्यक्ष । इन से अतिरिक्त अग्नि द्वारा अग्रणी-प्रधानमन्त्री का भी वर्णन चतुर्थ सूक्त में हुआ है । मन्त्र में सैनिकशासन का वर्णन है । इस-लिये प्रधानमन्त्री के प्रति सेनाध्यक्ष कहता है कि सैनिकशासन काल में यदि मैंने कोई अनृतव्यवहार किया है, या सैनिकों तथा अन्य शासकरूपी देवों के साथ कोई अनुचित व्यवहार किया है तो तू मुझे लज्जित या अप-मानित कर, और मुझ पर क्रोध प्रकट कर, परन्तु जिस किसी अधिकारी ने मुझ पर "यातुधान" होने का आरोप किया है, यदि वह आरोप न्यायालय द्वारा असत्य सिद्ध हो जाय तो उसे तू मन्त्रोक्त दण्ड प्रदान कर । यातुधान =यातना का निधान, यातना देने वाला । "न्यायालय" इसलिये कि वेदा-नुसार दण्डविधान न्यायालय द्वारा होता है । इसलिये कहा है कि "धर्माय समाचरम्" [आलभते] (यजु० ३०।६); धर्माय=राजधर्म की व्यवस्था के लिये, राजा सभाचर अर्थात् (मुख्य न्यायाधीश) को प्राप्त करे । सभा= न्यायाधीशों की सभा] ।

अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि यदि वायुस्ततप पूरुषस्य ।
अधा स वीरैर्दशभिर्वि यूया यो मा मोघं यातुधानेत्याह ॥१५॥

(अद्य) आज (मुरीय) मैं मर जाऊं (यदि) यदि (यातुधानः) यातना देने वाला (अस्मि) मैं हूं, (यदि वा) अथवा यदि (पूरुषस्य) किसी पुरुष के (आयुः) जीवन को (ततप) मैंने संतप्त किया है । (अधा) तथा (सः) वह (दशभिः वीरैः) १० पुत्रों से (वियूयाः) वियुक्त हो जाय (यः) जो कि (मा) मुझे (मोघम्) व्यर्थ में (आह) कहता है (यातुधान इति) कि हे "यातुधान" ! अर्थात् जो मुझ पर यातुधान होने का दोषारोपण करता है । यातुधान=यातनाओं का निधान ।

[वियूयाः=पुरुषव्यत्यय हुआ है । मन्त्र में साम्राज्य के संविधान के अनुसार [सोम] सेनाध्यक्ष कहता है कि मैं आज ही मर जाऊं, अर्थात् मुझे आज ही मृत्युदण्ड दिया जाय, यदि मैं अपराधी हूं । तथा वह व्यक्ति

जो कि साम्राज्य के न्यायाधीश के सामने मुझ पर यातुधान होने का आरोप करता है, यदि वह आरोप असत्य निर्णीत हो जाय तो आरोपकर्त्ता को १० पुत्रों से सदा के लिए वियुक्त करने का दण्ड दिया जाय, अर्थात् उसे मृत्युदण्ड दिया जाय या पुत्रों से अलग कर दिया जाय। १० पुत्र इसलिये कहा कि वेदाज्ञा के अनुसार गृहस्थी को १० पुत्र उत्पन्न करने की स्वतन्त्रता दी है, इससे अधिक की नहीं। यथा "दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि" (ऋग्वेद १०।८५।४५)। व्याख्येय मन्त्र में शपथ और अभिशाप का वर्णन प्रतीत नहीं होता, अपितु प्रकरणानुसार वैदिक-न्यायालय में सेनाध्यक्ष द्वारा अभियोग मात्र का वर्णन है। यदि प्रकरण का ध्यान न कर मन्त्र पर विचार किया जाय तो मन्त्र में शपथ और अभिशाप की प्रतीति अवश्य होती है]।

यो मायांतुं यातुंधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याहं।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पंदीष्ट ॥१६॥

(यः) जो (अयातुम्, मा) यातना न देने वाले मुझ को (यातुधान इति आह) हे यातुधान! इस प्रकार कहता है, सम्बोधित करता है, (वा) तथा (यः रक्षाः) जो राक्षस स्वभाव वाला अपने आप को (आह) कहता है कि (शुचिः अस्मि इति) मैं पवित्र हूं, (तम्) उस उभयविध को (इन्द्रः) सम्राट् (महता वधेन) वधकारी महास्त्र द्वारा (हन्तु) मार डाले, (विश्वस्य जन्तोः) सब जन्मधारियों से (अधमः) निकृष्ट वह (पदीष्ट) पतन करे, नष्ट हो जाय।

[वर्तमान मन्त्र में भी मन्त्र (१५) की भावना है]।

प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तमपं द्रुहुस्तन्वं१ गूहमाना।
वव्रमनन्तमव सा पदीष्ट ग्रावाणो घ्नन्तु रक्षसः उपब्दैः ॥१७॥

(या[1]) जो (द्रुहुः) द्रोहकारिणी शत्रुरूपी (तन्वम्) निज स्वरूप को (अप गूहमाना) छिपाती हुई (नक्तम्) रात में (खर्गला इव) उलूकिनी की तरह (प्र जिगाति[2]) गति करती है [हमारे नगर में] (सा) वह (अनन्तम्[3])

१. अथवा "या" = शत्रुसेना। २. जिगाति = गाङ् गतौ।

३. अनन्तं वव्रम् = अथवा सख्या में अनन्त कूप। शत्रु सेना के बहुसंख्याक सैनिकों को कूपों में गिरा कर मारने के लिये।

गहरे (वव्रम्) कूप में (अव) अधोमुखी हुई (पदीष्ट) गिरा दी जाय, और (ग्रावाणः) पत्थर (उपब्दैः[1]) ध्वनियों सहित (रक्षसः) ऐसी राक्षसी स्त्रियों को (घ्नन्तु) मार डालें।

[यह शत्रुस्त्री गुप्तचरी है, जो किसी महाव्यक्ति को मारने तथा भेद लेने के लिये शत्रु द्वारा भेजी जाती है। ऐसी स्त्री या अन्य गुप्तचर पुरुष को जो कि शत्रुराष्ट्र द्वारा प्रेषित होता है, गहरे कूप में अधोमुख करके गिरा कर, पत्थरों पर पत्थर, ध्वनि करते हुए, गिरा कर, मार देने का विधान हुआ है। "वव्रः कूपनाम" (निघं० ३।२३)। खर्गला = जिसके "गले" की आवाज "खर" है, कठोर रूक्ष है। खर्गल = उलूक]।

वि तिष्ठध्वं मरुतो विक्ष्वी३च्छत गृभायत रक्षसः सं पिनष्टन।
वयो ये भूत्वा पतयन्ति नक्तभिर्ये वा रिपो दधिरे देवे अध्वरे॥१८॥

(मरुतः) हे सैनिको! तुम विक्षु) प्रजाजनों में (वि तिष्ठध्वम्) विविध स्थानों में स्थित हो जाओ, (रक्षसः) राक्षसस्वभाव वाले गुप्तचरों को (इच्छत) मार देने का संकल्प करो, (गृभायत) इन्हें पकड़ो, (सं पिष्टन) और सम्यक्तया पीस डालो। तथा (ये) जो शत्रु सैनिक (वयो भूत्वा) पक्षी होकर अर्थात् वैयक्तिक विमानों द्वारा उड़ कर (नक्तभिः) रात्रियों में (पतयन्ति) उड़ते हैं, या उड़ कर आ जाते हैं; (ये वा) अथवा जो (देवे अध्वरे) हमारे दिव्य-हिंसारहित यज्ञ के सम्बन्ध में, या राष्ट्ररूप यज्ञ के सम्बन्ध में, (रिपः) हिंसाभावनाओं को (दधिरे) चित्तों में धारण करते हैं [उन्हें पकड़ो और पीस डालो]।

[पतयन्ति = अथवा हम पर आक्रमण करते हैं। मरुतः = मरने-मारने में कुशल तथा निर्भीक सैनिक। यथा "देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्" (यजु० १७।४०) में "मरुतः" से सैनिक अभिप्रेत हैं। मन्त्र १७ और १८ में एक ही विषय है। रिपः[2] = हिंसाः रिपुताम्, शत्रुताम्]।

१. उपब्दैः = उपवदैः = उपशब्दैः, पत्थरों की बौछार में पत्थरों के परस्पर टकराने से पैदा शब्द या ध्वनियां। मन्त्र में "रक्षसः" पद बहुवचनान्त है। इसलिये "या" का अर्थ "शत्रुसेना" किया है।

२. रिपः = हिंसाः; री रेषणे हिंसायाम्, (क्र्यादिः) + पुट्। (उणा० ५।५५)।

प्र वर्तय दिवोऽश्मानमिन्द्र सोमशितं मघवन्त्सं शिशाधि ।
प्राक्तो अपाक्तो अधरादुदक्तो३ऽभि जहि रक्षसः पर्वतेन ॥१९॥

(इन्द्र) हे सम्राट् ! (दिवः) द्युलोक से (अश्मानम्) पत्थरों को (प्रवर्तय) लुढ़काओ, अर्थात् फैंको, (सोमशितम्) जो कि सेनाध्यक्ष द्वारा तीक्ष्ण किये गये हैं, (मघवन्) हे ऐश्वर्यवान् इन्द्र] (सं शिशाधि) उन्हें सम्यक्तया और तीक्ष्ण करा। (प्राक्तः) पूर्व से, (अपाक्तः) पश्चिम से, (अधरात्) दक्षिण से, (उदक्तः) उत्तर से (पर्वतेन) पर्वतसदृश सुदृढ़ आयुधों के समूह द्वारा (रक्षसः) राक्षस कृत्यों वालों का (अभि) साक्षात् (जहि) हनन कर।

[यदि राक्षस "वयोभूत्वा" (मन्त्र १८) अन्तरिक्ष से प्रहार करें, तो विमानों द्वारा अन्तरिक्ष से भी ऊपर जाकर, द्युलोक से उन पर प्रहार करने का विधान हुआ है। मन्त्र में "अश्मा" द्वारा तीक्ष्ण आयुध अभिप्रेत है, पत्थर नहीं, और पर्वत द्वारा सुदृढ आयुधों का समूह अभिप्रेत है। तभी "शितम् और सं शिशाधि" पद सार्थक हो सकते हैं। समग्र सूक्त में सोम पद सेनाध्यक्षार्थ है। पर्वतेन = पर्ववता वज्रेण (सायण)। अश्मानम् = अशनिलक्षणं वज्रम् (सायण)।

एत उ त्ये पतयन्ति श्वयातव इन्द्रं दिप्सन्ति दिप्सवोऽदाभ्यम् ।
शिशीते शक्रः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदशनिं यातुमद्भ्यः ॥२०॥

(एते) ये (उ) तथा (त्ये) वे पूर्व वर्णित राक्षस, जो कि (श्वयातवः) कुत्तों के साथ वर्तमान या कुत्तों द्वारा यातना देने वाले (पतयन्ति) विचरते हैं, वे (दिप्सवः) हिंसेच्छुक (अदाभ्यम्) अहिंसनीय (इन्द्रम्) सम्राट् को (दिप्सन्ति) दम्भपूर्वक हिंसा करना चाहते हैं। अतः (शक्रः) शक्तिशाली (पिशुनेभ्यः) खल-श्वयातुओं के लिये (नूनं वधम्) निश्चित मारू आयुध को (शिशीते) तीक्ष्ण करता है, और (यातुमद्भ्यः) यातना वालों के निमित्त (अशनिम्) वैद्युत्-वज्र का (सृजत्) सर्जन करता है।

[मन्त्र (१९) में "संशिशाधि" और मन्त्र (२९) में "शिशीते" का अभिप्राय समान है। यातु = यातना (मन्त्र २०)]।

इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरो हविर्मथीनामभ्या३विवासताम् ।
अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एतु रक्षसः ॥२१॥

(यातूनाम्) यातना देने वालों, (हविर्मथीनाम्) हविष्यान्न को मथने वालों तथा (अभि) हमारी ओर (आ = आगत्य) आ कर (विवासतम्) विविध स्थानों में निवास करने वालों को, (इन्द्रः) सम्राट् (परा) पराङ्मुख करके (शरः) विनाशकर्त्ता (अभवत्) हुआ है। (शक्रः) शक्तिशाली इन्द्र, (यथा) जैसे (वनम्) वन को (परशुः) कुठार, वैसे (रक्षसः) राक्षसों के (अभि एतु) अभिमुख आए (सतः) प्राप्त हुए राक्षसों को (भिन्दन्) तोड़ता हुआ (पात्रा इव) जैसे कि पात्रों को तोड़ता हुआ [पत्थर या दण्डा] प्राप्त होता है।

[सतः = तिरः सत इति प्राप्तस्य (निरुक्त ३।२०)। यातूनाम् = यातुधानानाम्। यथा देवदत्तो, दत्तः]।

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ॥२२॥

(उलूकयातुम्) उल्लू की चाल वाले, (शुशुलूकयातुम्) अतिशीघ्रता से परद्रव्य का अपहरण कर जीवनयात्रा करने वाले, (श्वयातुम्) कुत्तों की चाल वाले, (उत) और (कोकयातुम्) चक्रवाक की तरह व्यवहार वाले, (सुपर्णयातुम्) गरुड़ की चाल वाले, (उत) और (गृध्रयातुम्) गीध की चाल वाले (रक्षः) राक्षस को (इन्द्र) हे सम्राट् ! तू (प्रमृण) मार डाल, (दृषदा इव) जैसे कि चक्की के पाट द्वारा [चनों को पीसा जाता है]।

[उलूकयातुम् = उल्लू की तरह रात्री में परराष्ट्र में घूमने वाला। शुशुलूक यातुम् = "शु" इति क्षिप्रनाम (निरुक्त ६।१।१)। "शुशु" अभ्यास द्वारा अतिशीघ्रता द्योतित की है; लूक = लुञ्च अपनयने (भ्वादिः)। परद्रव्य का अपहरण करने वाला। श्वयातुम् = कष्ट देने के लिये शिकारी कुत्तों के साथ विचरने वाला यथा (मन्त्र २०)। कोकयातुम् = चक्रवाक की तरह

विषयानुरागी। सुपर्णयातुम्=गरुड़ की तरह शिकार[1] पर झपटने वाला। गृध्रयातुम्=गीध की तरह गर्धा सम्पन्न। दृषदा[2] (अथर्व० २।३१।१)]।

मा नो रक्षो अभि नड् यातुमावदपोच्छन्तु मिथुना ये किमीदिनः।
पृथिवी नः पार्थिवात् पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात् पात्वस्मान् ॥२३॥

(नः) हमें (यातुमावद्) यातना देने वाले (रक्षः) राक्षस स्वभाव वाला व्यक्ति [शत्रु] (न) न (अभिनट्) प्राप्त हो, (ये) जो (किमीदिनः) अब क्या हो रहा है, यह क्या है, इस प्रकार प्रश्नों द्वारा भेद लेने वाले (मिथुनाः) स्त्री-पुरुषरूप राक्षस हैं, वे (अपोच्छन्तु) अपगत हो जांय [हमारे राष्ट्र से]। ताकि (पृथिवी) पृथिवी (नः) हमें (पार्थिवात्) पार्थिव पदार्थों के [अभाव से होने वाले] (अंहसः) कष्ट से (पातु) रक्षित करे, और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (अस्मान्) हमें (दिव्यात्) दिव्य पदार्थों के [अभाव से होने वाले] कष्ट से (पातु) रक्षित करे।

[अभिनट्=अभि+नश् (व्याप्तिकर्मा, निघं २।१८)। अपोच्छन्तु=अप+उछी विवासे (भ्वादिः)। किमीदिनः (निरुक्त ६।३।१२)। अंहसः =अंहतिश्च अंहश्च अंहुश्च हन्तेः (४।४।२५; पदसंख्या ५७)। मृत्यु या मृत्युसदृश कष्ट। राक्षस उत्पात द्वारा कष्टोत्पादक होते हैं। वे हमारे अन्नों [पार्थिवात्], तथा प्राणवायु [अन्तरिक्ष] को दूषित भी कर देते हैं। उनकी सत्ता कष्टदायक और मृत्यु कारक भी हो जाती है। राक्षसों के न रहने से पृथिवी पार्थिव अन्न प्रदान कर, तथा अन्तरिक्ष दिव्य-प्राणवायु देकर हमारी रक्षा करते हैं। यातुमावत्=यातु (यातना)+मा (ज्ञानम्) +वत् (मतुप्); मा=ज्ञानम्, यथा मा, प्रभा प्रमाणम्। अर्थात् यातना विधिविज्ञ]।

इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम्।
विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम् ॥२४॥

(इन्द्र) हे सम्राट्! (यातुधानम्) यातनाओं को धारण करने वाला, यातना के निधिभूत (पुमांसम्) पुरुष का, (उत) तथा (मायया) छल-कपट द्वारा (शाशदानाम्) हिंसा करने वाली (स्त्रियम्) स्त्री का (जहि) तू हनन कर (मूरदेवाः) मूढ-व्यवहारी या मारण-क्रीडा करने वाले ये (विग्रीवासः) ग्रीवाओं से विगत हुए (ऋदन्तु) नष्ट हो जांय और (उच्चरन्तम्) उदित होते हुए (सूर्यम्) सूर्य को (मा) न (दृशन्) देख पाएं।

१. गरुड़ सांपों पर झपट्टा मारता है।

२. इन्द्रस्य या मही दृषद् क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी। तया पिनश्मि संक्रिमीन् दृषदा खल्वानिव। (अथर्व० २।३१।१)। खल्वान् चणकान् (सायण)।

[मन्त्र (२३) में मिथुनाः द्वारा स्त्री-पुरुष दोनों का वर्णन हुआ है। मन्त्र (२४) में भी पुमान् और स्त्री दोनों का वर्णन हुआ है। अत्याचारी दोनों को समान दण्ड देने का विधान हुआ है। जिस दिन ये उग्र अपराधी घोषित किये जांय उसी दिन इनकी ग्रीवाएं काट देनी चाहियें ताकि अगले दिन के सूर्य का ये दर्शन न कर पाएं। दण्डप्रदान और अपराध में विशेष व्यवधान न होना चाहिये। अपराध का दण्ड उसी दिन ही हो जाना चाहिये जिस दिन कि अपराध किया गया हो]।

प्रति चक्ष्व वि चक्ष्वेन्द्रश्च सोम जागृतम्।
रक्षोभ्यो वधमस्यतमशनिं यातुमद्भ्यः ॥२५॥

(सोम) हे सेनाध्यक्ष! तू (प्रति) प्रत्येक राक्षस को (चक्ष्व) दृष्टिगत कर, उस की चेष्टाओं को देख, (वि चक्ष्व) तथा विविध प्रकार के राक्षसों को भी दृष्टिगत कर, उन की चेष्टाओं को देख। तू (च) और (इन्द्रः) सम्राट् (जागृतम्) इन कार्यों में जागरूक रहो। (रक्षोभ्यः) राक्षसों अर्थात् (यातुमद्भ्यः) यातना देने वालों के प्रति (अशनिम्, वधम्) वधकारी वैद्युत वज्र (अस्यतम्) फैंको।

[सोम=सेनाध्यक्ष (मन्त्र १)। सेनाध्यक्ष का काम है कि वह प्रत्येक तथा नानाविध उपद्रवकारियों को निज दृष्टि में रखे। साम्राज्य की रक्षा के लिये सेनाध्यक्ष और सम्राट् दोनों को सदा जागरूक अर्थात् सावधान रहना चाहिये। दण्डप्रदान में सेनाध्यक्ष तथा सम्राट् की समान मति होनी चाहिये। ताकि सोम द्वारा दिये दण्ड में क्षमा प्रार्थना पर, सम्राट् दण्ड क्षमा न करे]।

काण्ड ८ अनुवाक २ समाप्त

सूक्त ५

विषय-प्रवेश

(१) सूक्त ५, मन्त्र २२। प्रतिसर-मणि का बान्धना और मणि का स्वरूप (मन्त्र १-२२)।

(२) यह मणि वीर है, वीर्यवान् तथा शूरवीर है [सेनाध्यक्ष है] मन्त्र १।

(३) मणि सपत्नों का हननकर्त्ता, वीर, सुवीर तथा उग्र है (मन्त्र २)।

(४) मणि द्वारा मनीषी इन्द्र अर्थात् सम्राट् लोकविजयी होता है (मन्त्र ३)।

(५) मणि स्राकृत्य अर्थात् स्रक् [स्रज्] अर्थात् माला के योग्य है, हमारा रक्षक है (मन्त्र ४, ७, ८)। मणि के विशेषणों द्वारा मणि चेतन-पुरुष है, यह स्पष्ट है, यह काष्ठनिर्मित नहीं।

(६) ६० नदियों का आध्यात्मिक स्वरूप (मन्त्र ६)।

(७) मणिधारण द्वारा शक्तिसंचार आदि (मन्त्र १२-२२)।

(८) सूक्त में सम्राट्, राष्ट्रपति तथा पुरुषमणि-सेनाध्यक्ष की प्रायः चर्चा हुई है।

——

तृतीय अनुवाक

सूक्त ५

१-२२। शुक्रः। कृत्यादूषणः। मन्त्रोक्त देवताः। अनुष्टुप्; १,६ उपरिष्टाद् बृहती; २ त्रिपदा विराड् गायत्री; ३ चतुष्पदा भुरिग्जगती; ५ भुरिक् संस्तारपंक्तिः; ७, ८ ककुम्मती; ९ चतुष्पदा पुरस्कृतिर्जगती; १० त्रिष्टुप्; ११ पथ्यापंक्ति; १४ त्र्यवसाना षट्पदा जगती; १५ पुरस्ताद् बृहती; १९ जगतीगर्भा त्रिष्टुप्; २० विराड्गर्भा प्रस्तारपंक्तिः; २१ विराट् त्रिष्टुप्; २२ त्र्यवसाना सप्तपदा विराड्गर्भा भुरिक् शक्वरी।

अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते।
वीर्यवान्त्सपत्नहा शूरवीरः परिपाणः सुमङ्गलः ॥१॥

(अयम्) यह (प्रतिसरः) शत्रु के प्रतिसरण करने वाला, (वीरः) वीर, (वीर्यवान्) वीर्यवाला, (सपत्नहा) शत्रुनाशक, (शूरवीरः) शूरवीर, (परिपाणः) सब ओर से रक्षा करने वाला (सुमङ्गलः) उत्तम-मङ्गल करने वाला (मणिः) सेनाध्यक्षरूप पुरुषरत्न (वीराय) वीर राजा के लिये (बध्यते) बान्धा जाता है।

[मणि के विशेषण[1] जो मन्त्र में कथित हैं, वे वीर आदि विशेषणों से युक्त सेनाध्यक्ष पुरुषरत्न के लिये सार्थक होते हैं। राष्ट्र का पति राजा भी वीर-क्षत्रिय होना चाहिये (वीराय) "बध्यते" द्वारा वीर राजा और वीर सेनाध्यक्ष के पारस्परिक सम्बन्ध सुदढबद्ध होने चाहियें. यह मन्त्राभिप्राय है। मन्त्र में उक्ति न राजा की है, न सेनाध्यक्ष की। उक्ति या तो राष्ट्र के न्यायाध्यक्ष की है, या प्रधानमन्त्री की]।

अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः।
प्रत्यक् कृत्या दूषयन्नेति वीरः ॥२॥

(अयम् मणिः) यह मणि (सपत्नहा) शत्रु का हनन कर्त्ता, (सुवीरः) उत्तम वीरों वाला, (सहस्वान्) बलवान्, (वाजी) वेग वाला, (सहमानः)

---

१. यदि विशेषणों के अनुरूप विशेष्य व्यक्ति या वस्तु न हो, तो विशेषण गप्प ही होंगे।

पराभवकर्त्ता, (उग्रः) तथा उग्र स्वभाव वाला है। (वीरः) यह वीर (कृत्याः) कर्तन योग्य, छेदन-भेदन करने योग्य शत्रु सेनाओं को (दूषयन्) दूषित करता हुआ (प्रत्यक्) हमारे अभिमुख (एति) आता है।

[मन्त्र में कथित विशेषण वीर सेनाध्यक्ष के सम्बन्ध में चरितार्थ होते हैं, काष्ठनिर्मित मणि के सम्बन्ध में नहीं। दूषयन्—दुष वैकृत्ये (दिवादिः) वैकृत्य का अर्थ है विकृति। शत्रुसेना को छिन्न-भिन्न कर भगा देना, और उन्हें तितर-बितर कर देना यह शत्रुसेना को दूषित करना है। प्रत्यक् एति = विजय पाकर सेनाध्यक्ष निज प्रजा के अभिमुख लौटता है। कृत्याः = पृतनाः (मन्त्र ८)]।

अनेनेन्द्रो मणिना वृत्रमहन्ननेनासुरान् पराभावयन्मनीषी।
अनेनाजयद् द्यावापृथिवी उभे इमे अनेनाजयत् प्रदिशश्चतस्रः ॥३॥

(अनेन मणिना) इस सेनाध्यक्षरूपी पुरुषरत्न द्वारा (इन्द्रः) सम्राट् ने (वृत्रम्) साम्राज्य पर घेरा डालने वाले शत्रुदल का (अहन्) हनन किया, (अनेन) इस द्वारा (मनीषी) मनस्वी इन्द्र ने (असुरान्) प्राणशाली शत्रु-सैनिकों को (पराभावयन्) पराभूत किया। (अनेन) इस द्वारा (इमे उभे) इन दोनों (द्यावापृथिवी) द्युलोक-पृथिवीलोक को (अजयत्) उसने जीता, (अनेन) इस द्वारा (चतस्रः प्रदिशः) चार व्याप्त दिशाओं को (अजयत्) उसने जीता।

[क्या मन्त्रोक्त वर्णन काष्ठनिर्मित मणि द्वारा सम्भव है? "राष्ट्रपति" को प्रोत्साहित करने के लिये कहा है कि "इस सेनाध्यक्ष के द्वारा इन्द्र ने भी विजय पाई, इसलिये यह सेनाध्यक्ष" हे राष्ट्रपति! [राजन्] तुझे भी विजयी करेगा। मन्त्र में "मनीषी" पद द्वारा इन्द्र को मनुष्य सूचित किया है। इन्द्र है सम्राट्, संयुक्तराष्ट्रों अर्थात् साम्राज्य का अधिपति और (मन्त्र १, २) में वर्णित राजा है एक-राष्ट्र का अधिपति। यथा "इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७)। राष्ट्र के राजा को वरुण कहा है। ये सब राष्ट्रपति मिल कर संयुक्तराष्ट्रों के अधिपति सम्राट् का वरण करते हैं, निर्वाचन करते हैं। द्युलोक के विजय का अभिप्राय यह है कि विमानों द्वारा द्युलोक तक जा सकना]।

अयं स्राक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः।
ओजस्वान् विमृधो वशी सो अस्मान् पातु सर्वतः ॥४॥

(अयम्) यह (स्राक्त्यः मणिः) स्राक्त्य-मणि, (प्रतीवर्तः) शत्रुसेना को वापिस मोड़ देता है, (प्रतिसरः) और शत्रुसेना के प्रति सरण करता है। (ओजस्वान्) ओजस् वाला, (विमृधः) शत्रुओं का विमर्दन करने वाला, (वशी) उन्हें वश में करने वाला है, (सः) वह (अस्मान्) हमें (सर्वतः) सब ओर से, या सब प्रकार के भयों से (पातु) सुरक्षित करे।

[स्राक्त्यः = विनियोगकारों के अनुसार सायणाचार्य लिखते हैं कि "अयं तिलकवृक्षनिर्मितो मणिः" (मन्त्र १), अर्थात् यह मणि तिलक वृक्ष से निर्मित है, अर्थात् तिलक वृक्ष के फल या काष्ठ से निर्मित है। इस काष्ठ-निर्मित मणि में, सूक्त ५ में कथित वर्णन उपपन्न हो सकते हैं, यह असम्भव है। "स्राक्त्य-मणिः" वस्तुतः है स्रक् (स्रज्) अर्थात् माला द्वारा सत्कार योग्य विजयी सेनाध्यक्षरूपी पुरुष-रत्न। इस के सम्बन्ध में ही सूक्तोक्त वर्णन उपपन्न हो सकते हैं। "स्राक्त्य" का वर्णन "स्रक्त्यः" द्वारा [अथर्व० २।११।२] में भी हुआ है। स्राक्त्यः = स्रक्त्य + स्वार्थे अण्। सायणाचार्य ने अथर्व० २।११।२ में भी इसे तिलक वृक्ष द्वारा निर्मित कहा है। यथा "स्रक्तिस्तिलकवृक्षः तत्र भवः स्रक्त्यः। (अथर्व० २।११।४) में "स्रक्त्य" को सूरि कहा है। सूरिः का अर्थ सायणाचार्य ने "अभिज्ञः" किया है, अर्थात ज्ञानी। क्या काष्ठनिर्मित या फलरूप वस्तु ज्ञानी हो सकती है]।

तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः।
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥५॥

(तत्) [१-४ मन्त्रों में उक्त तत्त्व को (अग्निः) अग्रणी प्रधानमन्त्री ने (मे) मुझे (आह) कहा है (तदु) उसे ही (सोमः) सेनाध्यक्ष ने (आह) कहा है, (बृहस्पतिः) बहती सेना के अधिपति ने, (सविता) सविता ने, (इन्द्रः) सम्राट् ने (तत्) उसे कहा है। (ते) वे (देवाः) दिव्यगुणों वाले अधिकारी (मे) मेरे लिये (पुरोहिताः) पुरोहितरूप में हैं, या मेरे पुरोगामी रूप में हितकारी हैं, वे (प्रतीचीः) मेरे प्रति आने वाली (कृत्याः) शत्रुसेनाओं को, [मन्त्र ८, पृतनाः,] (प्रतिसरैः) उन के प्रति सरण करने वाले सैनिकों द्वारा (अजन्तु) धकेल दें।

[पूर्व के मन्त्रों में राष्ट्रपति राजा और संयुक्त राष्ट्रों अर्थात् साम्राज्य के अधिपति इन्द्र का वर्णन हुआ है। अग्नि आदि हैं साम्राज्य के अधिकारी और मन्त्रप्रवक्ता है राष्ट्रपति राजा। अग्नि है अग्रणी प्रधानमन्त्री। सोम है सेनाध्यक्ष। बृहस्पति है साम्राज्य की समग्र सेना का अधिपति। सविता है वित्ताधिकारी और इन्द्र है सम्राट्। सविता "षु प्रसवैश्वर्ये" (भ्वादिः) के अनुसार ऐश्वर्य अर्थात् साम्राज्य के वित्त का अधिकारी है। मन्त्रप्रवक्ता राष्ट्रपति विश्वास प्रकट करता है कि ये साम्राज्याधिकारी युद्धावस्था में मुझे सहायता देकर आक्रान्ताओं को मेरे राष्ट्र से धकेल देंगे। अजन्तु = "अज गतिक्षेपणयोः" (भ्वादिः)। यहां क्षेपणार्थ में "अज" धातु है। "अजन्तु" में णिजर्थ अन्तर्भावित है]।

अन्तर्दधे द्यावापृथिवी उताहरुत सूर्यम्।
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥६॥

(द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी को, (उत) तथा (अहः) दिन को, (उत) और (सूर्यम्) सूर्य को (अन्तर्दधे) मैं छिपा देता हूं, अदृश्य कर देता हूं। (ते) वे (देवाः) दिव्यगुणों वाले अधिकारी [मन्त्र ५] (मे) मेरे लिये (पुरोहिताः) पुरोहितरूप में हैं, या मेरे पुरोगामीरूप में हितकारी हैं, वे (प्रतीचीः) मेरे प्रति आने वाली (कृत्याः) शत्रु सेनाओं को [मन्त्र ८ पृतनाः], (प्रतिसरैः) उन के प्रति सरण करने वाले सैनिकों द्वारा (अजन्तु) धकेल दें।

[दो प्रकार से, शत्रुसेनाओं द्वारा किये आक्रमण को, विफल किया जा सकता है। (१) द्यावापृथिवी आदि को ढांप दिया जाय, उन्हें अदृश्य कर दिया जाय। (२) साम्राज्य की सहायता द्वारा उन्हें परास्त किया जाय। वेद में तामसास्त्र का वर्णन हुआ है, जिस द्वारा सर्वत्र अन्धकार फैला दिया जाता है, और शत्रुसेना को अपने पराये का भेद ज्ञान न रहने पर वह निज सैनिकों से ही लड़ती हुई परस्पर में विनष्ट हो जांय। यथा—

अमीषां चित्तानि प्रतीमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभिप्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून् ॥
अथर्व० ३।१।५॥

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ॥
अथर्व० ३।१।६॥

इन दो मन्त्रों से "अप्वा" अस्त्र का वर्णन हुआ है, जो कि "तमसा" शत्रुओं को बींधता है।

अन्तर्दधे = यथा अन्तर्धान हो जाना, छिप जाना, अदृश्य हो जाना। covering, concealment, अन्तर्धानम् = Being invisible (आप्टे)]।

ये स्राक्त्यं मणिं जना वर्माणि कृण्वते।
सूर्य इव दिवमारुह्य वि कृत्या बाधते वशी ॥७॥

(ये) जो (जनाः) प्रजाजन (स्राक्त्यम् मणिं) स्रज् द्वारा सत्कार योग्य पुरुषरत्न [सेनाध्यक्ष] को (वर्माणि) कवचरूप में (कृण्वते) कर लेते हैं, उन की शात्रवी (कृत्याः) सेनाओं को यह मणि (वि बाधते) विशेषतया नष्ट कर देता है, और (वशी) उन्हें अपने वश में कर लेता है, (इव) जैसे कि (सूर्यः) सूर्य (दिवम् आरुह्य) द्युलोक में आरोहण कर [अन्धकारों को विनष्ट कर देता है]।

स्राक्त्येन मणिन ऋषिणेव मनीषिणा।
अजैषं सर्वाः पृतना वि मृधो हन्मि रक्षसः ॥८॥

(इव) जैसे (मनीषिणा ऋषिणा) मनस्वी ऋषि द्वारा [मैंने निज आसुरी भावनारूपी पृतना पर विजय पाया है] वैसे (स्राक्त्येन) स्रज द्वारा सत्कार योग्य सेनाध्यक्षरूपी (मणिन) पुरुषरत्न द्वारा (सर्वाः पृतनाः) मैं [राष्ट्रपति राजा] ने सब सेनाओं पर (अजैषम्) विजय पा लिया है। इस प्रकार मैं (मृधः) प्रमाथी (रक्षसः) राक्षसों को (वि हन्मि) विशेषतया मार देता हूं।

याः कृत्या आङ्गिरसीर्याः कृत्या आसुरीर्याः
कृत्याः स्वयंकृता या उ चान्येभिराभृताः।
उभयीस्ताः परा यन्तु परावतो नवतिं नाव्या३ अति ॥९॥

(याः) जो (आङ्गिरसीः) अङ्गों के रसों सम्बन्धी (कृत्याः) पृतनाएं [मन्त्र ८] हैं, (याः) जो (आसुरीः) प्राणों सम्बन्धी (कृत्याः) पृतनाएं हैं, (याः) जो (स्वयंकृताः) निज संस्कारों द्वारा उत्पन्न की गई पृतनाएं हैं, (याः उ च) और जो (अन्येभिः) अन्यों की कुसंगति या पैतृकरूप में (आभृताः

=आहृता:) प्राप्त हुई हैं, (ता:) वे (उभयीः) दोनों प्रकार की पृतनाएं (परावतः) दूर से दूर (परायन्तु) हमसे पृथक् होकर चली जांय, (नाव्याः) नौका द्वारा पार करने योग्य (नवतिम्) ९० नदियों का (अति) अतिक्रमण करके।

[मन्त्र ८ में दो प्रकार की पृतनाओं, सेनाओं का वर्णन हुआ है, ऋषि द्वारा जेय, तथा सेनापति द्वारा जेय। मन्त्र ९ में भी द्विविध कृत्याओं का वर्णन किया गया है। एक तो शारीरिक अङ्गों के रस सम्बन्धी तथा प्राणों सम्बन्धी; और दूसरी आध्यात्मिक अर्थात् स्वयंकृत, तथा पर कुसंगति द्वारा उपार्जित। आङ्गिरसीः=अङ्गानां रसः अर्थात् शरीर के जो अङ्ग हैं उनके रस। इन रसों में विकार पैदा करने वाली पृतनाएं हैं रोगोत्पादक रोगकीटाणु=Germs तथा आसुरी कृत्याएं हैं प्राणों में विकारोत्पादक दूषित वायु, जल तथा अन्न। असुः=प्राणः "असुरिति प्राणनाम अस्तः शरीरे भवति" (निरुक्त ३।२।८); असु हैं प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान आदि। अङ्गों के द्रवरस और वायुरूप प्राण-परस्पर भिन्न स्वरूप वाले हैं। शरीर से सम्बन्ध रखने वाली, तथा आचार से सम्बन्ध रखने वाली कृत्याः अर्थात् पृतनाः, ये उभयीः हैं, दो प्रकार की हैं। शरीर सम्बन्धी पृतनाः साक्षात् शरीर पर प्रभाव करती हैं, और आचार सम्बन्धी पृतनाः साक्षात् मन पर प्रभाव करती हैं। नवतिं नाव्याः=मन्त्र में आध्यात्मिक "पृतनाः" का वर्णन हुआ है। ९० नदियां भी आध्यात्मिक हैं और नौका द्वारा पार की जा सकती हैं, अतः ये महावेगाः और महाविस्ताराः हैं। शरीर में १० इन्द्रियां हैं, पञ्च ज्ञानेद्रियां और पञ्च कर्मेन्द्रियां। ये नदियां हैं। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थों से उत्पन्न ज्ञान-जल भीतर की ओर प्रवाहित होता है, और कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्मरूपी जल भीतर से बाहर की ओर प्रवाहित होता है। इन दो प्रकार की नदियों का वेग और विस्तार भयावह है। (श्वेता० उप०) में १० इन्द्रियों को "स्रोतांसि" कहा है, अतः ये नदीरूप हैं। तथा इन "स्रोतांसि" को "भयावहानि" भी कहा है, अतः ये नाव्याः हैं, नौका द्वारा पार करने योग्या हैं। इन्हें पार करने के लिये नौका है ब्रह्मोडुप। उडुप है पार करने वाली नौका। ब्रह्मोपासनारूपी नौका द्वारा दशेन्द्रियों की ९० नदियों[1] को पार किया जा सकता है। यथा—

१. विशेष—मन्त्र १-८ तक राजनैतिक विजय का वर्णन हुआ है। आध्यात्मिक

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥

अध्याय २। खण्ड ८॥

नवतिं नाव्याः=इन्द्रियां सत्त्व, रजस्, तथा तमस् गुणों द्वारा निर्मित हुई हैं। प्रकृति के इन तीन गुणों के परस्पर मुख्य, गौण, तथा गौणतररूप में मिश्रित होने पर प्रत्येक इन्द्रिय के ९ स्वरूप होते हैं। इस प्रकार १० इन्द्रियों के ९×१०=९० स्वरूप हो जाते हैं, जो कि ९० नदियां हैं। नदियों के ये आध्यात्मिक स्वरूप हैं। इन्हें स्रोतांसि कहा है। प्रत्येक इन्द्रिय के नौ स्वरूप यथा—

१. सत्त्व मुख्य, रजस् गौण, तमस् गौणतर (१ स्वरूप)
२. „ „ रजस् गौणतर, तमस् गौण (१ स्वरूप)
३. „ „ रजस्+तमस् गौण या गौणतर (१ स्वरूप)
} =३ स्वरूप

४. इसी प्रकार रजस् मुख्य, तथा अन्य दो सत्त्व+तमस् गौण या गौणतर } =३ स्वरूप

५. इसी प्रकार तसस् मुख्य, तथा अन्य दो सत्त्व+तमस् गौण या गौणतर } =३ स्वरूप

कुल =९ स्वरूप[1]

विजय को मन्त्र ९ में दर्शाया है। ९० नदियों का आधिदैविक स्वरूप स्पष्ट नहीं, जिन पर कि राजनैतिक विजय का कथन मन्त्र में हो। आधिभौतिक या आधिदैविक अर्थ को आध्यात्मिक अर्थ में परिवर्तित करने के दृष्टान्तरूप में ९० नदियों का कथन किया गया है। मन्त्र में उपमावाचक पद लुप्त है। योगशास्त्र में आध्यात्मिक विजय दर्शाने के लिये "इन्द्रियविजय" को "इन्द्रियजयः" कहा है (विभूतिपाद, सूत्र ४७)। ९० रूपों वाली इन्द्रिय-नदियां [स्रोतांसि] "इन्द्रियजयः" द्वारा अभिप्रेत हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से योगदर्शन के भाष्य में व्यासमुनि ने चित्त को भी नदी कहा है। यथा "चित्तनदी नाम उभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय वहति पापाय च" (समाधिपाद, सूत्र १२)।

१. प्रत्येक इन्द्रिय की इन्द्रियवृत्तियों के ९ स्वरूप। १० इन्द्रियों के ९×१०=९० स्वरूप। ये स्रोतांसि तथा नदियां हैं।

**अस्मै मणिं वर्म बध्नन्तु देवा इन्द्रो विष्णुः सविता रुद्रो अग्निः ।
प्रजापतिः परमेष्ठी विराड् वैश्वानर ऋषयश्च सर्वे ॥१०॥**

(अस्मै) इस राष्ट्रपति राजा के लिये (इन्द्रः) इन्द्र (विष्णुः) विष्णु, (सविता) सविता (रुद्रः) रुद्र (अग्निः) अग्नि (प्रजापतिः) प्रजापति (परमेष्ठी) परमेष्ठी, (विराट्) विराट्, (वैश्वानरः) और वैश्वानर (देवाः) ये देव, (च) और (सर्वे) सब (ऋषयः) ऋषि (मणिम्) सेनाध्यक्षरूपी पुरुषरत्न को सुदृढरूप में (बध्नन्तु) सम्बद्ध करें।

[मन्त्र में साम्राज्य के घटक प्रत्येक राष्ट्र के राष्ट्रपति राजा और सेनाध्यक्ष के पारस्परिक सम्बन्ध को सुदृढ करने के निमित्त साम्राज्य के अधिकारियों तथा साम्राज्य के ऋषियों का सम्मेलन करने का विधान हुआ है, और इस सम्मेलन में परमेश्वर की कृपा का आह्वान किया है। प्रजापति परमेष्ठी, विराट्, वैश्वानर, ये नाम परमेश्वर के हैं। और अवशिष्ट नाम साम्राज्य के अधिकारियों के लिये हैं। तथा ऋषि आमन्त्रित हैं, आशीर्वाद तथा परामर्श के लिये। इन्द्र है सम्राट् (यजु० ८।३७)। विष्णु से अभिप्रेत यदि "सूर्य" हो तो यह "चक्षुषाम् अधिपतिः" (अथर्व० ५।२४।९) अर्थात् गुप्तचरों का राज्याधिकारी[1] है। सविता है वित्ताधिकारी (मन्त्र ५)। रुद्र है पशुपतिः, पशुओं का अधिकारी, जैसे कि "य ईशे पशुपतिः पशूनाम्" (अथर्व० २।३४।१)। इसकी व्याख्या में सायणाचार्य लिखते हैं कि "यः पशुपतिः पशूनां पालयिता, रुद्रः। साम्राज्य के पशुओं का संवर्धन, उत्तम बैलों तथा गौओं का उत्पादन आदि कर्म रुद्र के हैं। अग्नि है अग्रणी प्रधानमन्त्री। यह सब व्याख्या केवल आधिभौतिक व्याख्या की दृष्टि से है]।

**उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान् जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव ।
यमैच्छामाविदाम तं प्रतिस्पाशनमन्तितम् ॥११॥**

हे सेनाध्यक्ष ! तू (ओषधीनाम्) ओषधियों में (उत्तमः) उत्तम ओषधिरूप (असि) है, (जगताम्) जङ्गम-चतुष्पदों में (अनड्वान्) शकटवाही बैल की

१. यथा "चारचक्षुः=राजा, चारचक्षुर्महीपतिः (मनुस्मृतिः ९।२५६), तथा "चारैः पश्यन्ति राजानः" कामन्दक। इन्हें "स्पशाः" भी कहते हैं (अथर्व० ४।१६।४)। अथवा विष्णु है यज्ञ। अतः राष्ट्र के यज्ञकर्मों का अधिकारी।

(इव) तरह, तथा (श्वपदाम्) श्वपदों में (व्याघ्रः इव) बाघ चीता की तरह तू है। (यम्) जिसकी (ऐच्छाम) हमने इच्छा की थी, (तम्) उसे (अविदाम) हमने प्राप्त कर लिया है, (तम्) उसका (अन्तितम्) अत्यन्त समीपता से (प्रतिस्पाशनम्) हमने स्पर्श किया है। अथवा शत्रुओं के बाधक उस तुझ को अत्यन्त समीपता से हमने प्राप्त कर लिया है। अन्तितम् = अन्तिकतमम्।

[ओषधियों के दो प्रयोजन होते हैं, रोगी के दोषों अर्थात् रोगों को दूर करना और उसके शरीर का संवर्धन करना। राष्ट्रपति राजा के भी दो प्रयोजन हैं, राष्ट्र-शरीर के रोगों को दूर करना, और राष्ट्र-शरीर का संवर्धन करना। राष्ट्र-शरीर के रोग हैं, चोरी, डकैती, लूटमार, व्यभिचार विप्लव तथा उपद्रव आदि। राजा सेनाध्यक्ष की सहायता से इन रोगों को दूर करता है अतः उसे "उत्तम ओषधीनाम्" कहा है। और अवशिष्ट मन्त्रियों की सहायता से व्यापार, उद्योग, कृषि आदि द्वारा राष्ट्र का संवर्धन करता है। इन से अतिरिक्त एक राजनैतिक बड़ा रोग है "परराष्ट्र द्वारा आक्रमण"। एतदर्थ राजा सेनाध्यक्ष को व्याघ्र से उपमित करता है, और राष्ट्र-शकट के वहन में सहायक होने से उसे अनड्वान् कहता है। राजा निज मन्त्रियों को कहता है कि राष्ट्ररक्षार्थ हमने जिस की इच्छा की थी, उस सेनाध्यक्ष को हमने प्राप्त कर लिया है, और उसके साथ अतिसमीपता से हमने अपना सम्बन्ध पैदा कर लिया है, जैसे कि किसी भी वस्तु का स्पर्श उसके अत्यन्त समीप होने पर ही किया जाता है। यह सेनाध्यक्ष राष्ट्र के शत्रुओं के लिये भी बाधारूप है। "स्पश बाधनस्पर्शयोः" (भ्वादिः) अनड्वान्=अनः शकटं वहतीति। श्वपदाम्=कुत्ते के पञ्जे के सदृश जिन के पञ्जे हैं]।

**स इद् व्याघ्रो भवत्यथो सिंहो अथो वृषा ।
अथो सपत्नकर्शनो यो बिभर्तीमं मणिम् ॥१२॥**

(यः) जो राष्ट्रपति-राजा (इमम्, मणिम्) इस सेनाध्यक्षरूपी पुरुषरत्न का (बिभर्ति) धारण-पोषण करता है, (सः इत्) वह ही (व्याघ्रः) व्याघ्र के सदृश (भवति) होता है, (अथो) और (सिंह) सिंह के सदृश होता है, (अथो) और (वृषा) अनड्वान् के सदृश सुखवर्षी होता है। (अथो) और (सपत्नकर्शनः) शत्रुओं को कृश अर्थात् तनूकृत करने वाला होता है।

[विभर्ति=भृञ् भरणे (भ्वादिः); डुभृञ् धारणपोषणयोः (जुहोत्यादिः)। सेनाध्यक्ष का धारण करना तथा उसके सैन्यविभाग की शस्त्रास्त्र आदि द्वारा संपुष्टि करना। कर्शन (कृश तनूकरणे, दिवादिः)। सिंह सदृश="सिंहवच्च पराक्रमेत्" (मनु०), अर्थात् शत्रु को जीतने के लिये सिंह के समान पराक्रम करे[1] यद्यपि युद्ध में पराक्रम सेनाध्यक्ष ने ही करना है, परन्तु सेनाध्यक्ष द्वारा किया गया पराक्रम राजा में ही आरोपित होता है जैसे विजय और पराजय के साधन सेनाध्यक्ष और सैनिक होते हैं, तो भी विजय और पराजय राजा की ही कही जाती है]।

नैनं घ्नन्त्यप्सरसो न गन्धर्वा न मर्त्याः ।
सर्वा दिशो वि राजति यो बिभर्तीमं मणिम् ॥१३॥

(यः) जो राष्ट्रपति-राजा (इमम्) इस (मणिम्) सेनाध्यक्षरूपी पुरुष रत्न का (बिभर्ति) धारण और पोषण करता है, (एनम्) इसका (न अप्सरसः) न तो अन्तरिक्ष विहारिणी शत्रु शक्तियां, (न) न (गन्धर्वाः) पृथिवी का धारण करने वाले अन्य राजा और (न मर्त्याः) न साधारण प्रजाजन (घ्नन्ति) हनन करते हैं। वह (सर्वाः दिशः) सब दिशाओं पर (वि राजति) राज्य करता है।

[अप्सरसः=अप्सारिण्यः, अप्सु सारिण्यः। आपोऽन्तरिक्षनाम (निघं० १।२); अन्तरिक्ष में संचार करने वाली शात्रवी-सेनाएं। गन्धर्वाः=गौः पृथिवी नाम (निघं० १।१), उसका धारण करने वाले राजा]।

कश्यपस्त्वामसृजत कश्यपस्त्वा समैरयत् ।
अबिभस्त्वेन्द्रो मानुषे बिभ्रत् संश्रेषिणेऽजयत् ।
मणिं सहस्रवीर्यं वर्म देवा अकृण्वत ॥१४॥

(कश्यपः) सर्वद्रष्टा परमेश्वर ने [हे मणि! सेनाध्यक्षरत्न!] (त्वां) तुझे (असृजत) सृष्टा है, (कश्यपः) सर्वद्रष्टा परमेश्वर ने (त्वा) तुझे (सम् ऐरयत्) सम्यक्तया [सर्वोपकार के लिये] प्रेरित किया है। (इन्द्रः) सम्राट् ने (मानुषे) मनुष्य प्रजा की [सुरक्षा के निमित्त] (अबिभः) तेरा

१. व्याघ्र=बाघ, चीता। चीता के समान छिप कर शत्रुओं को पकड़े। (सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ६)।

धारण किया है (बिभ्रत्) और धारण करते हुए इन्द्र ने (संश्रेषिणे[1]) युद्ध में, संग्राम में (अजयत्) विजय पाई है। (देवाः) विजिगीषुओं ने (सहस्रवीर्यम्) विविध वीरता से युक्त (मणिम्) सेनाध्यक्षरत्न को (वर्म) अपना कवच (अकृण्वत) किया है।

[कश्यपः=पश्यकः, आद्यन्तविपर्यासः=सर्वद्रष्टा सर्वज्ञ परमेश्वर। परमेश्वर ने सृष्टि के सर्जनकाल में, वेदविधि द्वारा शासन में सेनाध्यक्ष को भी अविभाज्य अंगरूप में घोषित किया है, प्रजा के उपकार के निमित्त। इसे साम्राज्याधिपति भी धारण कर संग्राम में विजय पाता है। विजिगीषुओं ने सेनाध्यक्ष को निज और राष्ट्र की कवच माना है]।

यस्त्वा कृत्याभिर्यस्त्वा दीक्षाभिर्यज्ञैर्यस्त्वा जिघांसति ।
प्रत्यक् त्वमिन्द्र तं जहि वज्रेण शतपर्वणा ॥१५॥

(यः) जो (त्वा) तुझे (कृत्याभिः) घातक सेनाओं द्वारा, (यः त्वा) जो तुझे (दीक्षाभिः) व्रतों द्वारा, (यः त्वा) जो तुझे (यज्ञैः) आभिचारिक-यज्ञों द्वारा (जिघांसति) मारना चाहता है, (तम्) उसे (त्वम्) तू (इन्द्र) हे सम्राट्! (प्रत्यक्) प्रतिमुख करके, (शतपर्वणा) सौ-जोड़ों वाले (वज्रेण) वज्र द्वारा (जहि) मार डाल।

अयमिद् वै प्रतीवर्त ओजस्वान् संजयो मणिः ।
प्रजां धनं च रक्षतु परिपाणः सुमङ्गलः ॥१६॥

(अयम्) यह (मणिः) सेनाध्यक्ष पुरुषरत्न (इद् वै) निश्चय से ही (प्रतीवर्तः) शत्रुसेना को वापिस लौटा देता है, (ओजस्वान्) ओजस्वी है, (संजयः) सम्यक् जेता है। (परिपाणः) सब ओर से रक्षा करने वाला, (सुमङ्गलः) तथा उत्तम मंगलस्वरूप यह (प्रजाम्, धनम्, च) प्रजा और धन की (रक्षतु) रक्षा करे।

असपत्नं नो अधरादसपत्नं न उत्तरात् ।
इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि ॥१७॥

१. जहां सेनाओं का परस्पर श्लेष होता है, मेल तथा दहन होता है; श्लिष श्लेषणे (चुरादिः), तथा श्लिषु दाहे (भ्वादिः)=संग्राम।

(शूर ! इन्द्रः) हे शूर ! सम्राट् ! (अधरात्) दक्षिण से (नः) हम प्रजाजनों को (असपत्नम्) शत्रुरहित (कृधि) कर। (नः) हम प्रजाजनों को (उत्तरात्) उत्तर से (असपत्नम्) शत्रुरहित (कृधि) कर। (नः) हम प्रजाजनों को (पश्चात्) पश्चिम से (असपत्नम्) शत्रुरहित (कृधि) कर (पुरः) पूर्व से शत्रु रहित (कृधि) कर, इस प्रकार हमारे संमुख (ज्योतिः) ज्योति प्रकट कर अर्थात् हमारे जीवन और लक्ष्य अन्धकारमय न हों।

[सेनाध्यक्ष तो शूर होता ही है। सम्राट् को भी शूर होना चाहिये, ताकि साम्राज्य के चहुंदिशि सपत्नों का अभाव हो और प्रजाजनों के संमुख आशा और उत्साह की ज्योति जगमगाती रहे]।

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः।
वर्म म इन्द्रश्चाग्निश्च वर्म धाता दधातु मे ॥१८॥

(द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक (मे) मेरे के लिये (वर्म) कवच हों, (अहः) दिन (वर्म) कवच हो, (सूर्यः) सूर्य (वर्म) कवच हो, (इन्द्रः च) विद्युत् (अग्निः च) और अग्नि (वर्म) कवच हो, (धाता) विधाता परमेश्वर (मे) मेरे लिये (वर्म) अपने-आप को कवचरूप में स्थापित करे।

[मानुष-सपत्नों का अभाव हो जाने पर [मन्त्र ७] सम्राट्, प्राकृतिक शक्तियों और विधाता अपने कवचरूप में स्थापित करने की प्रार्थना विधाता से करता है]।

ऐन्द्राग्नं वर्म बहुलं यदुग्रं विश्वे देवा नाति विध्यन्ति सर्वे।
तन्मे तन्वं त्रायतां सर्वतो बृहदायुष्मां जरदष्टिर्यथासानि ॥१९॥

(यत्) जो (बहुलम्) बहुसुखदायक, (उग्रम्) तथा भयावह (ऐन्द्राग्नम्) सम्राट् और अग्रणी [प्रधानमन्त्री] में परस्पर सहयोग तथा सहकारिता रूप (वर्म) कवच है, उसका (विश्वे देवाः) समग्र विजिगीषु परकीय सैनिक तथा (सर्वे) परकीय सब अधिकारी भी (अति विध्यन्ति न) अतिवेधन नहीं कर पाते। (तत्) वह "ऐन्द्राग्न" वर्म अर्थात् कवच (मे) मेरी (तन्वम्) तनू तथा तनय आदि की (सर्वतः) सब प्रकार से (बृहत् त्रायताम्) महारक्षा करे, (यथा) जिससे कि (आयुष्मान्) दीर्घायुः तथा (जरदष्टिः) जरावस्था को (असानि) मैं प्राप्त हो जाऊं।

[ऐन्द्राग्नम्=यह देवताद्वन्द है, समस्त पद है। इस समस्त पद में इन का परस्पर सहयोग और सहकारिता की भावना अन्तर्गभित अथा अन्तर्भावित है। इन्द्र और अग्नि में से एक-एक कवचरूप नहीं, अपितु इनमें परस्पर मेल ही कवचरूप है। इसी प्रकार की भावना वेदोक्त अन्य "देवताद्वन्द्वों" में भी जाननी चाहिये। यथा "इन्द्रावरुणा" इन्द्र अर्थात् सूर्य और वरुण अर्थात् मेघ में; या इन्द्र अर्थात् सम्राट् और वरुण अर्थात् राजा[1] में; "इन्द्राग्नी" सूर्य और अग्नि में; "इन्द्रासोमा" सूर्य और चन्द्रमा में; "इन्द्रापूषणा" सूर्य और पृथिवी में, या सम्राट् और खाद्य वस्तुओं के अधिकारी में है। इसी प्रकार अन्य "देवताद्वन्द्व" पदों में भी सहयोगिता तथा सहकारिता जाननी चाहिये। बहुलम्=बहु [सुखम्] लाति आदत्ते इति।

देवाः="दिवु क्रीडाविजिगीषा" आदि (दिवादिः)। तन्वम्=राष्ट्र तथा साम्राज्य का प्रत्येक प्रजाजन, निज तनू तथा निज सन्तानों की महारक्षा, तथा दीर्घायुष्या, "ऐन्द्राग्न" वर्म अर्थात् कवच से चाहता है]।

आ मारुक्षद् देवमणिर्मह्या अरिष्टतातये।
इमं मेथिमभिसंविशध्वं तनूपानं त्रिवरूथमोजसे ॥२०॥

(देवमणिः) दिव्यगुणी-मणि अर्थात् पुरुषरत्न सेनाध्यक्ष (मा) मुझ पर (आ अरुक्षत्) आरूढ़ हुआ है, (मह्यै अरिष्टतातये) साम्राज्य या राष्ट्र के महा-अरिष्ट के लिये। (मेथिम्) शत्रुहिंसक (इमम्) इस देवमणि के सैन्य में (अभिसंविशध्वम्) प्रवेश पाओ (ओजसे) साम्राज्य और राष्ट्र के ओजस की समृद्धि के लिये। यह सैन्य (तनूपानम्) तनूओं और सन्तानों का पालक है, और (त्रिवरूथम्) तीन साधनों द्वारा शत्रु का निवारक है।

[मा आरुक्षत्=युद्ध उपस्थित हो जाने पर सम्राट् और राजा को चाहिये कि वह सेनाध्यक्ष के निर्देशानुसार युद्धकार्य में सहयोग दें। यह सेनाध्यक्ष का आरोहण है, राष्ट्रशासन में सर्वोच्चरूप में होता है। अरिष्ट =रिष् हिंसायाम्, तदभावः, अर्थात् साम्राज्य या राष्ट्र का क्षेम। त्रिवरूथम्=पदाती सैनिक, अश्वारोही सैनिक, रथारोही सैनिक, ये तीन साधन हैं शत्रु के निवारण के लिये]।

---

१. इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा (यजु० ८।३७)।

अस्मिन्निन्द्रो नि दधातु नृम्णमिमं देवासो अभिसंविशध्वम् ।
दीर्घायुत्वाय शतशारदायायुष्मान् जरदष्टिर्यथासत् ॥२१॥

(इन्द्रः) सम्राट् (अस्मिन्) इस पुरुषरत्न सेनाध्यक्ष में (नृम्णम्) बल और धन (निदधातु) निधिरूप में स्थापित करे, (देवासः) हे विजिगीषु प्रजाजनों ! (इमम्) इस [के सैन्य] में (अभि संविशध्वम्) तुम प्रवेश पाओ, भर्ती हो जाओ, (दीर्घायुत्वाय) ताकि तुम सब की दीर्घ आयु हो, (शतशारदाय) सौ वर्षों की आयु हो, और यह पुरुषरत्न भी (आयुष्मान्) प्रशस्त और दीर्घ आयु वाला (जरदष्टिः) अर्थात् जरावस्था को (यथा) जिस प्रकार (असत्) प्राप्त हो जाय ।

[युद्धकाल में सम्राट् सेनाध्यक्ष को सब प्रकार की शक्ति प्रदान कर दे, और राजकोष के व्यय करने का अधिकार भी इसे दे दे । शक्तिप्रदान और राजकोष सौंप देने को वह सेनाध्यक्ष निधिरूप समझे जो कि सेनाध्यक्ष में निहित की गई है । प्रजाजनों को चाहिये कि सैन्य में स्वेच्छया भर्ती हों, ताकि प्रजाजन दीर्घायु हों, अर्थात् शत्रु द्वारा १०० वर्षों की आयु से पूर्व मार न दिये जांय, और सेनाध्यक्ष भी सुखी आयु और दीर्घायु प्राप्त कर सके । सैनिकों की यथोचित संख्या के अभाव में प्रजाजन भी मारे जाते हैं, और सेनाध्यक्ष भी मार दिया जाता है । नृम्णम्=बलम्, धनम् (निघं० २।९; २।१०)] ।

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।
इन्द्रो बध्नातु ते मणिं जिगीवाँ अपराजितः सोमपा अभयङ्करो वृषा ।
स त्वा रक्षतु सर्वतो दिवा नक्तं च विश्वतः ॥२२॥

(स्वस्तिदाः) कल्याणप्रद (विशांपतिः) प्रजाओं का पति अर्थात् रक्षक, (वृत्रहा) पापनाशक, या आवरण अर्थात् घेरा डालने वाले शत्रु का हनन करने वाला (विमृधः) संग्रामों से रहित अर्थात् जिसके साथ संग्राम करने वाला कोई शत्रु नहीं रहा, (वशी) सब को वश में किये हुआ, (जिगीवान्) जयशील, (अपराजितः) जो कभी पराजित नहीं हुआ, (सोमपाः) वीर्य-शक्ति की रक्षा करने वाला, (अभयङ्करः) प्रजा को भयरहित करने वाला, (वृषा) सुखवर्षी (इन्द्रः) सम्राट्, (ते) हे [राष्ट्र के राजन्] तेरे

लिये, अर्थात् तेरी रक्षा के लिये तेरे साथ (मणिम्) पुरुषरत्न सेनाध्यक्ष को (बध्नातु) सुदृढ़बद्ध करे । (सः) वह पुरुषरत्न (सर्वतः) सब प्रकार (विश्वतः) तथा सब ओर से (दिवा नक्तम्, च) दिन और रात (त्वा रक्षतु) तुझे सुरक्षित करे ।

[प्रत्येक राष्ट्र के राष्ट्रपति-राजा की सुरक्षा के लिये, साम्राज्य का अधिपति सम्राट्, सेनाध्यक्ष नियत करे । निज सेनाध्यक्ष की नियुक्ति का अधिकार राष्ट्रपति को नहीं । यह अधिकार सम्राट् का है । ताकि उसके राष्ट्रों में कहीं विप्लव हो जाय तो सम्राट् द्वारा नियुक्त सेनाध्यक्ष सम्राट् की आज्ञानुसार उस का शमन कर सके । मृधः संग्रामनाम (निघं० २।१७) । सोम Semen [वीर्य] अथवा बलकारी सोम-रस का पीने वाला] ।

सूक्त ६

विषय-प्रवेश

(१) सूक्त ६ में रोग कीटाणुओं का प्रायः वर्णन हुआ है। रोग कीटाणु =germs।

(२) कीटाणु दो प्रकार के हैं "दुर्णामा" अर्थात् दुष्परिणामोत्पादक, तथा "सुनामाः" अर्थात् उत्तम परिणामोत्पादक (मन्त्र १,४)।

(३) दुर्णामा तथा सुनामा प्रायः गर्भिणी स्त्री जाति विषयक कथित हुए हैं (मन्त्र १, ४)।

(४) कई मन्त्रों में प्रतीत होता है कि उन में दुर्णामा कीटाणुओं तथा कुकर्मी मनुष्यों का गौणमुख्यभाव में युगपत् वर्णन हो रहा है।

(५) स्त्रियों के भी दो अण्ड और अण्डकोष होते हैं [मुष्काभ्याम्] परन्तु अनभिव्यक्तावस्था में (मन्त्र ५)।

(६) रोग कीटाणुओं के विनाशक "वज" और "पिङ्ग" =दो प्रकार के सर्षप (सायण; मन्त्र ६)।

(७) स्त्रियों के स्वाप्निक दोषों का निवारक "वज" (मन्त्र ७)।

(८) यव और पिङ्ग हैं श्वेत और पीत सर्षप (सायण मन्त्र ६, २४), ये स्त्री जाति के रक्षक हैं, स्त्रैण रोगों से बचाते हैं(नीविभार्यौ, मन्त्र २०)।

(९) केशवः=जल, वायु और शरीर में शयन करने वाले कीटाणु (मन्त्र २३)।

(१०) रोग कीटाणु सूर्य के ताप द्वारा नष्ट हो जाते हैं (मन्त्र २४)।

(११) गर्भस्थ पुमान् शिशुपिण्ड को स्त्री शिशुपिण्ड में परिवर्तन करने वाले कीटाणु (मन्त्र २५)।

(१२) पिङ्ग-सर्षप रोग-कीटाणुओं के विनाश में अधिक सहायक (मन्त्र ६, २५)।

(१३) सामाजिक कीटाणुरूप लुटेरों, आततायिओं, और कुकर्मियों के

विनाशार्थ (मन्त्र १४, २१), पिङ्ग अर्थात् कठोर स्वभाव वाले बलवान् पुरुष की नियुक्ति (मन्त्र २१), "इन्द्र" अर्थात् सम्राट् द्वारा (मन्त्र १५)।

(१४) खलों को दण्ड न्यायाधीश द्वारा (मन्त्र १५)।

(१५) व्यभिचारियों को दण्ड निज पत्नी के संभोग से वञ्चित करना (मन्त्र १६)।

(१६) कुकर्मियों को दण्ड "हृदयवेधन" (मन्त्र १८)।

(१७) वज और पिङ्ग की विशेष व्याख्या सूक्त ६ की समाप्ति पर।

(१८) सूक्त ६ में नानाविध, अज्ञातस्वरूप, कीटाणुओं और स्थूल कीटों का वर्णन हुआ है।

सूक्त ६

१-२६ **मातृनामा** । **मन्त्रोक्ताः, मातृनामा, १५ ब्रह्मणस्पतिः** । **अनुष्टुप्; २ पुरस्ताद् बृहती; १० त्र्यवसाना षट्पदा जगती; ११, १२, १४, १६ पथ्या पंक्ति; १५ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्वरी, १७ त्र्यवसाना सप्तपदा जगती ।**

यौ ते॑ मा॒तोन्म॒मार्ज॑ जा॒ताया॑: पति॒वेद॑नौ ।
दु॒र्णामा॒ तत्र॒ मा गृ॑धद॒लिंश॑ उ॒त व॒त्सप॑: ॥१॥

(जातायाः[1]) उत्पन्न हुई के (यौ) जो दो [स्तन], (ते) तेरी (माता) माता ने (उन्ममार्ज[1]) परिमार्जित किये थे, (पतिवेदनौ) जो दो कि पति को प्राप्त करने के लिये हैं, (तत्र) उन में (दुर्णामा) दुर्-नाम या दुष्परिणामोत्पादक (अलिंशः) भ्रमराकृतिक रोगोत्पादक क्रिमि (मा) न (गृधत्) अभिकाङ्क्षा अर्थात् अभिलाषा करे, (उत) तथा (वत्सपः)वत्सप क्रिमि (मा) न (गृधत्) अभिकाङ्क्षा अर्थात् अभिलाषा करे।

[जब "स्त्रीशिशु" उत्पन्न हो तब उसकी माता उस के दोनों स्तनों का विशेषरूप में शुद्ध जल द्वारा परिमार्जन करे, शुद्ध करे। "स्त्री शिशु" के दो

---

१. "जाता" के स्तनों का परिमार्जन जातकर्म संस्कार का एक अङ्ग है।

स्तन उस के भावी पति के सूचक हैं। ये दो स्तन उत्पन्न शिशु के स्तन्यपान के लिये हैं। स्तन्यपान के लिये, शिशु की सत्ता चाहिये, और शिशु की सत्ता के लिये शिशु की माता का पति चाहिये। इस प्रकार स्त्री के दो स्तन पति को प्राप्त करने के लिये हैं—यह कथन समुचित ही है। पुरुष और स्त्री में अङ्गों का भेद उन के परस्पर सम्बन्ध का सूचक है, अन्यथा यह भेद निष्प्रयोजन होगा। इन दो स्तनों में रोगोत्पादक कीटाणु अर्थात् germs, दो हैं। एक का नाम है "अलिश" और दूसरे का नाम है "वत्सप"। ये दोनों दुर्नामा हैं, दुष्परिणामों के उत्पादक हैं। "अलिश" का अभिप्राय सायणाचार्य के अनुसार है "अलयो भ्रमराकारेण वर्तमाना केचन रोगाः, तदभिमानिदेवाः वा"। अर्थात् अलि हैं भ्रमराकृति वाले रोग, या रोगों के उत्पादक जन्तु अर्थात् "रोगकीटाणु"। यह भ्रमराकृतिक रोग "कैंसर" प्रतीत होता है। इस रोग के उत्पादक जन्तु की आकृति cancer अर्थात् केंकड़े-जन्तु के सदृश होती है, जिसे सायणाचार्य ने भ्रमराकृतिक कहा है। अलिश पद "अलि" और "श" का रूप है। "अलि" अर्थात् भ्रमर की आकृति में "श" शयन करने वाला। अलिश-कीटाणु रक्त में कुछ काल तक शयन करता रहता है, अज्ञातावस्था में रहता है, और कालान्तर में रोग उत्पन्न कर देता है। "वत्सप" भी दुर्नामा कीटाणु है। वत्सप का अभिप्राय है "वत्स" द्वारा पेय दुग्ध को पी जाने वाला। "वत्सप" कीटाणु, माता के स्तन्य [दुग्ध] को पैदा नहीं होने देता। अतः यह वत्सप है। इस सूक्त में नानाविध कीटाणुओं का वर्णन है, जिन के स्वरूपों और रोगोत्पादन की शक्तियों का अनुसन्धान अपेक्षित है। अथर्ववेद में रोगकीटाणुओं को "क्रिमि" कहा है (२।३१।१-५; २।३२।१-६)। अलिश=अलिश (सायण)]।

पुलालानुपलालौ शर्कुं कोकं मलिम्लुचं पुलीजकम्।
आश्रेषं वव्रिवाससमृक्षग्रीवं प्रमीलिनम् ॥२॥

(पलालानुपलालौ) पलाल और अनुपलाल को, (शर्कुम्, कोकम्) शर्कु और कोक के (मलिम्लुचम्, पलीजकम्) मलिम्लुच और पलीजक को, (आश्रेषम्) आश्रेष को, (वव्रिवाससम्, ऋक्षग्रीवम्, प्रमीलिनम्) वव्रिवासस ऋक्षग्रीव, प्रमीली को [हम नष्ट करते हैं]।

["पलाल" आदि रोगकीटाणुओं के नाम हैं। पदों के धात्वर्थ निम्नलिखित किये हैं। पलाल का अर्थ है तिनके, और अनुपलाल है भूसा। इनकी आकृति वाले या इन की तरह अतितुच्छ रोगकीटाणु। अथवा इनके सड़ने गलने से उत्पन्न रोगकीटाणु। शर्कु[1]=शर् शर् ऐसा शब्द करने वाला (सायण) कोक=चक्रवाक की आकृति वाला या बलादि का संहार करने वाला 'कृक वृक आदाने (भ्वादिः)। मलिम्लुच=अत्यन्त मलिन। पलीजकम्=पल्या पलितेन चकते इति, अर्थात् केशों को पलित अर्थात् सफेद कर देने वाला। आश्रेष=आश्लेषण अर्थात् सम्पर्क द्वारा दुःखदायक। वव्रिवाससस=गहरे कूपों या गड्ढों में निवास करने वाला। ऋक्षग्रीव=बन्दर विशेष की गर्दन के सदृश गर्दन वाला। प्रमीली अर्थात् आंखों को अन्धा कर देने वाला या क्षण-क्षण में झपकाने वाला रोगकीटाणु। सायणाचार्यकृत अर्थों के आधार पर अर्थ किये हैं।

मा सं वृतो मोप सृप ऊरू माव सृपोऽन्तरा।
कृणोम्यस्यै भेषजं बजं दुर्णामचातनम् ॥३॥

[हे दुर्नामारोग [मन्त्र १] या रोगकीटाणु!] (ऊरू अन्तरा) दो ऊरुओं के मध्य (मा संवृतः) संकोचन न कर, (मा उपसृपः) अर्थात् न [योनि] के समीप आस-पास सर्पण कर, (मा अव सृपः) न ऊरुओं से नीचे की ओर सर्पण कर। (अस्यै) इस स्त्री के लिये (दुर्णामचातनम्) दुर्नाम रोगनाशक (बजम्, भेषजम्) बजनाम वाली औषध (कृणोमि) मैं करता हूं।

[स्त्री की योनि के समीप और टांगों में सर्पण करने वाले रोग तथा रोग कीटाणु की ओषधि है बज। कौशिक सूत्र में बज को सर्षप अर्थात् "सरसों" कहा है]।

दुर्णामा च सुनामा चोभा संवृतमिच्छतः।
अरायानप हन्मः सुनामा स्त्रैणमिच्छताम् ॥४॥

(दुर्णामा च सुनामा च) दुर्णामा और सुनामा रोगकीटाणु (उभा) दोनों (संवृतम्) अङ्ग का संकोचन [करना] (इच्छतः) चाहते हैं। (अरायान्) शत्रुरूप, अरातिरूप रोगकीटाणुओं का (अप हन्मः) हम हनन करते हैं,

१. शराकृतिक अथवा हिंसाकारी (शॄ हिंसायाम्), अथवा शर्+कु; कुत्सित हिंसाकारी, आद्यन्त विपर्यास आदि। शर्कोट? (अथर्व० ७।५८।५)।

(सुनामा) सुखदायक कीटाणु (स्त्रैणम्) स्त्री के अङ्ग विशेष को (इच्छताम्) चाहे ।

[इच्छतः,[1] इच्छताम्[1] द्वारा दोनों प्रकार के कीटाणुओं को चेतनसदृश दर्शाया है । इच्छताम् में व्यत्यय से आत्मनेपद है । दुर्णामा तो रोगोत्पादक है, और सुनामा स्त्री के लिये स्वास्थ्यकारी[2] है] ।

यः कृष्णः केश्यसुर स्तम्बज उत तुण्डिकः ।
अरायानस्या मुष्काभ्यां भंससोप हन्मसि ॥५॥

(यः) जो (कृष्णः) काला (केशी) रोमों वाला, (असुरः) प्राणवान् अर्थात् शक्तिमान् [रोगकीटाणु है] (स्तम्बजः) झाड़ियों में पैदा हुआ (उत) तथा (तुण्डिकः) अल्पमुख वाला [रोगकीटाणु है]; (अरायान्) उन शत्रुरूप, अरातिरूप कीटाणुओं को (अस्याः) इस स्त्री के (मुष्काभ्याम्) दोनों अण्डकोशों से, (भंससः) तथा कटिप्रदेश [योनि] से (अप हन्मसि) हम अलग करते हैं और मार देते हैं ।

[मुष्काभ्याम् = स्त्रियों के भी दो अण्डकोश होते हैं, परन्तु वे छिपे हुए, अनभिव्यक्तावस्था में रहते हैं । वे समय पाकर अभिव्यक्तावस्था में भी कभी-कभी प्रकट हो जाते हैं] ।

अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं क्रव्यादमुत रेरिहम् ।
अरायांछ्वकिष्किणो बजः पिङ्गो अनीनशत् ॥६॥

(अनुजिघ्रम्) सूंघने द्वारा हिंसक को (प्रमृशन्तम्) स्पर्शमात्र द्वारा हिंसक को, (क्रव्यादम्) शरीर के मांस को खा जाने वाले को, (उत) तथा (रेरिहम्) अतिहिंसक को (श्वकिष्किणः) कुत्ते के सदृश झपटने वालों को (अरायान्) इन सब शत्रुओं को, या दुर्भग रोगकीटाणुओं को (पिङ्गः) पीला (बजः) अर्थात् वज [सर्षप] (अनीनशत्) नष्ट करता है ।

१. इच्छा होने से दुर्णामा और सुनामा रोगकीटाणु हैं, चेतन सदृश हैं ।

२. दुर्णामा स्वस्थ शरीर को सुखा कर मांस को संकुचित करता है, और सुनामा, प्रसूतिकाल के हुए योनिविस्तार को संकुचित करता है, यह अभिप्राय प्रतीत होता है ।

[किष्किणः = कण गतौ (भ्वादिः) । रेरिहम् = रिह हिंसायाम्, इत्येके (तुदादिः) । वजः = सर्षप, सरसों (कौशिकसूत्र) । अरायान् अरातिरूप = अ + राय (ऐश्वर्य) तद्रहितान् = दुर्भगान् । क्रव्यादम् = जो शरीर के मांस को खा जाता है, शरीर को सुखा देता है] ।

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च ।
बजस्तान्त्सहतामितः क्लीबरूपांस्तिरीटिनः ॥७॥

[हे स्त्री !] (भ्राता भूत्वा) भाई की तरह हो कर (च) और (पिता इव) पिता की तरह होकर, (यः) जो (स्वप्ने) स्वप्नावस्था में (त्वा) तुझे (निपद्यते) [कामवासना से] प्राप्त होता है, (तान्) ऐसे उन सब (क्लीबरूपान्) नपुंसकरूपी, (तिरीटिनः) टेढ़ी अर्थात् कपट चालों वालों को, (इतः) इस तेरे मस्तिष्क से, (बजः) वज [सर्षप] (सहताम्) पराभूत कर दे ।

[मन्त्र में स्वप्नावस्था के दृश्य का वर्णन है । कामवासना सर्वप्राणिसाधारण है । यह मानुषपुरुषों तथा मानुषस्त्रियों में भी है । स्वप्नावस्था में जैसे पुरुषों में कामवासना उद्बुद्ध हो जाती है वैसे स्त्रियों में भी उद्बुद्ध हो जाती है । स्वप्न में उद्बुद्ध घटनाएं वास्तविक नहीं होतीं । वे प्रायः उल्टी-पुल्टी होती हैं । स्त्री को पहले तो स्वप्न हुआ कि भाई और पिता आए हैं परन्तु स्वप्नावस्था में वे कामी-कपटी पुरुषों के रूप में बदल गए । ऐसी स्वाप्निक मस्तिष्कावस्था को स्वस्थ करने के लिये वज-औषध का विधान मन्त्र में हुआ है । स्वप्नावस्था में प्राप्त ऐसे काल्पनिक व्यक्तियों को क्लीब कहा है, जोकि वस्तुतः भोग करने में अशक्त होते हैं, शक्तिविहीन होते हैं । इस प्रकार की अवस्था को आपन्न हुए अर्जुन को भी गीता में क्लीब कहा है । यथा "क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत् त्वय्युपपद्यते" (गीता अध्याय २, श्लोक ३) । तिरीटिनः = तिरस् (कुटिल) + इट (गतौ) + इन् । मन्त्र में स्वाप्निक रोग के विनाश का वर्णन हुआ है] ।

यस्त्वा स्वपन्तीं त्सरति यस्त्वा दिप्सति जाग्रतीम् ।
छायामिव प्र तान्त्सूर्यः परिक्रामन्ननीनशत् ॥८॥

[हे स्त्री !] (स्वपन्तीम् त्वा) सोती हुई तुझ को (यः) जो पुरुष (त्सरति) छद्मगति से प्राप्त होता है, (यः) और जो (जाग्रतीं त्वा) जागती हुई तुझ को (दिप्सति) दम्भपूर्वक दबाना चाहता है (तान्) ऐसे उन सब को (अनीनशत्) वज-औषध ने विनष्ट कर दिया है, (इव) जैसे कि (परिक्रामन्) आकाश में परिभ्रमण करता हुआ (सूर्यः) सूर्य (छायाम्) छाया अर्थात् अन्धकार को (अनीनशत्) नष्ट कर देता है।

[त्सरति=त्सर छद्मगतौ (भ्वादिः)। स्वप्नावस्था की वासनाओं के सम्बन्ध में वर्णन मन्त्र (७) में हुआ है। जाग्रदवस्था में भी वासनाएं उद्बुद्ध हो कर व्यक्ति को दूषित करती रहती हैं, वे भी छाया के सदृश अवास्तविक होती हैं। उन का भी विनाश वज-औषध कर देता है]।

यः कृणोति॑ मृ॒तव॑त्सा॒मव॑तोका॒मि॒मां स्त्रिय॑म् ।
तमो॑षधे॒ त्वं ना॑शया॒स्याः क॒मल॑म॒ञ्जि॒वम् ॥९॥

(यः) जो (इमाम्, स्त्रियम्) इस स्त्री को (मृतवत्साम्) गर्भ में ही मरे बच्चे वाली अथवा (अवतोकाम्) गर्भपात वाली (कृणोति) कर देता है, (अस्याः) इस स्त्रीसम्बन्धी (तम्) उस [रोगकीटाणु, germs] को (ओषधे) हे ओषधि ! (त्वम्) तू (नाशय) नष्ट कर [जैसे कि] (अञ्जिवम्) अभिव्यक्त अर्थात् पुष्पित (कमलम्) कमल को [तुषार नष्ट करता है]।

[अवतोकाम्=अव (अवस्तात्), तोकम् (पुत्रः) यस्याः, ताम्। मन्त्र में ओषधि का नाम नहीं दिया। सम्भवतः "वज" अभिप्रेत हो। अञ्जिवम्=अञ्जिः (अभिव्यक्तिः)+वम् (तद्धितप्रत्ययः)]।

ये शाला॑ः परिनृ॒त्यन्ति॑ सा॒यं ग॑र्दभना॒दिन॑ः ।
कु॒सू॒ला ये च॑ कुक्षि॒लाः क॑कु॒भाः क॒रु॒माः स्रिमा॑ः ।
तानो॑षधे॒ त्वं ग॒न्धेन॑ विषू॒चीना॒न् वि ना॑शय ॥१०॥

(ये) जो कीट (गर्दभनादिनः) गदहों की तरह नाद करते हुए (सायम्) सायंकाल (शालाः) शालाओं के (परि) सब ओर (नृत्यन्ति[1]) नाच करते हैं। तथा (ये च) और जो (कुसूल आदि) कुसूल, कुक्षिल, ककुभ, करूप, स्रिम नामक कीट हैं (तान्) उन (विषूचीनान्) सब ओर गति करने वालों को (ओषधे) हे ओषधि ? (त्वम्) तू (गन्धेन) निज गन्ध द्वारा (विनाशय) विनष्ट कर।

[सायंकाल शालाओं में नाद करने वाले विशेषतया मच्छर होते हैं। इन के नाद कानों को कटु अनुभूत होते हैं, अतः घृणा की दृष्टि से इन्हें "गर्दभनादिनः" कहा है। गर्दभ का नाद कर्णकटु होता है। कुसूल आदि नाम भिन्न-भिन्न कीटों के हैं, जो कि सायंकाल प्रकट हो जाते हैं। इन कीटों या क्रिमियों के लिये देखो अथर्व० (२।३१।१-५; २।३२।१-६)। इन में से मच्छरों का विनाश ओषधि के गन्ध द्वारा दर्शाया है। ओषधि को अग्नि में जला कर उस के धूम[1] द्वारा इन मच्छरों के विनाश का विधान किया है। इस से प्रतीत होता है कि ये सब कीट रोगकीटाणु [germs] ही नहीं हैं। ओषधि का नाम तो मन्त्र में नहीं दिया। सम्भवतः ओषधि कृष्ण और-पिङ्ग [पीत] वज ही है। वज=सरसों के दाने। अथर्व० (४।३७।२) में "अजशृङ्गी" ओषधि का नाम पठित है जिस के गन्ध द्वारा रक्षः आदि का विनाश कहा है]।

ये कु॒कुन्धा॑ः कु॒कूर॑भाः कृत्ती॒र्दूर्शा॑नि॒ बिभ्र॑ति ।
क्ली॒बा इ॑व प्र॒नृ॒त्यन्तो॒ वने॒ ये कु॒र्वते॒ घोषं॒ तानि॒तो ना॑शयामसि ॥११॥

(ये) जो (कुकुन्धाः, कुकूरभा) कुत्सित गतियों को धारण करने वाले तथा कुकूर अर्थात् कुक्कुरों, कुत्तों के सदृश भासित होने वाले व्याघ्र आदि, (दूर्शानि=दूषणीयानि, सायण) दूषणीय (कृत्तीः) चमड़ों को (बिभ्रति) धारण करते हैं, और (ये) जो (क्लीबाः इव) मानो उन्मत्तों के सदृश (प्रनृत्यन्तः) नृत्य करते हुए (वने) वन में (घोषम्) अव्यक्त शब्द (कुर्वते) करते हैं, (तान्) उन्हें (इतः) इस वन से (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं।

[वनों में निवास करने वाले वानप्रस्थी तथा वनवासो, श्वापदों तथा मच्छर आदि का विनाश करते हैं]।

---

१. रात में मच्छर नाद करते हुए इधर-उधर उड़ते हैं। मानो वे गाते हुए नृत्य करते हैं।

१. यथा "मशकार्थो धूमः"।

ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः ।
अरायान् बस्तवासिनो दुर्गन्धींल्लोहितास्यान् मककान् नाशयामसि ॥१२॥

(ये) जो (दिवः) द्युलोक से (आतपन्तम्) सर्वत्र ताप करते हुए (अमुं) इस (सूर्यम्) सूर्य को (न तितिक्षन्ते) नहीं सह सकते, उन (अरायान्) अरातियों दुश्मनों को, जोकि (बस्तवासिनः) भेड़ के चमड़े की वास वाले, (दुर्गन्धीन्) दुर्गन्ध वाले, तथा (लोहितास्यान्) खूनी मुखों वाले (मककान्) मकक[1] नामक श्वापद हैं, उन्हें (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं ।

[यह मन्त्र भी वानप्रस्थियों तथा वनवासियों सम्बन्धी है। श्वापद सूर्य के प्रकाश को नहीं सह सकते, अतः ये दिन के समय छिपे रहते हैं। श्वापदों के शरीरों से दुर्गन्ध आती है। शिकार को खाने से इन के मुख रक्त से लिपे रहते हैं। इन श्वापदों को मन्त्र में मकक कहा है] ।

य आत्मानमतिमात्रमंस आधाय बिभ्रति ।
स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय ॥१३॥

(ये) जो (अतिमात्रम्) अतिपरिमाण वाले (आत्मानम्) स्वकीय अङ्ग को, (अंसे) निज कन्धे पर (आधाय) रख कर (बिभ्रति) निज भरण-पोषण करते हैं, तथा जो (स्त्रीणाम्) स्त्रियों के (श्रोणिप्रतोदिनः) कटि प्रदेश को व्यथित कर देते हैं, (इन्द्र) हे इन्द्र! (रक्षांसि) उन राक्षस-स्वभाव वाले कीटों तथा कीटाणुओं का तू (नाशय) नाश कर ।

[मन्त्र के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के प्रतिपाद्य विषय पृथक्-पृथक् हैं। पूर्वार्ध में अतिमात्रम् का अर्थ है "अतिस्थूलम्" (सायण) । अतिस्थूल कीट तो सम्भव है परन्तु कीटाणु नहीं । यह कीट "अलगण्डु" प्रतीत होता है, अथर्व० (२।३१।२,३) । "अलगण्डु" में "अल्" का अर्थ है "भूषण" और "गण्डु[2]" का अर्थ है "फफोला" । इस कीट की पीठ पर एक सफेद फफोला[2]

१. मककान् = मा + ककान्; कक लौल्ये (भ्वादिः), लौल्य = चञ्चलता । श्वापद दिन में सूर्य के प्रकाश में छिपे रहते हैं, चञ्चल अर्थात् चलते नहीं, विचरते नहीं, । लौल्य = Roam about (आप्टे) ।

२. यह फफोला ही इस का भूषण है, शिरोभूषण है। गण्ड = Bubble, swelling, pimple (आप्टे) ।

अर्थात् फूली हुई एक ग्रन्थि होती है जो कि कीट के स्कन्धप्रदेश तक फैली होती है, "अंस" तक फैली होती है। यह कीट देखने में अति घृणित होता है। सम्भवतः इसलिये इस के हनन का कथन मन्त्र में हुआ है। यह कीट कभी-कभी घरों में, शौचालयों में दृष्टिगोचर हो जाता है। मन्त्र के उत्तरार्ध रोगकीटाणुओं का वर्णन है, जो कि स्त्रियों के कटिप्रदेश को व्यथित कर देते हैं "तोदिनः" तुद व्यथने (तुदादिः) । "श्रोणि" पद "स्त्रीयोनि" वाचक प्रतीत होता है, जिसे कि कटिप्रदेश द्वारा सूचित किया है। इन्द्र का अर्थ सूर्य नहीं । इन्द्र है सम्राट्, यथा "इन्द्रश्च सम्राट्" (यजु० ८।३७) । साम्राज्य में सम्राट् का कर्तव्य है कि वह प्रजा के रोग निवारण तथा स्वास्थ्य का प्रबन्ध करे, तथा दुष्टाचारियों का नियन्त्रण करे, यथा (मन्त्र १४-१७)] ।

ये पूर्वे वध्वो३ यन्ति हस्ते शृङ्गाणि बिभ्रतः ।
आपाकेष्ठाः प्रहासिन स्तम्बे ये कुर्वते ज्योतिस्तानितो नाशयामसि ॥१४॥

(ये) जो [आततायी] (हस्ते) हाथों में (शृङ्गाणि) जलती-मशालों को (बिभ्रतः) धारण करते हुए [वधू के मार्ग पर] (वध्वः पूर्वे) वधू से पहले (यन्ति) पहुंच जाते हैं, तथा (प्रहासिनः) उपहास अर्थात् वधू पर ठठा-मखौल करते हुए (अपाकेष्ठाः) पाकशाला में आ खड़े होते हैं, और (ये) जो (स्तम्बे) झाड़ियों में (ज्योतिः कुर्वते) आग लगादेते हैं (तान्) उन्हें (इतः) इस पृथिवी से (नाशयामसि) हम नष्ट कर देते हैं ।

[शृङ्गाणि ज्वलतो नाम (निघं० १।१७) । वधू के विवाह में माता-पिता आदि वधू को स्त्रीधन देते हैं, तथा नाना आभूषण और वस्त्र प्रदान करते हैं। वधू, पितृगृह से जब पतिगृह जाने वाली होती है तो लुटेरे-आततायी वधू के मार्ग पर पहले पहुंच कर, मशालों द्वारा मार्गस्थ झाड़ियों में आग लगा कर वधू का मार्ग रोक कर, स्त्रीधन को लूट लेते हैं, और वधूगृह की पाकशाला में घुस कर पाकशाला में पहुंची वधू का उपहास कर, और उपहास द्वारा उसे प्रकुपित कर पहिने आभूषणों को लूटने का यत्न करते हैं, ऐसों के नाश करने का विधान मन्त्र में हुआ है। मनु ने भी कहा है कि "आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्" अर्थात् आततायी

को आते देख कर सोच-विचार के विना ही उस का हनन कर दे। आततायिओं में मनु ने "अग्निदः गरदः" का भी परिगणन किया है। मन्त्र में "अग्निदः" का वर्णन "हस्ते शृङ्गाणि बिभ्रतः" द्वारा हुआ है। ऐसे "सामाजिक-मानुष कीटों" के हनन की विधि मन्त्र में कही है]।

येषां पश्चात् प्रपदानि पुरः पार्ष्णीः पुरो मुखाः।
खलजाः शकधूमजा उरुण्डा ये च मट्मटाः कुम्भमुष्का अयाशवः।
तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतीबोधेन नाशय ॥१५॥

(येषाम्) जिन के (प्रपदानि) पादाग्र प्रदेश (पश्चात्) पीछे की ओर, और (पार्ष्णीः) एड़ियां (पुरः) आगे की ओर हैं, (पुरः मुखाः) और मुख पुरस्तात् अर्थात् आगे की ओर हैं। (खलजाः) जो खलों के परिवारों में पैदा हुए हैं, (शकधूमजाः) पशुओं के शकृत् अर्थात् गोबर के धूम्र से धूमिल गृहों में पैदा हुए हैं, (उरुण्डाः) और उरु अण्डों वाले हैं, (ये च) और जो (मट्मटाः)मटक-मटक कर चलते या शृङ्गार से विभूषित [मडि भूषायाम्] हुए [चलते हैं] (कुम्भमुष्काः) जो कुम्भ[1] सदृश अण्डकोशों वाले हैं (अयाशवः) आशु गतिवाले हैं (ब्रह्मणस्पते) हे वेदज्ञ! [न्यायाधीश] (अस्याः) इस स्त्री सम्बन्धी (तान्) उन्हें (प्रतीबोधेन) उनके अपराधों का बोध करा कर (नाशय) नष्ट कर।

[इस मन्त्र में भी लुटेरों आदि का वर्णन है जो कि "सामाजिक मानुष-कीट" हैं। "प्रपद पीछे की ओर, और एड़ियां आगे की ओर द्वारा" इन की उल्टी चालों का कथन हुआ है। तथा "पुरोमुखाः" द्वारा यह दर्शाया है कि ये उल्टी चालें चलते हुए निज स्वार्थ साधन के लिये, दृष्टि को आगे की ओर करके चलते हैं। खलजाः; खलः[2]=A wicked mischierous(आप्टे) "सर्पः क्रूरः खलः क्रूरः सर्पात् क्रूरतरः खलः"। "शकधूमजाः" द्वारा गरीबी सूचित की है। कुम्भमुष्काः द्वारा शारीरिक बल सूचित किया है। "अयाशवः"=अय (गतौ)+आशु। हिन्दी में "अय्याश" स्वभाव वाले। "ब्रह्मणस्पते" द्वारा उग्रदण्ड को, ब्रह्मज्ञ अर्थात् वेदज्ञ [न्यायाधीश] द्वारा अनुमोदित दर्शाया है]।

---

१. इस द्वारा पूर्ण यौवनावस्था सूचित की है। जैसे पूर्णब्रह्मचारी को "बृहच्छेपः" कहा है (अथर्व० ११।७।११)।

२. यथा "विद्या विवादाय धनं मदाय। शक्तिः परेषां परिपीडनाय" खलस्य।

पर्यस्ताक्षा अप्रचङ्कशा अस्त्रैणाः सन्तु पण्डगाः।
अव भेषज पादय य इमां संविवृत्सत्यपतिः स्वपतिं स्त्रियम् ॥१६॥

(पर्यस्ताक्षाः) इधर-उधर के विषयों में आंखे भटकाने वाले, (अप्रचङ्कशाः) अप्रशस्त गति वाले दुराचारी, या शासनविरोधी विप्लवकारी, (षण्डगाः) हिजड़ों के सदृश चालों वाले (अस्त्रैणाः सन्तु) निज स्त्रियों से विरहित कर दिये जांय। (यः) जो (अपतिः) पति न होता हुआ (स्वपतिं इमाम्, स्त्रियम्) निज पति वाली इस स्त्री के साथ (सं विवृत्सति) संवर्तन अर्थात् संभोग चाहता है उसे (भेषज) हे दण्डव्यवस्थारूपी औषध! तू (अवपादय) अवाङ्मुख करके पटक दे। रोगपक्ष में स्त्रीकीटों को नरकीटों से पृथक् कर देना चाहिये। ताकि नए कीट उत्पन्न न हों।

[अप्रचङ्कशाः=अप्र (अप्रशस्त) चङ्कशाः गति वाले, (कश गतिशासनयोः अदादिः, यङ्लुगन्त)। अथवा अ (विरोधे) प्रचङ्कशाः (कश शासने)= प्रकर्षरूप में शासनविरोधी, विप्लवकारी। षण्डगाः=क्लीब सदृश गति-वाले, व्यवहार वाले परस्त्रीभोगियों को निज स्त्रियों से रहित करके उन्हें संभोगशून्य कर देना चाहिये। मन्त्र में वज, पिङ्ग का कथन नहीं केवल भेषज पद है]।

उद्धर्षिणं मुनिकेशं जम्भयन्तं मरीमृशम्।
उपेषन्तमुदुम्बलं तुण्डेलमुत शालुडम्।
पदा प्र विध्य पार्ष्ण्या स्थालीं गौरिव स्पन्दना ॥१७॥

(उद्धर्षिणम्) अति धृष्ट, (मुनिकेशम्) प्रवञ्चन के निमित्त मुनिवत् केशधारी (जम्भयन्तम्) हिंसाशील, (मरीमृशम्) पुनः पुनः [संभोगार्थ स्त्रियों से] परामर्श करने वाले (उपेषन्तम्) उन की समीपता चाहने वाले, (उदुम्बलम्) उग्र बल प्रयोगकारी बलात्कारो (तुण्डेलम्) मुख को बहु प्रेरित करने वाले अर्थात् बहुत बकवास करने वाले (शालुडम्)तथा अपराध कर के निज संवरण करने वाले, छिप जाने वाले को (पदा) पैरों द्वारा (प्रविध्य) ठुकरा कर फैंक दे (इव)जैसे कि (स्पन्दना) उछलने-कूदने वाली (गौः) गौ (पार्ष्ण्या) अपने पिछले पैर द्वारा (स्थालीम्) दूध दोहने के पात्र को ठुकरा कर फैंक देती है।

[उपेषन्तम्=उप+इषु इच्छायाम् (तुदादिः)। तुण्डेलम्=तुण्ड (मुख) +इल प्रेरणे (चुरादिः)। (शालुढम्=शल संवरणे (भ्वादिः) संवरणम्= Hiding covering (आप्टे)। अथवा शलम् संवरणं वहतीति। शल्+ वह (ऊठ्)]।

यस्ते गर्भं प्रतिमृशाज्जातं वा मारयाति ते ।
पिङ्गस्तमुग्रधन्वा कृणोतु हृदयाविधम् ॥१८॥

(यः) जो (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भस्थ शिशु को (प्रतिमृशात्) पीडित करे, (जातम्, वा) अथवा पैदा हुए (ते) तेरे बच्चे को (मारयाति)मार दे, (तम्) उसे (उग्रधन्वा) उग्र-धनुष् वाला (पिङ्गः) पिङ्ग पुरुष [मन्त्र २१] (हृदयाविधम्, कृणोतु) हृदय में विद्ध कर दे।

[कामुक-पुरुष का वर्णन है, जो कि गर्भिणी के साथ बलात्कार कर के गर्भस्थ बच्चे को पीड़ित करता है, और संभोग के कारण कोई बच्चा पैदा होता है तो उसे मार देता है, ताकि भोगी का अपयश न हो। ऐसे पुरुष को बाण द्वारा हृदयाविध करा देना चाहिये। सायणाचार्य ने "पिङ्ग" का अर्थ किया है "पीतसर्षप"। इस अर्थ में मन्त्र के पूर्वार्ध में रोगकीटाणु का वर्णन कविता में जानना चाहिये]।

ये अम्नो जातान् मारयन्ति सूतिका अनुशेरते ।
स्त्रीभागान् पिङ्गो गन्धर्वान् वातो अभ्रमिवाजतु ॥१९॥

(ये) जो (अम्नः जातान्) रुग्णावस्था में पैदा हुए शिशुओं को (मारयन्ति) मार देते हैं, तथा (सूतिका,) अभिनव प्रसवा स्त्रियों के (अनु शेरते) संग शयन करते हैं, (स्त्रीभागान्) स्त्रीसेवी उन (गन्धर्वान्) सुगन्ध लगाए हिंसकों को (पिङ्गः) पिङ्ग [मन्त्र २१] पुरुष (अजतु) सामाजिक जीवन से प्रक्षिप्त करदे, पृथक् करके (इव) जैसे कि (वातः) प्रबल वायु (अभ्रम्) मेघ को अन्तरिक्ष से पृथक् कर देती है।

[गन्धर्वान्=गन्ध+अर्व (हिंसायाम्, भ्वादिः)। अम्नः=अम रोगे (चुरादिः)]।

परिसृष्टं धारयतु यद्धितं माव पादि तत् ।
गर्भं त उग्रौ रक्षतां भेषजौ नीविभार्यौ ॥२०॥

(परिसृष्टम्) सृष्ट अर्थात् पैदा हुए शिशु का [माता] (धारयतु) धारण-पोषण करे, (यत्) जो (हितम्) गर्भ में निहित हुआ है (तत्) वह (मा) न (अवपादि) नीचे गिरे, अर्थात् उस का गर्भपात न हो। (उग्रौ भेषजौ) दो उग्र भेषज, (नीविभार्यौ) जो कि अधोवस्त्र में धारण करने योग्य हैं,—(ते) तेरे (गर्भम्) गर्भ को (रक्षताम्) सुरक्षित करें।

[माता को शिशु की सुरक्षार्थ परामर्श दिया है। नीविः=स्त्री के कटि प्रदेश का वस्त्र, या इस वस्त्र के प्रान्त भागों को परस्पर बान्धने की गांठ। भेषजौ=श्वेतपीतोभयविधौ सर्षपौ (सायण)। भार्यौ=भृञ् धारण-पोषणयोः]।

पवीनसात् तङ्गल्वाइच्छायकादुत नग्नकात् ।
प्रजायै पत्ये त्वा पिङ्गः परि पातु किमीदिनः ॥२१॥

(पवीनसात्) वज्रधारी द्वारा विनाश से, (तङ्गल्वात् सायकात्) तीव्र-गति से छेदन करने वाले वाण से, (उत) तथा (नग्नकात्) भूखे-नङ्गे[1] से, (किमीदिनः) पिशुन व्यक्ति से, [हे गर्भवती स्त्री!] (प्रजायै पत्ये) सन्तानलाभ के लिये तथा पति की प्रसन्नता के लिये (पिङ्गः) "पिङ्ग" पुरुष (त्वा परिपातु) तुझे सब प्रकार से सुरक्षित करे। तङ्गल्वात्=तगि गत्यर्थः (भ्वादिः)+लूञ् छेदने।

[यथासम्भव मन्त्रपदों के यौगिकार्थ के द्वारा कुछ बुद्धिगम्य अर्थ किया है। सूक्त में सर्षप द्वारा शारीरिक रोगों का भी उपचार विहित है, और "पिङ्ग", पद द्वारा नागरिकों की सुरक्षा का भी वर्णन सूक्त में यत्र तत्र मिलता है। "राज द्वारा-नियुक्त सुरक्षावर्ग है, यह नागरिक पुलिस [स्पशाः] सदृश है। "पिङ्ग" शब्द "पिजि" धातु द्वारा निष्पन्न है जिस का अर्थ "बलादान" भी है (चुरादिः)। अतः "पिङ्गः" का अभिप्राय है

१. भूखे नंगों द्वारा धनप्राप्ति के लिये, आक्रमण की सम्भावना रहती है। अतः नग्नकात् का वर्णन हुआ है।

"बली"। नागरिक रक्षकों को बलवान् होना ही चाहिये। ये शारीरिक शक्ति तथा शस्त्रास्त्रशक्ति द्वारा बलवान् होने ही चाहियें। इस दृष्टि से मन्त्र (१८) में "पिङ्ग" को "उग्रधन्वा" अर्थात् उग्र-धनुष् वाला कहा है। "किमीदिने" का अर्थ निरुक्त में "पिशुनाय" किया है। पिशुन मनुष्य होते हैं रोगकीटाणु नहीं। इस से भी यह प्रतीत होता है कि मन्त्र (२१) में प्रजादुःखदायक "मनुष्यों" का ही वर्णन है जिन से गर्भिणी की रक्षा करनी है (निरुक्त ६।३।१२; पद ४४)। पवीनसात्=पवीनशात्। शकार को सकार "वर्णविकार" द्वारा। इसे "वर्णव्यापत्ति" भी कहते हैं। पविः वज्रनाम (निघं० २।२०)+नस=नश (णश, दिवादिः)]।

द्व॒य॑ास्या॒च्चतु॑रक्षात् पञ्च॑पादादन॒ङ्गुरेः॑ ।
वृन्ता॑द॒भि प्र॒सर्प॑तः॒ परि॑ पाहि वरीवृ॒तात् ॥२२॥

(द्वयास्यात्[1]) दुमुही से (चतुरक्षात्) चार आंखों वाले से, (पञ्चपादात्) पांच पैरों वाले से, (अनङ्गुरेः) अङ्गुलिरहित से, (वृन्तात्) लता से (अभिप्रसर्पतः) ऊपर-नीचे सर्पण करने वाले से (वरीवृतात्) वृत्ताकार वाले अर्थात् गोलावृत्ति वाले से (परि पाहि) रक्षा कर।

[मन्त्र में कीटों द्वारा हुए भय से पूर्ण रक्षा करने का वर्णन है। मन्त्रप्रोक्त प्राणी अनुसन्धेय है। दुमुही लम्बा कीट होता है जिसके दोनों ओर मुंह होता है]।

य आ॒मं मां॒सम॒दन्ति॒ पौरु॑षेयं॒ च॒ ये क्र॒विः ।
गर्भा॑न् खाद॑न्ति केश॒वास्ताभि॒तो ना॑शयामसि ॥२३॥

(ये) जो (आमम्) [स्त्री के] कच्चे (मांसम्) मांस को (अदन्ति) खाते हैं, (च) और (ये) जो (पौरुषेयम्) पुरुष के (क्रविः) हिंसा प्राप्त मांस को खाते हैं, तथा (केशवाः) जल, वायु तथा शरीर में गति करने वाले जो कीटाणु (गर्भान् खादन्ति) स्त्री के गर्भस्थ शिशुओं को खाते हैं,

[1]. मन्त्र में "द्वयास्य" आदि ६ प्रकार के कीटों का वर्णन हुआ है। ये कीटाणु नहीं। इन में से किसी द्वारा प्राप्त शरीर-विकार को सर्षप के बीज ठीक करते हैं। अनङ्गुरि द्वारा सांप और गण्डोए अभिप्रेत हैं। इन दोनों के न तो पैर होते हैं, न हाथ। अतः ये अनङ्गुरि हैं, अंगुलियों से रहित हैं।

(तान्) उन कीटाणुओं को (इतः) इस उत्पत्ति स्थान से (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं।

[स्त्री और पुरुष के कच्चे मांस के खाने का अभिप्राय है—उन्हें रुग्ण करके उन्हें सुखा देना। इसी प्रकार गर्भस्थ बच्चे को पुष्ट न होने देने द्वारा उसे सुखा देना। ये काम रोगजनक कीटाणुओं [germs] के हैं। ये रोगजनक कीटाणु जल आदि में पैदा होते तथा गति करते रहते हैं। केशवाः= क (Air, Body, water, आप्टे)+शवाः (शु गतौ, भ्वादिः)। क्रविः= हिंसाकरणयोश्च (भ्वादिः)]।

ये सूर्या॑त् परि॒सर्प॑न्ति स्नु॒षेव॒ श्वशु॑रा॒दधि॑ ।
ब॒जश्च॒ तेषां॑ पि॒ङ्गश्च॒ हृद॒येऽधि॒ नि वि॑ध्यताम् ॥२४॥

(ये) जो (सूर्यात् परि) सूर्य का परिवर्जन कर के (सर्पन्ति) सर्पण करते हैं, (इव) जैसे कि (स्नुषा) पुत्रवधू (श्वशुरात्) श्वशुर से (अधि) परे-परे विचरती है, (ब्रजः च पिङ्गः च) वज और पिङ्ग (तेषाम्) उनके (हृदये ऽधि) हृदय में (नि विध्यताम्) नितरां वेधन करें।

[सूर्यात् परि=सूर्यं वर्जयित्वा। अपपरी वर्जने (अष्टा० १।४।८८)। सूर्य की रश्मियों में रोगकीटाणु मर जाते हैं अतः वे निज जीवनार्थ सूर्य रश्मियों को वर्जित कर सर्पण करते हैं। (अथर्व० २।३२।१)। वजः, पिङ्गः=भूरे तथा श्वेत सर्षप=सरसों के बीज। मन्त्र में रोगकीटाणुओं का वर्णन है। तथा चोर आदि का भी जो कि सूर्य को परिवर्जित कर के रात्रीकाल में चौर्य आदि कर्म करते हैं। इस अभिप्राय में "वजः"=वाजः= बलशाली (निघं० २।९)। पिङ्गः अर्थात् रक्षक राजपुरुष (मन्त्र २१)। "पिङ्ग" के साहचर्य से "वज" का अभिप्राय है रक्षकवर्ग के साथ गति करने वाले अन्य बलशाली सहायक। वज व्रज गतौ (भ्वादिः)]।

पिङ्ग॒ रक्ष॒ जाय॑मानं॒ मा पुमां॑सं॒ स्त्रियं॑ क्रन् ।
आ॒ण्डादो॒ गर्भा॒न्मा द॑भ॒न् बाध॑स्वे॒तः कि॒मीदि॑नः ॥२५॥

(पिङ्ग) हे पिङ्ग सर्षप! (जायमानम्) पैदा होते हुए शिशु को (रक्ष) सुरक्षित कर, (पुमांसम्) गर्भस्थ पुमान् को [रोगकारी शक्तियां] (स्त्रियम्) स्त्रीरूप में (मा क्रन्) न परिणत कर दें। तथा (आण्डादः) अण्डभक्षक रोगकीटाणु (गर्भान्) गर्भस्थ शिशुओं की (मा दभन्) हिंसा न

करें, (किमीदिनः) पिशुन [मन्त्र २१] शक्तियों को (इतः) इस गर्भिणी से (बाधस्व) हे पिङ्ग ! तू पीड़ित कर।

[मनुष्य समाज में कभी-कभी यह घटना हो जाती है कि जो पहले पुमान् था वह कालान्तर में स्त्री घोषित किया जाता है, और जो स्त्री थी वह पुमान् घोषित की जाती है। इन में लिंग परिवर्तन हो जाता है। सायण ने निम्नलिखित अर्थ भी दिया है, "जायमानं पुमासं, जायमानां स्त्रियं वा मा कुर्वन्तु, पीडायामिति शेषः"। लिङ्गपरिवर्तन सम्बन्धी यह अर्थ "पिङ्ग" अर्थात् गौर सर्षप सम्बन्धित है।

"पिङ्ग" का अर्थ राज्यरक्षक [मन्त्र २१] तथा "किमीदिनः" का अर्थ "पिशुन" होने पर मन्त्र का भाव निम्नलिखित होगा। हे पिङ्ग ! तू जायमान शिशु की रक्षा कर ताकि कोई माता उत्पन्न होते हुए शिशु की हत्या न कर पाए, तथा कोई व्यक्ति पुमान् को डरा-धमका कर स्त्री न करे, उसे निःशक्त अबलारूप न कर दे, अर्थात् बली निर्बल को दबा न सके। तथा अण्ड-भक्षक, पक्षियों की उत्पत्ति के कारण रूप, अण्डों को न खाएं]।

अप्रजास्त्वं मार्तवत्समाद् रोदमघमावयम् ।
वृक्षादिव स्रजं कृत्वाप्रिये प्रति मुञ्च तत् ॥२६॥

(अप्रजास्त्वम्) प्रजा का न होना, (मार्तवत्सम्) मृतपुत्र का पैदा होना, (आत्) तदनन्तर (रोदम्) रोना, (अघम्) पाप [जिस कारण अप्रजास्त्व आदि पैदा होते हैं] उनका (आ वयम्) सदा बुनते रहना, [जैसे कि पट को बुना जाता है], इन सब अप्रजास्त्व आदि को, (वृक्षात्) वृक्ष [के पुष्पों से] (स्रजं कृत्वा इव) रचो मालारूप[1] कर के, (तत्) उसे (अप्रिये) अप्रियपक्ष में (प्रतिमुञ्च) डाल। आवयम् =असकृद् वयनम् (सायण)।

[गृहस्थ जीवन में अप्रजास्त्व, मार्तवत्स, तथा इन के कारण रोदन तथा इन की सत्ता का कारण पाप और इस पाप-पट का आवयन अर्थात् बुनते रहना, मानो यह मालारूप है। इन सब को परस्पर सम्बन्धी जान कर सब का उच्छेद साथ-साथ करना चाहिये, एक-एक का पृथक्-पृथक् काल में नहीं। राष्ट्रोन्नति के लिये इन सब का उच्छेद आवश्यक है। "अप्रजास्त्व" आदि की सत्ता में कारणीभूत पाप "द्विविध" है। (१) दुराचारियों के पापमय कर्म। (२) तथा गृहजीवन में अतिभोग और अमर्यादित भोग, पति और पत्नीकृत। यह भी पापमय है।

१. अर्थात् जैसे वृक्ष से प्राप्त पुष्पों की माला रच कर प्रिय को पहनाई जाती है, अप्रजास्त्व, मृत वत्सत्व, रोद और अघरूपी पुष्पों की माला को तू अप्रियपक्ष में डाल, अर्थात् इस "पापमयी" माला को अप्रिय जान कर गृहस्थ जीवन में तू इस का परित्याग कर दे।

सूक्त ६ सम्बन्धी व्याख्या

सूक्त ६ में वर्णित वज और पिङ्ग को सर्षप मान कर विशेष व्याख्या। सायणाचार्य ने श्वेत-और-पीत, तथा श्वेत-और-गौर सर्षपों को वज-और पिङ्ग कहा है। "वज" नामक सर्षप को "दुर्णामा" कीटों तथा कीटाणुओं का हननकारी कहा है,और पति-या-गौर सर्षप को "सुनामा" कहा है। दोनों प्रकार के सर्षपों का वर्णन आयुर्वेद के ग्रन्थों में मिलता है। दोनों प्रकार के सर्षप दो जाति के सरसों-बीज हैं। यथा "सरसों के पौधे का बीज कुछ ललाई लिये हुए पीले रङ्ग के होते हैं। एक जाति के सरसों के बीज सफेद होते हैं। लाल और सफेद सरसों समान ही गुण वाली होती हैं। किन्तु तो भी सफेद सरसों, लाल की अपेक्षा उत्तम होती है। इन दोनों के गुणावगुण नाना वर्णित हुए हैं। परन्तु यहां वे ही लिखे जाते हैं जिन का सम्बन्ध सूक्त ६ के विषय के साथ सम्बद्ध है। "यथा" ये कृमिनाशक तथा गृह-पीड़ा अर्थात् स्त्री सम्बन्धी पीड़ा अर्थात् स्त्री सम्बन्धी पीड़ाओं को दूर करते, तथा विष नाश करते हैं। सरसों का रस और पाक राक्षस बाधा, कृमि, और गृह की बाधा को दूर करता है। "सरसों को पीस कर उस का शाफा बना कर, मासिकधर्म के स्नान के पश्चात् तीन दिन तक योनि में रखने से गर्भधारण होता है" (वनौषधि चन्द्रोदय, चन्द्रराज भण्डारी, विशारद, ज्ञानमन्दिर, भानपुरा)।

काण्ड ८ अनुवाक ३ सूक्त ६ समाप्त

सूक्त ७

विषय-प्रवेश

१– यक्ष्म से त्राणसम्बन्धी ओषधियां (मन्त्र १, २, ५, १५)।

२—पाप का फल, यक्ष्म (मन्त्र ३, २८)।

३—पुरुषजीवनी ओषधियां (मन्त्र ४)।

४—ओषधियों की भस्में (मन्त्र ८)।

५—बलास रोगनाशक ओषधियां (मन्त्र १०)।

६–ग्राम्यपशुओं का त्राण (मन्त्र ११)।

७--अमृतभोजन=दुग्ध, घृत, अन्न (मन्त्र १२)।

८—व्याघ्रनामक औषध (मन्त्र १४)।

९—हृदयकल्याणकारी औषध (मन्त्र १७)।

१०—रोगनाशक=पीपल, दर्भ, सोम, जल, हविः, व्रीहि, यव(मन्त्र २०)।

११—पशु, पक्षी, सांप आदि द्वारा ज्ञात ओषधियों का संग्रह करना (मन्त्र २३—२६)।

१२– पञ्चशल (वाणों), दशशल (वाणों) द्वारा जन्य रोग (मन्त्र २८)

चतुर्थ अनुवाक

सूक्त ७

१-२८ अथर्वा। भैषज्यम्, आयुष्यम्, ओषधयः। अनुष्टुप्; २ उपरिष्टाद् भुरिग्बृहती; ३ पुर उष्णिक्; ४ पंचपदा परानुष्टुबतिजगती; ५,६,१०,२५ पथ्यापंक्तिः; (६ विराड्गर्भा भुरिक्); ७ द्विपदार्ची भुरिगनुष्टुप्; १२ पंचपदा विराडतिशक्वरी; उपरिष्टान्निचृद्बृहती; २६ निचृत्; २८ भुरिक्।

या बभ्रवो याश्चं शुक्रा रोहिंणीरुत पृश्नयः।
आसिक्नीः कृष्णा ओषधीः सर्वा अच्छावंदामसि ॥१॥

(याः) जो (बभ्रवः) भूरे रङ्ग की या भरण-पोषण भरने वाली, (याः च) और जो (शुक्राः) सफेद या वीर्यवर्धिका, (रोहिणीः) लाल या घाव को भरने वाली, (उत) और (पृश्नयः) चित्रविचित्र वर्ण वाली, (असिक्नीः) न शुक्ल न काली (कृष्णाः) काली (ओषधीः) ओषधियां हैं (सर्वाः) उन सब को (अच्छावदामसि) हम कहते हैं कि वे चिकित्सा में अच्छी हैं, श्रेष्ठ हैं, या तुम्हारे प्रति हम कथन कहते हैं।

त्रायंन्तामिमं पुरुषं यक्ष्माद् देवेषितादधि।
यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता संमुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ॥२॥

(देवेषितात्) [दोषयुक्त] इन्द्रियों तथा दूषित जल-वायु अन्न से प्रेषित हुए, भेजे गए प्रेरित हुये। (यक्ष्मात्) यक्ष्म से (इमम्) इस (पुरुषं) पुरुष को (अधि त्रायन्ताम्) वे सुरक्षित करें। (वीरुधाम्) विविध प्रकार की पैदा हुई ओषधियां (यासाम्) जिन का कि (पिता) उत्पादक (द्यौः) द्युलोक है, (माता) माता (पृथिवी) पृथिवी है, और (मूलम्) मूल (समुद्रः बभूव) समुद्र हुआ है।

[देव=इन्द्रियां तथा प्राकृतिक तत्त्व। ये जब दूषित हो जाते हैं तो यक्ष्म आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं। दूषित =प्रेषित। वीरुधाम्=वि+रुह (जन्मनि प्रादुर्भावे च)। विविध प्रकार की उत्पन्न लताएं, ओषधियां, वनस्पतियां। समुद्रः=अर्थात् जो जलप्राय प्रदेशों या समुद्र में या समुद्रसमीपवर्ती प्रदेशों में उत्पन्न हुई हैं]।

आपो अग्रं दिव्या ओषधयः ।
तास्ते यक्ष्ममेनस्यं१मङ्गादङ्गादनीनशन् ॥३॥

(आपः) जल हैं (अग्रम्) सर्वश्रेष्ठ (दिव्याः ओषधयः) दिव्य ओषधियां (ताः) वे (ते) तेरे (एनस्यम् यक्ष्मम्) पाप-जनित यक्ष्म को, (अङ्गात्, अङ्गात्) प्रत्येक अंग से (अनीनशन्) नष्ट करें, या इन्होंने नष्ट कर दिया है।

[एनस्यम् = यक्ष्म आदि रोग पुरुष के पापकर्मों से उत्पन्न होते हैं, चाहे वे दूषित इन्द्रियों द्वारा प्राप्त हुए हों, या दूषित प्राकृतिक तत्त्वों द्वारा। मन्त्र में जलचिकित्सा को सर्वोत्तम दर्शाया है] ।

प्रस्तृणती स्तम्बिनीरेकशुङ्गाः प्रतन्वतीरोषधीरा वदामि ।
अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्वयामि ते वीरुधो वैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः ॥४॥

(प्रस्तृणतीः) छत्राकार, (स्तम्बिनीः) झाड़ीरूप (एकशुङ्गाः) एक उपादान कारण वाली, (प्रतन्वतीः) तान-प्रतानों अर्थात् शाखा-प्रशाखाओं वाली, (अंशुमतीः) छोटी-छोटी शाखाओं वाली, (काण्डिनीः) अनेक गांठों या बड़े तनों वाली (याः विशाखाः) और जो शाखा विरहित, (वैश्वदेवीः) सूर्य, भूमि, जल आदि सब देवों के सम्बन्ध वाली, उन से उत्पन्न (पुरुष-जीवनीः) पुरुष को जीवन देने वाली (उग्राः) बलशाली (वीरुधः) विरोहण करने वाली (ओषधीः ओषधियां हैं, उन्हें (ते आवदामि) मैं तेरे लिये कहता हूं, उनका कथन करता हूं, इसलिये (ह्वयामि) तुझे अपने समीप बुलाता हूं।

[ओषधियां गुणों और आकृतियों में नानाविध हैं, और इन के उत्पादक तत्त्व भी नानाविध है, परन्तु उपादान कारण की दृष्टि से वे एकविध हैं, एकरूप । इन का उपादान कारण एक है, प्रकृति; और उत्पादक एक है, परमेश्वर । "शुद्ध" का अभिप्राय है उपादान कारण या मूल कारण (छान्दोग्य० उप० अध्याय ६। खण्ड ८। सन्दर्भ ३-६)] ।

यद् वः सहः सहमाना वीर्यं१ यच्च वो बलम् ।
तेनेममस्माद् यक्ष्मात् पुरुषं मुञ्चतौषधीरथो कृणोमि भेषजम् ॥५॥

(सहमानाः) रोगों का पराभव करने वाली हे ओषधियो ! (यत्) जो (वः) तुम्हारा (सहः) पराभवबल है, (वीर्यम्) उत्तम परिणामोत्पादक शक्ति है, (यत् च) और जो (वः) तुम्हारा (बलम्) बल है, (तेन) तद्-द्वारा (इमम् पुरुषम्) इस पुरुष को (अस्मात् यक्ष्मात्) इस यक्ष्म से (ओषधीः) हे ओषधियो ! तुम (मुञ्चत) मुक्त करो, (अथो) अब (भेषजम् कृणोमि) औषधोपचार मैं करता हूं [यक्ष्म निराकरणार्थ] ।

[ओषधियों और ओषधियों के गुणों के जानने वाला वैद्य, इन दोनों के सहचार से, औषधोपचार होना चाहिये] ।

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।
अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये ॥६॥

(जीवलाम्) प्राणप्रदा, (नघारिषाम्) न हनन और न हिंसन करने वाली, (जीवन्तीम्) जीवित (ओषधीम्) ओषधि को, तथा (अरुन्धतीम्) अभिमतफल का अवरोध न करने वाली, या घावों को भरने वाली (उन्नयन्तीम्) स्वास्थ्यवर्धनी (पुष्पाम्) जीवन को विकसित करने वाली, (मधुमतीम्) मधुर ओषधि को (इह) इस चिकित्सा कर्म में (अहम्) मैं (हुवे) आहूत करता हूं, (अस्मै अरिष्टतातये) इस रुग्ण के लिये, अहिंसार्थ ।

[जीवलाम् = "जीव" प्राणधारणे + "ला" आदाने । जीवन्तीम् = ताजी नकि शुष्क हुई । अरुन्धतीम् = अ + रुधिर् आवरणे (रुधादिः) । न अवरोध करने वाली, सफलता प्रदान करने वाली या अरुस् = घाव + धेट् (पाने) घाव को पीजाने वाली । पुष्पाम् = पुष्प विकासे (दिवादिः) । अथवा "जीवलाम्" आदि पृथक्-पृथक् ओषधियां हैं । हुवे = इन का आह्वान = इन्हें प्राप्त करना । कविता में "हुवे" पद प्रयुक्त है । अथवा "अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखविवर्जिताः" (मनु०) मनु के इस कथनानुसार ओषधियों को चेतन जान कर "हुवे" पद का प्रयोग हुआ है] ।

इहा यन्तु प्रचेतसो मेदिनीर्वचसो मम ।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥७॥

(प्रचेतसः) चेतना देने वाली (मेदिनीः) मेदस् वाली ओषधियां (मम)

मेरे (वचसो[1]=वचसा+उ) कथनानुसार (इह) यहां अर्थात् मेरे पास (आ यन्तु) आ जाँय, (यथा) जिस से कि (इमम्, पुरुषम्) इस पुरुष को (दुरितात्) बुरे कर्मों द्वारा प्राप्त यक्ष्म रोग से (अधि पारयामसि) हम पार कर दें। मेदिनीः=मेदस्वतीः।

[मन्त्र में, ओषधियों और उन के गुणों के ज्ञाता का साहचर्य, रोगी को नीरोग करने में अपेक्षित दर्शाया है। यक्ष्म रोग दुष्कर्मों का फल है। यह सिद्धान्त "एनस्यं यक्ष्मम्" (मन्त्र ३) द्वारा भी कथित हुआ है। "प्रचेतसः" द्वारा ओषधियां भी अभिप्रेत हो सकती हैं, ओषधियों को चेतन सा जान कर (मन्त्र ६)। "आ यन्तु" द्वारा चिकित्सक, निज सेवक को निर्देश देता प्रतीत होता है, कि यक्ष्मरोग की सब ओषधियां, समय पर, मेरे पास ला दो]।

अग्नेर्घासो अपां गर्भो या रोहन्ति पुनर्णवाः।
ध्रुवाः सहस्रनाम्नीर्भेषजीः सन्त्वाभृताः ॥८॥

(अग्नेः घासः) अग्नि के भक्ष्य, (अपाम् गर्भः) जलों के गर्भीभूत अर्थात जलप्रधान प्रदेशों, अनूप प्रदेशों में उत्पन्न, (याः) जो (पुनर्णवाः रोहन्ति) पुनः पुनः नवीन पैदा होने वाली, अर्थात् प्रतिवर्ष नई पैदा होने वाली, (ध्रुवाः) स्थिर परिणाम पैदा करने वाली, (सहस्रनाम्नीः) विविध नामों वाली (भेषजीः) ओषधियां हैं वे, (आभृताः सन्तु) आहृताः सन्तु, लाई जांय। यथा "इहायन्तु" (मन्त्र ७)।

[अग्नेः घासः=इस के दो अभिप्राय सम्भव हैं, (१) अग्नि अर्थात् जाठराग्नि को प्रदीप्त करने वाली ओषधियां। (२) अग्नि द्वारा भस्म में परिवर्तित की जाने वाली ओषधियां, भस्मरूप ओषधियां। अपां गर्भः= समुद्रो मूलं वीरुधाम् (मन्त्र २), जोकि जलीय प्रदेशों में पैदा हुई हैं, उन ओषधियों की भस्म। मन्त्र में "पुनर्णवाः" द्वारा नवोत्पन्न "पुनर्णवा" ओषधि भी सूचित की गई है]।

अवकोल्बा उदकात्मान ओषधयः।
व्यृषन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्ग्यः ॥९॥

१. अर्थदृष्टया "वचसा, उ" ऐसा पदच्छेद किया है। पदपाठ "वचसः" है।

(अवकोल्बाः) काई से लिपटी हुई, (उदकात्मानः) जलोत्पन्न, (तीक्ष्णशृङ्ग्यः) तीक्ष्ण काटों वाली (ओषधयः) ओषधियां, (दुरितम्) दुष्कर्मों द्वारा प्राप्त [यक्ष्म] को (व्यृषन्तु) विगत करें, दूर करें। उल्ब=गर्भस्थ शिशु पर लिपटी हुई झिल्ली।

[व्यृषन्तु=वि+ऋषी गतौ (तुदादिः), विगत करें। दुरितम्=दुर् (बुरे कर्मों द्वारा)+इतम् (प्राप्त)। रोगों का मूल कारण है, पाप। यथा "यक्ष्मम्, एनस्यम्" (मन्त्र ३)। "अवका" अर्थात् काई उदक में पैदा होती है। अतः ये ओषधियां उदकात्मा हैं। "तीक्ष्णशृङ्गी" ओषधियां भी यक्ष्म निवारक हैं]।

उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः।
अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता इहा यन्त्वोषधीः ॥१०॥

(उन्मुञ्चन्तीः) रोग से मुक्त करती हुईं, (विवरुणाः) वारुण्य रोगों को विरहित करने वाली, (उग्राः) उद्गूर्ण बलशाली, (याः) जो (विषदूषणीः) विषापहारी, (अथो) और (बलासनाशनीः) श्लेष अर्थात् कफरोग का नाश करने वाली, (याः च कृत्यादूषणीः) और जो हिंस्रक्रियाजन्य कष्टों को दूर करने वाली हैं, (ताः) वे (ओषधीः) ओषधियां (इह) यहां अर्थात् मेरे पास (आ यन्तु) आ जांय, मुझे प्राप्त हो जांय।

[विवरुणाः=वरुण के पाशों का वर्णन; देखो अथर्व० (४।१६।१-९); अथवा वरुण है जल, अतः जलीय रोगों से रहित करने वाली ओषधियां। जलोदर रोग जलीय है। जलप्राय प्रदेशों में होने वाले रोग भी जलीय हैं। "बलास" है कफ तथा कफोत्पन्न रोग। कफ बलास है, बल को क्षीण करता है, बल+असु क्षेपणे (दिवादिः)]।

अपक्रीताः सहीयसीर्वीरुधो या अभिष्टुताः।
त्रायन्तामस्मिन् ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम् ॥११॥

(अपक्रीताः) खरीदी गईं, (सहीयसीः) बलशालिनी या रोगों का पराभव करने वालीं, (अभिष्टुताः) मन्त्रों में स्तुत हुईं, (याः) जो (वीरुधः) विरोहण करने वाली लताएं आदि ओषधियां हैं, वे (अस्मिन् ग्रामे) इस ग्राम में (गाम् अश्वं पुरुषं पशुं) गौ, अश्व, पुरुष आदि तथा अन्य पशुजगत की (त्रायन्ताम्) पालना तथा रक्षा करें।

मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव ।
मधुमत् पर्णं मधुमत् पुष्पमासां मधोः संभक्ता अमृतस्य भक्षो घृतमन्नं दुह्रतां गोपुरोगवम् ॥१२॥

(आसाम्, वीरुधाम्) इन विरोहणशील लता आदि का (मूलम्, मधुमत्) मूल अर्थात् जड़ मधुर, (अग्रम्) अगला भाग (मधुमत्) मधुर, (मध्यम्, मधुमत्) मध्यभाग मधुर (बभूव) हुआ है। (आसाम्) इन का (मधुमत् पर्णम्) पत्ता मधुर, (पुष्पम् मधुमत्) फूल मधुर है; (मधोः संभक्ता) मधु-भीनी तथा मधु देने वाली ये ओषधियां (अमृतस्य भक्षः) अमृतभोजन रूप हैं, ये ओषधियां (गोपुरोगवम्) गोदुग्ध जिन मे अग्रगामी है ऐसे (घृतम्, अन्नम्) घी और अन्न का (दुह्रताम्) दोहन करें, प्रदान करें।

[मन्त्र में घृत, अन्न, तथा गोदुग्ध को अमृतभोजन कहा है। इन में भी गोदुग्ध सर्वश्रेष्ठ है। गोपुरोगवम्=गो (दुग्ध)+पुरः, गवम्)। यथा "अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति "गोभिः श्रीणीत मत्सरम्" (ऋ० ९।४६।४) इति पयसः" (निरुक्त २।२।५)। सभी ओषधियों के अङ्ग-प्रत्यङ्ग, यद्यपि आस्वादन में मधुमत् नहीं होते, परन्तु यतः इन का सेवन, मधुर परिणामी होता है, अतः इनका वर्णन मधुमत्-रूप में हुआ है]।

यावतीः कियतीश्चेमाः पृथिव्यामध्योषधीः ।
ता मा सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः ॥१३॥

(यावतीः कियतीः च) जितनी-कितनी भी (इमाः) ये (ओषधीः) ओषधियां (पृथिव्याम् अधि) पृथिवी में हैं, (ताः) वे (सहस्रपर्ण्यः) हजारों पत्तों वाली, या सहस्रविधि से पालने वाली, (मा) मुझे (मृत्योः) मृत्यु से, (अंहसः) और मृत्यु के कारणभूत पाप से (मुञ्चन्तु) छुड़ा दें।

[सहस्रपर्ण्यः=सहस्र+पर्णी (पत्तों वाली); अथवा सहस्र+पर्णी (पृ पालने) हजारों का पालन करने वाली। मन्त्र द्वारा यह द्योतित होता है कि औषध-सेवन द्वारा पापकर्मों में प्रवृत्ति का भी शमन होता है]।

वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोऽभिशस्तिपाः ।
अमीवाः सर्वा रक्षांस्यप हन्त्वधि दूरमस्मत् ॥१४॥

(वीरुधाम्) विरोहण स्वभाववाली लता आदि में, (वैयाघ्रः) वैयाघ्र वीरुध् (मणिः) सर्वश्रेष्ठ रत्न है, (त्रायमाणः) यह मणि पालन करता, (अभिशस्तिपाः) तथा रोगजन्य हिंसा से रक्षा करता है। (अमीवाः) रोगों या रोगकीटाणुओं, तथा (सर्वा रक्षांसि) सब राक्षसी कर्मों का (अप हन्तु) यह हनन करे, और उन्हें (अस्मत् अधि) हम से (दूरम्) दूर करे। अमीवाः=अम रोगे (चुरादिः)।

[वैयाघ्रः; व्याघ्र का अभिप्राय है "कास्टर-आयल का पौधा"। यथा "व्याघ्रः" The red variety of the castor-oil" (आप्टे)। व्याघ्र एव वैयाघ्रः (स्वार्थे अण्)। व्याघ्र ओषधि को मणि कहा है, यह वीरुधों में श्रेष्ठ है। यथा "जातौ जातौ युदुत्कृष्टं तद्रत्नमभिधीयते" (मल्लिनाथ)। तथा मणिः="Any thing best of its kind" (आप्टे)। कास्टर आयल पौधे को मणि इस लिये कहा है कि बद्धकोष्ठता [कब्ज] के लिये यह सर्वोत्तम तेल है। रोगों का कारण बद्धकोष्ठता [कब्ज] है। कोष्ठ के ठीक रहने पर रोग प्रायः नहीं होते। व्याघ्रपदघटित अन्य ओषधियां भी हैं, यथा व्याघ्रपुच्छ, व्याघ्रपात् (वनौषधि चन्द्रोदय, चन्द्रराजभण्डारी, विशारद)। अथवा "व्याघ्र इव वैयाघ्रः" व्याघ्रवत् रोगों पर आक्रमणकारी]।

सिंहस्येव स्तनथोः सं विजन्तेऽग्नेरिव विजन्त आभृताभ्यः ।
गवां यक्ष्मः पुरुषाणां वीरुद्भिरतिनुत्तो नाव्या एतु स्रोत्याः ॥१५॥

(आभृताभ्यः=आहृताभ्यः) लाई हुई वीरुधों से (सं विजन्ते) भय से कांप जाते हैं रोग; (इव) जैसे (सिंहस्य स्तनथोः) सिंह की गर्जना से [वन्य पशु आदि], तथा (इव) जैसे (अग्नेः) अग्नि से पशु आदि सम्यक् रूप में [भय से] (विजन्ते) कांप जाते हैं, (गवाम् पुरुषाणाम्) गौओं और पुरुषों का (यक्ष्मः) यक्ष्म रोग, इसी प्रकार (वीरुद्भिः) वीरुधों द्वारा (नुत्तः) धकेला गया, (नाव्याः स्रोत्याः) नौका द्वारा पार करने योग्य नदियों को (अति एतु) अतिक्रान्त कर चला जाय। अर्थात् जैसे मनुष्य नौका द्वारा गहरी और तेज नदियों से पार हो जाते हैं, वैसे यक्ष्म आदि रोग वीरुधों द्वारा शारीरिक नस-नाड़ियों से पार हो जाते हैं (देखो अथर्व० ८।५।९)।

[मन्त्र १४ में वैयाघ्र का वर्णन हुआ है, और मन्त्र १५ में सिंह की स्तनथु अर्थात् स्तनयित्नु का, गर्जन का]।

मुमुचाना ओषधयोऽग्नेर्वैश्वानरादधि ।
भूमिं संतन्वतीरित यासां राजा वनस्पतिः ॥१६॥

(वैश्वानरात्, अग्नेः अधि) वैश्वानर अर्थात् पार्थिव अग्नि से (मुमुचानाः) मुक्त हुई (ओषधयः) हे ओषधियो (भूमिम्) भूमि को(अभिलक्ष्य) लक्षित कर (संतन्वतीः) फैलती हुई (इत) तुम आओ, (यासाम्) जिनका कि (राजा) अध्यक्ष (वनस्पतिः[1]) वनों का पालक है, रक्षक है।

[राष्ट्र द्वारा वनों की रक्षा के लिये, वनाध्यक्ष नियत होना चाहिये, जो कि वनों की रक्षा करे, और पार्थिव अग्नि से इन्हें बचाए। विश्वानर हैं विद्युत् और सूर्य। इन से पार्थिव अग्नि पैदा होती है, अतः पार्थिव अग्नि वैश्वानर है। इस सम्बन्ध में देखो निरुक्त (७।६।२१ से ७।६।२३)। वनस्पतिः="वनस्य[1] पतिः" वन का रक्षक, अध्यक्ष या राजा मनुष्य, न कि कोई महावृक्ष। इस अध्यक्ष की दृष्टि से कहा है कि "वनानां पतये नमः" (यजु० १६।१८)। नमस्कार अध्यक्ष को किया है, न कि किसी महावृक्ष को अर्थात् विना पुरुषों के फलदायी वृक्ष को। यथा "तैरपुष्पाद् वनस्पतिः"]।

या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च ।
ता नः पयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे ॥१७॥

(याः) जो (आङ्गिरसीः) "शरीर और अङ्गों में प्राणरूपी रस की उत्पादिका" (ओषधीः) ओषधियां (पर्वतेषु, समेषु, च) पर्वतों और समतलों में (रोहन्ति) प्रादुर्भूत होती हैं (ताः) वे ओषधियाँ जोकि (पयस्वतीः) रसवाली हैं (नः) हमारे (हृदे) हृदयों के लिये (शिवा) कल्याणकारिणी तथा (शम्) सुखदायक और रोगशामक (सन्तु) हों।

[आङ्गिरसीः, "आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः, प्राणो वा अङ्गानां रसः" (बृहद्० उप० ब्राह्मण ३, खण्ड १९)। पयस्वतीः=पयः दुग्धम्, तद्वत् रसों वाली]।

याश्चाहं वेद वीरुधो याश्च पश्यामि चक्षुषा ।
अज्ञाता जानीमश्च या यासु विद्म च संभृतम् ॥१८॥

१. जात्येकवचन। अभिप्राय है राष्ट्र के सब वनों का पति।

सर्वाः समग्रा ओषधीर्बोधन्तु वचसो मम ।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥१९॥

(याः च) जिन (वीरुधः) ओषधियों को (अहम् वेद) मैं [वैद्य] जानता हूं, (याः च) और जिन्हें (चक्षुषा) निज आंख द्वारा (पश्यामि) मैं देखता हूं, (अज्ञाताः) जो अभी नहीं जानीं, (याः जानीमः, च) और जिन्हें हम जानते हैं, (यासु च) और जिन में (संभृतम्) [रसामृत] भरा हुआ या संहृत अर्थात् एकत्रित हुआ (विद्म) हम वैद्य जानते हैं ॥१८॥

(सर्वाः) ये सब (समग्राः) मिली हुई (ओषधीः) ओषधियां (मम) मेरे (वचसः) कथन को (बोधन्तु) जानें (यथा) जिस प्रकार कि (इमम्) इस (पुरुषं) पुरुष को (दुरितात् अधि) दुष्कर्मों द्वारा प्राप्त रोग से (पारयामसि) हम पार कर दें ॥१९॥

अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हविः ।
व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ ॥२०॥

वे ओषधियां हैं—(अश्वत्थः, दर्भः) अश्वत्थ और दूभ; (वीरुधाम्) ओषधियों में (सोमः राजा) ओषधियों का राजा सोम-औषध; (अमृतम्) जल (हविः) यज्ञिय हवियां (दिवः पुत्रौ) तथा द्युलोक के दो पुत्र (व्रीहिः यवः च) व्रीहि अर्थात् धान और जौ (भेषजौ) जो कि औषधरूप हैं, (अमर्त्यौ) और मृत्यु से रक्षा करते हैं या ओषधरूप में सदाजीवी हैं, किसी विशिष्ट रोग के न होते हुए भी क्षुधारोग में इन का सेवन सदा करना होता है।

[अश्वत्थः=पीपल। दर्भः=दूभ घास। "अमृतम् उदकनाम" (निघं० १।१२)। व्रीहि और यव, द्यौः के पुत्र कहे हैं। द्युलोक या द्युतिमान् सूर्य द्वारा बरसे जल से पैदा होते हैं। यद्यपि सभी ओषधियां द्यौः के जल से पैदा होती हैं, परन्तु व्रीहि और यव दैनिक भोजनरूप हैं, अतः इनका विशेष कथन हुआ है। ये दोनों विशिष्ट औषध हैं और मृत्यु से बचाते हैं, अन्नाभाव से मृत्यु हो जाती है, अतः ये दोनों प्राणापानरूप हैं यथा "व्रीहियवौ प्राणापानौ" (अथर्व० ११।४।१३)। यज्ञिय हविः, वायुशुद्धि द्वारा औषध है]।

उज्जिहीध्वे स्तनयत्यभिक्रन्दत्योषधीः ।
यदा वः पृश्निमातरः पर्जन्यो रेतसावति ॥२१॥

(ओषधीः) हे ओषधियो ! (स्तनयति) मेघ के गर्जने और (अभिक्रन्दति) कड़कड़ाने पर (उज्जिहीध्वे) तुम बढ़ती हो । (पृश्निमातरः) नाना वर्णों वाली या पृथिवीरूप माता वालो हे ओषधियो ! (यदा) जबकि (वः) तुम्हें (पर्जन्यः) मेघ (रेतसा) जल द्वारा (अवति) तृप्त करता है, सींचता है ।

[उज्जिहीध्वे=उद्+ओहाङ् गतौ (जुहोत्यादिः) । पृश्निः=पृथिवी, प्राश्नुते एनं वर्णः (निरुक्त २।४।१४) । रेतः उदकनाम (निघं० १।१२) । ओषधियों का सम्बोधन कविता में किया है] ।

तस्यामृतस्येमं बलं पुरुषं पाययामसि ।
अथो कृणोमि भेषजं यथासच्छतहायनः ॥२२॥

(तस्य) उस (अमृतस्य) रसामृत का (बलम्) बल (इमम्, पुरुषम्) इस पुरुष को (पाययामसि) हम पिलाते हैं । (अथो) अब (भेषजम् कृणोमि) इस की चिकित्सा मैं करता हूं, (यथा) जिस से कि (शतहायनः) सौ वर्षों का यह (असत्) होवे ।

["तस्य" द्वारा मन्त्र (१८) में निर्दिष्ट "संभृतम्" एकत्रित रसामृत का निर्देश हुआ है । रसामृत को बल का कारण न कह कर बलरूप कहा है। अथवा "अमृतम् उदकनाम" (निघं० १।१२); वर्षाप्राप्त उदक ओषधियों में जा कर जो अमृतरूप हो गया है] ।

वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम् ।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥२३॥

(वराहः) सूअर (वीरुधम्) ओषधि को (वद) जानता है, (नकुलः) नेवला (भेषजीम्) चिकित्सा योग्य ओषधि को (वेद) जानता है । (सर्पा) सर्प (गन्धर्वाः) जो कि गन्ध द्वारा हिंसा कर देते हैं (याः) जिन ओषधियों को (विदुः) जानते हैं, (ताः) उन्हें (अस्मे अवसे) इस के लिए रक्षार्थ (हुवे) मैं पुकारता हूं ।

[गन्धर्वाः=उग्रविष वाले "सर्प" जो कि सूंघने मात्र से व्यक्ति की हिंसा कर देते हैं; गन्ध+अर्वाः (अर्व हिंसायाम् भ्वादिः) । वराह आदि प्राणी निज रोग की ओषधि स्वयं जानते हैं । ये जिन ओषधियों को जानते हैं, उन्हें जान कर चिकित्सक रोगी के रोगानुसार उन का संग्रह करे । "हुवे" द्वारा संग्रह का निर्देश किया है । नेवला और सर्प परस्पर विद्वेषी हैं, ये विषैली ओषधियों को जानते हैं । विषप्रयोग द्वारा भी नानाविध रोगों का उपचार होता है] ।

याः सुपर्णा आङ्गिरसीर्दिव्या या रघटो विदुः ।
वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः ।
मृगा या विदुरोषधीस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥२४॥

(याः) जिन (आङ्गिरसीः) शरीर और अङ्गों के रसरूप प्राण-सम्बन्धी ओषधियों को (सुपर्णाः) गरुड़ तथा (याः) जिन (दिव्याः) दिव्य ओषधियों को (रघटः) लघुकायरूप अन्तरिक्ष में उड़ने वाली चिड़ियां-तोते आदि (विदुः) जानते हैं, (वयांसि) महाकायरूप पक्षी या कौए, (हंसाः) और हंस (याः) जिन ओषधियों को (च) तथा (सर्वे पतत्रिणः) अन्य सब पक्षी (याः) जिन्हें (विदुः) जानते हैं (मृगाः) मृग (याः) जिन (ओषधीः) ओषधियों को (विदु) जानते हैं (ताः) उन्हें (अस्मै) इस के लिये (अवसे) रक्षार्थ (हुवे) मैं पुकारता हूं ।

[आङ्गिरसीः, देखो मन्त्र (१७) । रघटः=रघ् (रघु, लघु) अट (गतौ)+क्विप्+प्रथमा बहुवचन] ।

यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः ।
तावतीस्तुभ्यमोषधीः शर्म यच्छन्त्वाभृताः ॥२५॥

(यावतीनाम्, ओषधीनाम्) जितनी ओषधियों को (अघ्न्याः, गावः) अहन्तव्या गौएं, (यावतीनाम्) जितनियों को (अजावयः) बकरियां और भेड़ें (प्राश्नन्ति) खाती हैं, (तावतीः) उतनी (ओषधीः) ओषधियां, (आभृताः) लाई हुई, (तुभ्यम्) हे रोगिन् ! तेरे लिये (शर्म) सुख (यच्छन्तु) देवें ।

[शर्म सुखनाम (निघं० ३।६)। आभृताः=आहृताः, "हृग्रहोर्भश्छन्दसि"]।

यावतीषु मनुष्या भेषजं भिषजो विदुः ।
तावतीर्विश्वभेषजीरा भरामि त्वामभि ॥२६॥

(यावतीषु) जितनी [वीरुधों] में (मनुष्याः भिषजः) चिकित्सक मनुष्य (भेषजम्) औषध (विदुः) जानते हैं; (विश्वभेषजीः) सब रोगों की औषधरूप (तावतीः) उन सब को (त्वाम्, अभि) तेरे प्रति (आभरामि) मैं लाता हूं।

[हुवे (मन्त्र २३, २४) और आभरामि का समान अभिप्राय है। आभरामि=आहरामि]।

पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत ।
संमातर इव दुह्रामस्मा अरिष्टतातये ॥२७॥

(पुष्पवतीः) फूलों वाली, (प्रसूमतीः) नवीन कोपलों वाली, (फलिनी) फलों वाली, (उत) तथा (अफलाः) फलों से रहित [ओषधियां], (संमातरः) मिल कर, माताओं के (इव) सदृश, (अस्मै) इस के लिये (अरिष्टतातये) अहिंसा अर्थात् स्वास्थ्य के विस्तार के निमित्त (दुह्राम्) दुग्ध के सदृश रसों का दोहन करें, प्रदान करें।

[अरिष्टतातये=अथवा "अरिष्टकरणाय", "शिवशमरिष्टस्य करे" (अष्टा० ४।४।१४३)+तातिल्]।

उत त्वाहार्षं पञ्चशलादथो दशशलादुत ।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥२८॥

(पञ्चशलात्) पाँचविषयरूपी पांच शल्यों अर्थात् बाणों से, (उत) तथा (दशशलात्) दसविषयरूपी दश शल्यों अर्थात् बाणों से, (अथो) और (यमस्य) मृत्यु के (पड्वीशात्) पादबन्धन से, तथा (विश्वस्मात्) सब (देवकिल्बिषात्) ऐन्द्रियिक पापों से (त्वा) तुझे (उत् अहार्षम्) मैंने उद्धृत किया है, तेरा उद्धार किया है।

[मुख्यरूप से पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पांचविषयरूपी पांच बाणों का प्रहार करती हैं। तत्पश्चात् ज्ञान द्वारा प्रेरित होकर पञ्चकर्मेन्द्रियां विषयों के प्रति गमन करती हैं। अतः मन्त्र में पञ्चशल और दशशल का निर्देश हुआ है[1]। शल=शल्य, बाण। देव=इन्द्रियां, यथा "नैनद् देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्" (यजु० ४०।४)]।

१. पञ्चविध ज्ञानबाण, पञ्चविध कर्मबाणों में परिणत होकर, १० बाण हो जाते हैं।

सूक्त ८

विषय-प्रवेश

(१) पूतिरज्जुः=धड़ाके का शब्द करती हुई, शत्रुदल में दुर्गन्ध फैलाने वाली रज्जु अर्थात् रस्सी (मन्त्र २)।
(२) बृहत्-जाल द्वारा शत्रुदल को बांधना (४-७)।
(३) तामसास्त्र (८) शत्रुदल में अन्धकार फैला देने वाला अस्त्र।
(४) नागरिकशासक "भव" और सेनाशासक "शर्व" (११, १७)।
(५) राष्ट्ररक्षार्थ युद्ध में महात्माओं और विद्वानों का सहयोग (१२)।
(६) विमानों द्वारा युद्ध (१३)।
(७) युद्ध में पकड़े गये शत्रुसैनिकों का सुगमता से हनन (१४, १५)।
(८) मृत्यु के फंदे, तथा कूट-प्रयोग (१६)।
(९) बृहस्पतिः=राष्ट्र की बृहती सेना का अधिपति (१९)
(१०) लोकलोकान्तर वासी देव तथा मनुष्य आदि (२१)।
(११) देवरथ, उस के अवयव (२२)।
(१२) संवत्सररथ, उस के अवयव (२३)।
(१३) युद्ध में निज योद्धाओं को प्रोत्साहन तथा "स्वाहा" का निर्वचन (२४)।
(१४) नील और लोहित रश्मियां, इन द्वारा शत्रुपर विजय (२४)।

सूक्त ८

१-२४ भृग्वंगिराः । इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च । अनुष्टुप्; २, ८-१०,२३ उपरिष्टाद् बृहती; ३ विराड् बृहती, ४ बृहती पुरस्तात्प्रस्तारपंक्तिः; ६ आस्तारपंक्तिः; ७ विपरीत पादलक्ष्या चतुष्पदातिजगती; ११ पथ्याबृहती; १२ भुरिक्; १९ पुरस्ताद् विराड्बृहती; २० पुरस्ताद् निचृद् बृहती; २१ त्रिष्टुप्; २२ चतुष्पदा शक्वरी; २४ त्र्यवसाना त्रिष्टुबुष्णिग्गर्भा पराशक्वरी पञ्चपदा जगती।

इन्द्रो मन्थतु मन्थिता शक्रः शूरः पुरंदरः ।
यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः ॥१॥

(मन्थिता) मथन करने वाला, (शक्रः) शक्तिशाली (पुरंदरः) पुरों तथा किलों को विदीर्ण करने वाला (शूरः) शूर (इन्द्रः) सम्राट् (मन्थतु) [उन्हें] मथ डाले। (यथा) जिस प्रकार कि (अमित्राणाम्) शत्रुओं की (सहस्रशः) हजारों (सेनाः) सेनाओं को (हनाम) हम मारें। "इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा" (यजु० ८।३७)।

पूतिरज्जुरुपध्मानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम् ।
धूममग्निं परादृश्यामित्रा हृत्स्वा दधतां भयम् ॥२॥

(उपध्मानी) जलती हुई तथा शब्द करती हुई (पूतिरज्जुः) दुर्गन्धित रस्सी (अमूम्, सेनाम्) उस सेना को (पूतिम् कृणोतु) दुर्गन्धित कर दे। (धूमम्, अग्निम्) धूएं और अग्नि को (परादृश्य) दूर से देख कर (अमित्राः) शत्रु (हृत्सु) हृदयों में (भयम्, आदधताम्) भय धारण करें।

[उपध्मानी = उप + ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः (भ्वादिः)]।

अमूनश्वत्थ निः शृणीहि खादामून् खदिराजिरम् ।
ताजद्भङ्ग इव भज्यन्तां हन्त्वेनान् वधको वधैः ॥३॥

(अश्वत्थ) अश्वसदृश शक्तिशाली और युद्ध में स्थिर रहने वाले हे सेनाध्यक्ष! (अमून्) उन शत्रु सैनिकों को (निः शृणीहि) निःशेषतया कुचल डाल, (खदिर) हे खा जाने वाले! [सेनाध्यक्ष] (अमून्) उन्हें (अजिरम्) शीघ्रता से (खाद) खा जा। (ताजद्भंगः इव) टूटने वाले

भंग के सदृश (भज्यन्ताम्) वे भग्न हो जांय (वधकः) वध करने वाला सेनापति (वधैः) मारुशस्त्रों द्वारा (एनान्) इन सैनिकों को (हन्तु) मार डाले।

[अश्वत्थ; अश्व = काष्ठतुल्य कठोर शरीर वाला, निर्भय तथा धृष्ट व्यक्ति (आप्टे) + स्थ। खादिर अग्नि के सदृश खा जाने वाला सेनापति। अजिरम् = अज गतौ क्षेपणे च। ताजत् = त्यजत्? निजस्वरूप का शीघ्र त्याग कर देने वाले अर्थात् भङ्गुर]।

परुषानमून् परुषाह्वः कृणोतु हन्त्वेनान् वधको वधैः ।
क्षिप्रं शर इव भज्यन्तां बृहज्जालेन संदिताः ॥४॥

(परुषान्) कठोर शब्दों वाले (अमून्) उन शत्रुओं को (परुषाह्वः) कठोर शब्दों में, सम्राट्, (कृणोतु) आहूत करे, (वधकः) वध करने वाला सेनापति (वधैः) मारुशस्त्रों द्वारा (एनान् हन्तु) इन्हें मार डाले। (बृहत् जालेन) बड़े जालद्वारा (संदिताः) बन्धे हुए (शर इव) सरकण्डे के सदृश (क्षिप्रम्, भज्यन्ताम्) शीघ्र ये शत्रु टूट-फूट जांय, भग्न हो जाँय]।

अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो महीः ।
तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् ॥५॥

(अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष [समान महान्] (जालम् आसीत्) जाल था, (महीः दिशः) महती दिशाओं के सदृश महान् (जालदण्डाः) जाल के दण्डे थे। (तेन) उस जाल द्वारा (अभिधाय) बांध कर, (शक्रः) शक्तिशाली सम्राट् ने (दस्यूनाम्) उपक्षयकारी शत्रुओं की (सेनाम्) सेना को (अप, अवपत्) पृथक् कर छिन्न-भिन्न कर दिया।

[अभिधाय, अभिधानी = रस्सी। दस्यूनाम् = दसु उपक्षये (दिवादिः)। अवपत् = डुवप् बीजसन्ताने छेदने च (भ्वादिः) लङ् लकार]।

अथवा

अन्तरिक्ष "वस्तुतः" जाल है, और दिशाएं अन्तरिक्ष के जालदण्ड हैं। यह अन्तरिक्ष में होने वाला युद्ध है। वर्तमान में बहुचर्चित "Star war" है, जिस का कि निर्देश मन्त्र में हुआ है। इससे भी बड़ा युद्ध "लोक-लोका-

न्तर युद्ध" है, जिस का निर्देश मन्त्र (८) में हुआ है। परन्तु इन वैदिक युद्धों में नरसंहारी आयुधों का प्रयोग वैदिक नहीं, जैसे कि मन्त्रों की व्याख्या से स्पष्ट हो जायेगा। अन्तरिक्ष और लोक-लोकान्तर को जाल इस लिये कहा है कि यहीं विमानों द्वारा लड़ने वाले शत्रुसैनिकों को, सम्राट् के वैमानिक सैनिक घेर कर उन्हें परास्त करते हैं, अवशिष्ट नागरिक प्रजा को क्षति नहीं पहुंचती]।

बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः।
तेन शत्रूनभि सर्वान् न्युब्ज यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम् ॥६॥

(बृहतः) महान् (शक्रस्य) शक्तिशाली (वाजिनीवतः) बलशालिनी सेना वाले सम्राट् का (जालम्) जाल (बृहत् हि) निश्चय से बड़ा है। (तेन) उस द्वारा (सर्वान् शत्रून्) सब शत्रुओं को (अभि, न्युब्ज) अभिधाय अर्थात् बांध कर अपने अधीन कर, (यथा) ताकि (एषाम्) इन में से (कतमः चन) कोई भी (न मुच्यातै) न मुक्त हो सके, छूट सके। उब्ज् = subdue (आप्टे)।

बृहत् ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य।
तेनं शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया ॥७॥

(इन्द्र शूर) हे शूर सम्राट्! (बृहतः) महान् (सहस्रार्घस्य) हजारों भेंटों[१] वाले (शतवीर्यस्य) सैंकड़ों वीरकर्मों वाले (ते) तुझ सम्बन्धी (जालम्) जाल (बृहत्) बड़ा है। (तेन) उस जाल द्वारा (शक्रः) शक्तिशाली सेनापति ने (अभिधाय) बांध कर (दस्यूनाम्) उपक्षयकारियों के (शतम्) सौ (सहस्रम्) हजार, (अयुतम्) १० हजार (न्यर्बुदम्) तथा लाखों सैनिकों को, (सेनया) सेना द्वारा (जघान) मार दिया।

अयं लोको जालमासीच्छक्रस्य महतो महान्।
तेनाहमिन्द्रजालेनामूंस्तमसाभि दधामि सर्वान् ॥८॥

(अयम् महान् लोकः) यह महालोक अर्थात् ब्रह्माण्ड (शक्रस्य) शक्तिशाली (महतः) महान् सम्राट् का (जालम् आसीत्) जाल था, (तेन इन्द्र-

१. जिसे साम्राज्य के राजा, सामन्त तथा प्रजाएं भेंटे देते हैं।

जालेन, तमसा) सम्राट् के उस जाल द्वारा तथा तमस् द्वारा (अहम्) मैं सेनाध्यक्ष (अमून् सर्वान्) उन सब [शत्रु सैनिकों] को (अभिदधामि) बांधता हूं।

[ब्रह्माण्ड के लोक-लोकान्तरों से आक्रमणकारी[१] शत्रु-सैनिकों को, तामसास्त्र द्वारा, तमस् से घेर कर, उन्हें निःशक्त कर देने का वर्णन वेदमन्त्र में हुआ है। तामसास्त्र का वर्णन यथा, (अथर्व० ३।२।५,६)। यथा —

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून् ॥५॥
असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ॥६॥

तामसास्त्र को मन्त्र में "अप्वा" कहा है। अप्वा = अप + वा (गतौ), फैंकने वाले से पृथक् होकर शत्रु की ओर जाने वाला तामसास्त्र। मरुतः = मरने मारने वाले सैनिक। मन्त्र में नरसंहारी अस्त्रों के स्थान में तामसास्त्र के प्रयोग का विधान किया है, जिस से तमस् के आवरण से आवृत होकर शत्रुसैनिक कर्म से रहित हो जांय, और परस्पर एक-दूसरे को पहचान न सकें]।

सेदिरुग्रा व्यृद्धिरार्तिश्चानपवाचना।
श्रमस्तन्द्रीश्च मोहश्च तैरमूनभि दधामि सर्वान् ॥९॥

(उग्रा सेदिः) उग्र अवसाद (व्यृद्धिः) ऋद्धि अर्थात् सम्पत्ति का विगत हो जाना, (च) और (अनपवाचना) जिस का कि अपाकरण कहा नहीं जा सकता ऐसी (आर्तिः) मानसिक पीड़ा (श्रमः) परिश्रम या थकावट, (तन्द्रीः च मोहः च) आलस्य और पारिवारिक मोह, (तैः) उन द्वारा (अमून् सर्वान्) उन सब शत्रुओं को (अभिदधामि) मैं बांधता हूं, जकड़ देता हूं।

[अवसाद = निराशा, निरुत्साह। अनपवाचना = अन् + अप (अपाकरण) + वाचना]।

१. मन्त्र में संभाव्य आक्रमणों का पूर्वनिर्देश किया है। मानुष जनता को सचेत करने के लिये।

मृत्यवेऽमून् प्र यच्छामि मृत्युपाशैरमी सिताः ।
मृत्योर्ये अघला दूतास्तेभ्य एनान् प्रति नयामि बद्ध्वा ॥१०॥

(अमून्) उन्हें (मृत्यवे) मृत्यु के प्रति (प्रयच्छामि) मैं देता हूं (अमीः) वे (मृत्युपाशैः) मृत्यु के फंदों द्वारा (सिताः) बन्धे हुए हैं। (मृत्योः) मृत्यु के (ये) जो (अघलाः) हत्यारे (दूताः) दूत हैं (तेभ्यः) उन के प्रति (एनाम्) इन्हें (बद्ध्वा) बांध कर (प्रतिनयामि) प्रत्येक को, मैं लाता हूं।

[अघलाः="अघं हन्तेर्निर्ह्रसितोपसर्ग आहन्तीति" (निरुक्त ६।३।१२; पद ४३, ४४)+लाः (वाले)। यथा मधुलाः, मधुराः। सिताः=षिञ् बन्धने (स्वादिः)]।

नयतामून् मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत ।
परःसहस्रा हन्यन्तां तृणेढ्वेनान् मत्यं भवस्य ॥११॥

(मृत्युदूताः) हे मृत्यु के दूतो! (अमून्) उन [शत्रुओं] को (नयत) ले जाओ, (यमदूताः) हे यम के दूतो! (अपोम्भत) इन की सम्पूर्ण शक्तियों से इन्हें अलग कर दो। (परः सहस्राः) हजार से भी अधिक ये (हन्यन्ताम्) मार दिये जायें (एनान्) इन्हें (भवस्य) भव का (मत्यम्) वज्र (तृणेढु) हिंसित करे।

[भवस्य=शासक दो प्रकार के होते हैं "भव" अर्थात् नई-नई उत्पत्तियों द्वारा प्रजा का पालन करने वाला नागरिक अध्यक्ष, तथा "शर्व" शत्रुओं को जीर्ण-शीर्ण करने वाला सेनाध्यक्ष। युद्ध की घोषणा का अधिकार "भव" का होता है, अतः युद्ध सम्बन्धी वज्र का अधिष्ठाता "भव" है। मृत्यु और यम कविकल्पित हैं। मृत्यु और यम परमेश्वर के नाम हैं। मृत्यु है मारने वाला, और यम है नियन्ता। यथा "स एव मृत्युः सोऽमृतम्" (अथर्व० १३।४(३)।४); तथा "सो अग्निः स उ सूर्यः स एव महायमः" (अथर्व० १३।४(१)।५)। अपोम्भत=अप (पृथक्)+उम्भ पूरणे (तुदादिः)। तृणेढु=तृह हिंसायाम् (रुधादिः)। मत्यम्=मतिपूर्वक निर्मित वज्र]।

साध्या एकं जालदण्डमुद्यत्य यन्त्योजसा ।
रुद्रा एकं वसव एकमादित्यैरेक उद्यतः ॥१२॥

(साध्याः) साध्य (एकम्) एक (जालदण्डम्) जालदण्ड को (उद्यत्य) उठा कर (ओजसा) ओज के साथ (यन्तु) चलें, (रुद्राः) रुद्र (एकम्) एक को, (वसवः) वसु (एकम्) एक को [उठा कर ओज के साथ चलें] (आदित्यैः) आदित्यों द्वारा (एकः) एक जालदण्ड (उद्यतः) उठाया गया है।

[शत्रु द्वारा राष्ट्र पर जब आक्रमण हो जाए, तब महात्मगण और पठितगण भी राष्ट्ररक्षार्थ युद्ध में सहयोग दें। जाल हैं पृथिवी, अन्तरिक्ष और महालोक (मन्त्र ४-८); और दण्ड हैं इन युद्धों को सहारा देने की शक्तियां। इन शक्तियों को अवलम्ब देने वाले हैं साध्य, रुद्र, वसु और आदित्य। ये मनुष्य हैं। साध्याः है महात्मगण (यजु० ३१।९), यथा "साध्याः ऋषयश्च"। और वसु, रुद्र, आदित्य हैं स्नातक, पठितगण। इन महात्माओं और पठितों के सहयोग से उत्साहित हो कर प्रजावर्ग भी युद्ध-निमित्त अपने-आप को न्योछावर कर देता है]।

विश्वे देवा उपरिष्टादुब्जन्तो यन्त्वोजसा ।
मध्येन घ्नन्तो यन्तु सेनामङ्गिरसो महीम् ॥१३॥

(विश्वे देवाः) सब विजिगीषु-सैनिक, (उपरिष्टात्) विमानों द्वारा शत्रुओं को, ऊपर की ओर से (उब्जन्तः) ऋजु करते हुए, (ओजसा) ओज से (यन्तु) गति करें। और (अङ्गिरसः) अङ्गारों के सदृश झुलसाने वाले सैनिक (मध्येन) मध्यवर्ती अन्तरिक्ष से (महीम्, सेनाम्) शत्रुओं की महती सेना को (घ्नन्तः) मारते हुए (यन्तु) गति करें।

[शत्रुसेना, जब अन्तरिक्ष में स्थित हुई, निज सेना पर प्रहार करती हो, तो उस सेना से और ऊपर जा कर, निज सैनिक, उन की प्रहरण शक्ति को ऋजु कर दें, ढीली कर दें, ताकि उन की प्रहरण-शक्ति कम हो जाय। और यदि शत्रुसेना पृथिवीस्थ हुई प्रहार करती हो तो अङ्गारों के सदृश झुलसाने वाले निज सैनिक अन्तरिक्षस्थ हो कर शत्रुओं को मारते हुए विचरें।

विश्वे देवाः=विश्वे (सब)+देवाः (विजिगीषवः) "दिवु क्रीडा-विजिगीषा आदि (दिवादिः)। अङ्गिरसः="अङ्गारेषु अङ्गिराः" (निरुक्त २।३।१७) उब्जन्तः=उब्ज आर्जवे (तुदादिः)]।

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः ।
द्विपाच्चतुष्पादिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥१४॥

(वनस्पतीन्, वानस्पत्यान्) फलदार वृक्षों, (ओषधीः) ओषधियों, (उत) तथा (वीरुधः) लताओं को, (द्विपात्, चतुष्पाद्) तथा दो-पायों और चौपायों को (इष्णामि) मैं बार-बार भेजता हूं (यथा) ताकि वे (अमूम्, सेनाम्) उस सेना का (हनन्) हनन करें।

[अभिप्राय यह है कि युद्ध में पकड़े गये सैनिकों को, वृक्षों के फलों, ओषधियों और सब्जी लताओं को पूर्व से ही विषाक्त कर, उनके घेरे में रखना चाहिये, ताकि उन्हें खा कर और ओषधियों का सेवन कर वे स्वतः मरते चले जांय, और मांसभक्षी पक्षी तथा मांसभक्षी पशु उन्हें खाकर और उनका सर्वथा विनाश कर दें। इष्णामि = इष आभीक्ष्ण्ये (क्र्यादिः)। वृक्ष और लताएं तो पूर्वतः स्थित हैं, ओषधियों तथा मांसभक्षियों को बार-बार भेजने का निर्देश हुआ है। वनस्पतिः, वानस्पत्यः = "वानस्पत्यः फलैः पुष्पात् तैरपुष्पाद् वनस्पतिः" अर्थात् जिन पर विना फूलों के फल लगें वे वृक्ष वनस्पति हैं, तथा जिन पर फूलों के पश्चात् फल लगें वे वृक्ष वानस्पत्य हैं। उद्देश्य है "हनन", अतः हननोपायों का अवलम्बन कहा है]।

गन्धर्वानप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् ।
दृष्टानदृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥१५॥

(गन्धर्वान्[1] अप्सरसः) गानविद्याविज्ञ गायकों और उनकी गायिका पत्नियों (सर्पान्) सर्पों (देवान्) देवों (पुण्यजनान्) पुण्यात्माओं (पितॄन्) बुजुर्गों (दृष्टान-दृष्टान्) जो कि ज्ञात और अज्ञात[2] हैं उन्हें (इष्णामि) मैं बार-बार भेजता हूं, (यथा) ताकि वे (अमूं सेनाम्) उन बन्दीकृत सैनिकों को (हनन्) मार डालें।

[गायकों और गायिकाओं का प्रेषण सैनिकों के मनोविनोद के लिये है। पुण्यात्मजन और बुजुर्ग बहुरूपिये हैं, वास्तविक नहीं। ये सर्पसदृश हैं, जो कि गुप्तरूप में विषप्रयोग करते रहेंगे। वास्तविक पुण्यात्मा सर्पकृत्य नहीं कर सकते और न बुजुर्ग ही। बहुरूपियों को और गायक-गायिकाओं को

१. गान्धर्ववेद सामवेद का उपवेद है, जिसमें गायन विद्या का वर्णन है।
२. ऐसे अन्य बहुरूपिए जो कि गुप्तरूप से सर्पकृत्य कर सकें।

समय-समय पर भेजते रहना चाहिये ताकि बन्दीकृत सैनिकों में इनके प्रति विश्वास और श्रद्धा पैदा हो जाय, और इन द्वारा किये गए सर्पकृत्यों में वे शङ्कास्पद न हों, और शनैः-शनैः मृत्यु को प्राप्त होते जांय]।

इम उप्ता मृत्युपाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे ।
अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः ॥१६॥

(इमे) ये (मृत्युपाशाः) मृत्यु के फन्दे (उप्ताः) बीजरूप में बोए हैं, (यान् आक्रम्य) जिन पर पग रख कर [हे शत्रु सैनिक!] तू (न मुच्यसे) मृत्यु से छूट नहीं सकता। (इदम्, कूटम्) यह कूट प्रयोग (अमुष्याः सेनायाः) उस शत्रुसेना के (सहस्रशः) हजारों बन्दीकृत सैनिकों की (हन्तु) हत्या करे।

[इमे = मन्त्र १४, १५ में प्रयुक्त प्रयोग। दुष्कर्मियों के दुष्कर्मों के सर्वथा निराकरण के लिये उग्रप्रयोग वेदानुमोदित हैं]।

घर्मः समिद्धो अग्निनायं होमः सहस्रहः ।
भवश्च पृश्निबाहुश्च शर्व सेनाममूं हतम् ॥१७॥

(अग्निना) युद्धाग्नि के द्वारा (घर्मः) युद्धस्थलरूपी भाण्डा (समिद्धः) प्रदीप्त हो गया है (अयम्) यह (होमः) प्रत्येक सैनिक की आत्माहुति (सहस्रहः) हजारों शत्रुसैनिकों का हनन करने वाली है। (शर्व) हे शर्व! तू (च) और (पृश्निबाहुः भवः च) पृश्निबाहु भव [अर्थात् तुम दोनों] (अमूम् सेनाम्) उस शत्रु सेना को (हतम्) मारो।

["घर्म" का अभिप्राय हैं "घर्मदुघा" नामिका गौ से दुहा दूध। मन्त्र में घर्मः का अभिप्राय है घर्मपात्र, जिसमें कि अग्नि द्वारा प्रतप्त करने के लिये दुहा दूध गर्म किया जाता है। इस याज्ञिक प्रक्रिया द्वारा युद्ध का वर्णन किया गया है। युद्धस्थल है घर्मपात्र, अग्नि है युद्धाग्नि, और दुग्ध है सैनिकाहुति। शर्व है सेनाधिपति, भव है नागरिक अध्यक्ष, इसे पृश्निबाहु कहा है। पृश्नि है नाना वर्णों से रञ्जित पृथिवी। पृथिवी के रक्षार्थ, बाहुओं वाला "भव" है। पृश्निबाहु में मध्यपदलोपी समास है। पृश्निः = भूमिः (सायण ऋक् १।२३।१०)]।

मृत्योराषमा पद्यन्तां क्षुधं सेदिं वधं भयम् ।
इन्द्रश्चाक्षुजालाभ्यां शर्व सेनाममूं हतम् ॥१८॥

[शत्रु सैनिक] (मृत्योः आषम्) मृत्यु की दीप्ति [प्रचण्डता, क्रोध]

को (आपद्यन्ताम्) प्राप्त हों, अर्थात् (क्षुधम्, सेदिम्, वधम् भयम्) भूख, अवसाद, वध और भय को। (शर्व) हे शर्व ! तू (च) और (इन्द्रः) सम्राट् (अक्षुजालाभ्याम्) विस्तृत दो जालों द्वारा (अमूम्) उस (सेनाम्) सेना को (हतम्) मारो।

[आषम्=अस गतिदीप्त्यादानेषु। अष इत्येके (भ्वादिः)। "अष" का दीप्त्यर्थ "आषम्" में अभिप्रेत है। दीप्ति का अभिप्राय है प्रचण्डता, क्रोध। यह दीप्ति है क्षुधा, अवसाद, वध और भय। क्षुधा आदि द्वारा मृत्यु हो जाती है। अक्षुजालाभ्याम्=अक्षु (अक्षू व्याप्तौ, भ्वादिः) अर्थात् विस्तृत दो जालों द्वारा। ये दो हैं (१) समिद्धः धर्मः, और (२) होमः (मन्त्र १७)। मन्त्र (१७) में भव और शर्व का वर्णन हुआ है। मन्त्र (१८) में इन्द्र और शर्व का। भव है माण्डलिक राजा, इन्द्र है सम्राट्]।

पराजिताः प्र त्रसतामित्रा नुत्ता धावत ब्रह्मणा।
बृहस्पतिप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥१९॥

(अमित्राः) हे अमित्र शत्रु सैनिको ! (ब्रह्मणा) ब्रह्मवेद अर्थात् अथर्ववेद की विधि द्वारा (पराजिताः) पराजित हुए तुम (त्रसत) त्रास अर्थात् भय को प्राप्त होओ, और (प्रनुत्ता) धकेले गए तुम (धावत) भाग जाओ। (बृहस्पतिप्रणुत्तानाम्) बृहती सेना के पति द्वारा धकेले गए (अमीषाम्) इन में से (कश्चन) कोई भी (मा मोचि) मृत्यु से न छूटे।

[ब्रह्म है ब्रह्मवेद अर्थात् अथर्ववेद। अथर्ववेदोक्त विधि द्वारा शत्रु पराजित किये जाते हैं, और बृहस्पति द्वारा धकेले जाते हैं। बृहस्पतिः, यथा—

इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ॥
(यजु० १७।४०)

इस मन्त्र में इन्द्र=सम्राट्। बृहस्पतिः=बृहती सेना का पति, अर्थात् साम्राज्य की समग्र सेना का पति। सोमः=सेनानायक। मरुतः=मारने में कुशल सैनिक]।

अव पद्यन्तामेषामायुधानि मा शकन् प्रतिधामिषुम्।
अथैषां बहु बिभ्यतामिषवो घ्नन्तु मर्मणि ॥२०॥

(एषाम्) इन के (आयुधानि) आयुध (अव पद्यन्ताम्) नीचे गिर जांय ये (इषुम्, प्रतिधाम्) शरसंधान (मा शकन्) न कर सकें। (अथ) तब (बहु बिभ्यताम्) बहुत भयभीत हुए (एषाम्) इन के (मर्मणि) मर्मस्थलों में (इषवः) हमारे इषु बाण (घ्नन्तु) प्रहार करें।

[प्रतिधाम् इषुम्=इषु का धनुष् पर चढ़ाना]।

सं क्रोशतामेनान् द्यावापृथिवी समन्तरिक्षं सह देवताभिः।
मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम् ॥२१॥

(द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक (सम्) मिलकर (एनान्) इन्हें (क्रोशताम्) कोसें (अन्तरिक्षम्, देवताभिः सह) देवताओं के सहित अन्तरिक्ष (सम्) सम्यक् कोसे। (मा ज्ञातारम्) न किसी परिचित को (मा प्रतिष्ठाम्) न ठहरने के स्थान को (विदन्त) ये प्राप्त करें, (मिथः) परस्पर (विघ्नानाः) हनन करते हुए (मृत्युम्) मृत्यु के (उप) समीप (यन्तु) चले जांय।

[अभिप्राय यह कि समग्र संसार इन्हें कोसे, क्योंकि शान्तप्रकृतिक राज्य पर इन्होंने आक्रमण किया था। समग्र संसार के लोकलोकान्तर परस्पर ऐसे सम्बद्ध हैं, जैसे कि अस्मदादि शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग। और इन में प्राणियों तथा मनुष्यों और मुक्तात्माओं [देवताओं] का भी निवास है। ये सब परस्पर मिलकर सांसारिक घटनाओं से प्रभावित होते रहते हैं। अतः इन द्वारा कोसना कोई अस्वाभाविक बात नहीं। समग्र संसार एक महानात्मा परमेश्वर के शरीरवत् है। इसलिये परस्पर में शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गवत् सम्बद्ध है।

महर्षि दयानन्द का निम्नलिखित कथन, इस सम्बन्ध में उपयुक्त ही है, यथा—

"ये सब भूगोल, लोक और इनमें मनुष्यादि प्रजा भी रहती है। जैसे परमेश्वर का छोटा सा लोक, मनुष्यादि सृष्टि से भरा हुआ है तो क्या ये सब लोक शून्य होंगे" इत्यादि (सत्यार्थप्रकाश, अष्टम समुल्लास)। इस प्रकार द्युलोक और पृथिवी लोक के निवासियों द्वारा कोसना उपपन्न हो सकता है]।

दिशश्चतस्रोऽश्वतर्यो देवरथस्य पुरोडाशाः शफा अन्तरिक्षमुद्धिः।
द्यावापृथिवी पक्षसी ऋतवोऽभीशवोऽन्तर्देशाः किंकरा वाक् परिरथ्यम् ॥२२॥

(चतस्रः दिशः) चार दिशाएं हैं (अश्वतर्यः) चार खच्चरियां (देवरथस्य) परमेश्वर देव के रथ की, (पुरोडाशाः) पुरोडाश हैं (शफाः) खुर, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष है (उद्धिः) रथ की ऊंचाई। (द्यावापृथिवी) द्युलोक और पृथिवीलोक हैं (पक्षसी) रथ के दो पक्ष, पार्श्व, (ऋतवः) ऋतुएं हैं (अभीशवः) लगामें (अन्तर्देशाः) दिशाओं के मध्यवर्ती दिशाएं हैं (किंकराः) भृत्य, (वाक्) वाक् है (परिरथ्यम्) रथ के पहियों पर चढ़ा हाल अर्थात् लोहचक्र।

[जगत् में रथ का, तथा जगत् के घटकों में रथ के घटकों का आरोप किया है। "रथ" की दो अभिप्रेत व्युत्पत्तियाँ हैं, (१) "रथः रंहतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः", (२) "रममाणोऽस्मिन् तिष्ठतीति वा" (निरुक्त ९।२।११)। आरोप द्वारा दर्शाया है कि जगत् गतिमान् है, तथा इसमें देवाधिदेव परमेश्वर रममाण हुआ स्थित है। इसीलिये जगत् को "देवरथ" कहा है।

पुरोडाश यज्ञिय हैं जो कि गोल होते हैं, अतः इन्हें अश्वतरियों के शफाः अर्थात् खुर कहा है, खुर गोल होते हैं। उद्धिः=उद्+धा+किः। अन्तर्देशाः=उपदिशाएं ऐशानी, आग्नेयी, नैर्ऋती, वायवी। वाक्=पारमेश्वरी वाक्, वेदवाक्, जिसमें प्रतिपादित नियमों के अनुसार परमेश्वर जगत् की रचना करता तथा संचालन करता है। जैसे पारमेश्वरी वेदवाक् जगत् की रक्षिका है, वैसे रथ के पहियों पर चढ़ा लोहचक्र पहियों की रक्षा करता है।

देवरथ के अवयव

चतस्रः दिशः=चतस्रः अश्वतर्यः	ऋतवः अभीशवः (लगामें)
पुरोडाशाः=शफाः	अन्तर्देशाः=किंकराः (भृत्य)
अन्तरिक्षम्=उद्धिः(रथ की ऊंचाई)	वाक्=परिरथ्यम् (पहियों के लोह चक्र)
द्यावापृथिवी=पक्षसी(रथ के दो पार्श्व)	

सं॒व॒त्स॒रो रथः॑ परिवत्स॒रो र॑थोप॒स्थो वि॒राडी॒षाग्नी र॑थमु॒खम्।
इन्द्रः॑ सव्य॒ष्ठाश्च॒न्द्रमाः॒ सार॑थिः ॥२३॥

(संवत्सरो रथः) संवत्सर है रथ, (परिवत्सरो रथोपस्थः) परिवत्सर है रथ में बैठने का स्थान, (विराट् ईषा) विराट् है रथ का दण्ड जो कि जुए (yoke) के साथ लगा रहता है, (अग्निः रथमुखम्) अग्नि है रथ का मुख, (इन्द्रः) सूर्य है (सव्यष्ठाः) रथ के बाईं ओर स्थित रथ का स्वामी, (चन्द्रमाः) चन्द्रमा है (सारथिः) सारथि।

[संवत्सरः=वर्ष, पृथिवी का एक भ्रमण, सूर्य की परिक्रमा के रूप में। संवत्सर का वर्णन यथा—

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभिचक्रमजरमनर्वं यत्रेमा: विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥ (ऋ० १।१६४।२)

"एक चक्रवाला रथ[1] है सूर्यमण्डल, इस रथ में ७ रश्मियां जुती हुई हैं, परन्तु वे परस्पर मिलकर एक शुक्लरश्मिरूप हैं, अतः एकरश्मिरूपी अश्व ही सूर्यमण्डल का वहन करता है। यह एक शुक्लरश्मि, सातरश्मियों में परिणत होती है। संवत्सररूपी-चक्र की तीन नाभियां हैं तीन ऋतु; ग्रीष्म, वर्षा और हेमन्त। यह संवत्सर चक्र जीर्ण नहीं होता और न इसके चलाने वाला कोई चतुष्पाद् "अर्वा" अर्थात् घोड़ा है। इस संवत्सर चक्र में सब सौर-भुवन अधिष्ठित हैं" (निरुक्त ४।४।२७)।

७ रश्मियां=वर्षा काल में अन्तरिक्ष में कभी-कभी दृष्टिगोचर होने वाला इन्द्रधनुष, जिसमें कि सप्तरंगी ७ पट्ट दिखाई देते हैं। ये ही सात रश्मियां Spectrum में दिखाई देती हैं, यथा, Red (लाल) Orange (नारङ्गी रंग), Yellow (पीत), Green (हरा), Blue (नीला), Indigo (नील के पौधे से निकाले रंग जैसा) Violet (बेंगनी रंगवाली)। इस सम्बन्ध में निरुक्त में भी कहा है "सप्तास्मै रश्मयोरसान् संनामयन्ति" (निरुक्त ४।४।२७)।

संवत्सर रथ के अवयव

संवत्सरः=रथः	अग्निः=रथमुखम्
परिवत्सरः=रथोपस्थः	इन्द्रः=सव्यष्ठाः (बाईं ओर स्थित)
विराट्=ईषा	चन्द्रमाः=सारथिः(दाईं ओर स्थित)

व्याख्या

संवत्सरः=पृथिवी की एक बार सूर्य की परिक्रमा का काल। परिवत्सरः=सूर्य के दूरस्थग्रह शनैश्चर का एक वार सूर्य की परिक्रमा का काल। विराट्=विशेषेण राजते दीप्यते, असौ विराट्=आग्नेयगोला, जिससे कि सौरपरिवार पैदा हुआ। यथा "ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः। स जातोऽत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः। (यजु० ३१।५)। इस मन्त्र में विराट् से भूमि, पुरः (प्राणियों के शरीर), पृषदाज्य, आरण्य-ग्राम्य पशुओं,

१. रथ स्वयं निर्मित नहीं होता। इस की सत्ता, इस के निर्माता को सूचित करती है। संवत्सर को रथ कह कर इसके निर्माता परमेश्वर सूचित किया है।

(६), ऋग्वेदादि वेदों (७), अश्वों, गौओं, अजावयः (८) का क्रमशः वर्णन हुआ है, जिनका कि सम्बन्ध सौर-जगत् के साथ है। अतः यजुर्वेदीय विराट् सौर जगत् का ही मूल कारण प्रतीत होता है। अग्निः=संवत्सर रथ का मुख है। अर्थात् इस रथ के अग्रभाग में जुती हुई प्रतीत होती है, जो कि संवत्सर रथ का वहन कर रही है। वस्तुतः संवत्सर का प्रारम्भ चैत्र मास से होता है, जबकि सौराग्नि दक्षिण से उत्तर की ओर प्रदीप्त होने लगती है। इसलिए अग्नि संवत्सर-रथ के मुख में जुती हुई है—यह कथन उपयुक्त ही है। इन्द्रः चन्द्रमाः=इन्द्र अर्थात् सूर्य की, और चन्द्रमा की स्थिति परस्पर विरुद्ध दिशाओं में होती है। सूर्य पूर्व में उदित होता और चन्द्रमा पश्चिम में। सूर्य भूमध्यरेखा के दक्षिण में होता तो पूर्ण चन्द्रमा भूमध्यरेखा के उत्तर में। अतः जब सूर्य को रथ में "सव्यष्ठाः" कहा है, तो पूर्ण चन्द्रमा उसका सारथि रथ के दक्षिण में स्थित होगा ही]।

इतो जयेतो वि जय सं जय जय स्वाहा।
इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहाऽमीभ्यः।
नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि ॥२४॥

(इतः) इधर से (जय) तू जीत (इतः) इधर से (विजय) विजय को प्राप्त हो, (संजय) सम्यक् जीत, (जय) जीत (स्वाहा) तेरा उत्तम त्याग हो। (इमे) ये [हमारे सैनिक] (जयन्तु) जीतें (अमी) और वे [शत्रु] (पराजयन्ताम्) पराजय को प्राप्त हों, (एभ्यः) इन [हमारे सैनिकों] के लिये (स्वाहा) उत्तम-त्याग हो, (अमीभ्यः) उन [शत्रुओं] के लिये (दुराहा) दुःखदायी या बुरा त्याग हो। (नीललोहितेन) नील और लोहित द्वारा (अमून्) उन शत्रुओं को (अभि) लक्ष्य करके (अवतनोमि) मैं अब धनुषों की डोरियां ढीली कर देता हूं।

[स्वाहा=सु+आ+हाक् त्यागे। (जुहोत्यादिः)। दुराहा=दुर्+आ+हाक् त्यागे। नीललोहितेन=सप्तरश्मियों (मन्त्र २३) को नील और लोहित रश्मियों द्वारा "अवतनोमि"। इन दो रश्मियों के प्रयोग द्वारा शत्रुपक्ष को झुलसा देना होता है, तब अपने धनुषों की डोरियां ढीली कर देनी होती हैं, क्योंकि शत्रु रहे ही नहीं। नील और लोहित [लाल] रश्मियां, रश्मि-सप्तक के दो किनारों अर्थात् सीमान्तों की रश्मियां हैं, तथा देखो अथर्व० (१५।१।६-८)। "स्वाहा" का वेदानुमत निर्वचन=सु+आ+हा(त्यागे)]।

काण्ड ८ अनुवाक ४ सूक्त ८ समाप्त

सूक्त ९

विषय-प्रवेश (रहस्य सूक्त)

(१) सूर्य द्युलोक से, चन्द्रमा पृथिवी से उत्पन्न (मन्त्र १)।
(२) त्रिभुज ब्रह्माण्ड में परमेश्वर का शयन (२)।
(३) त्रीणि बृहन्ति=ऋक्, यजुः, साम। तथा चतुर्थम् वाचम्=अथर्व-वेद (३)।
(४) अक्षर छन्द तथा मात्रिक छन्द। पारमेश्वरी प्रज्ञा से अस्मत्प्रज्ञा का निर्माण (५)।
(५) वैश्वानर-परमेश्वर की प्रतिमा=द्यौः। तथा दो सन्ध्या कालों में परमेश्वर की उपासना (६)।
(६) कश्यप-परमेश्वर से ६ ऋषियों द्वारा जिज्ञासा (७)।
(७) यज्ञकर्म परमेश्वरार्थक हैं (८)।
(८) परमेश्वर के दो स्वरूप विराट् और स्वराज्। परमेश्वर का दर्शन कई करते हैं, कई नहीं (९)।
(९) परमेश्वरीय कर्मधर्मों का वास्तविक ज्ञान दुष्कर है (१०)।
(१०) उषाओं में पारमेश्वरी-माता चमकती है (११)।
(११) प्रतिदिन की दो उषाएं प्रातः कालीन तथा सायंकालीन (१२)।
(१२) तीन शक्तियों और तीन धर्मों के कार्य (१३)।
(१३) यज्ञरूपी पुरुष के स्वरूप के ४ घटक (१४)।
(१४) पञ्चनाम्नी गौ (१५)।
(१५) त्रिविधा द्यौः, त्रिविधा पृथिवी (१६)।
(१६) सप्तगृध्राः के स्वरूप (१८)।
(१७) छन्दों और स्तोमों का वर्णन (१९, २०)।
(१८) अष्टपुत्रा अदिति, तथा अष्टमी रात्री (२१)।
(१९) गोदुग्ध के अधिकारी (२४)।
(२०) एक है गौ, एक है ऋषि, एक है यक्ष, एक है ऋतु (२६)।
(२१) अष्टमी रात्रि (मन्त्र २१)=एकाष्टका (देखो सूक्त ९ की समाप्ति पर "एकाष्टका परिशिष्ट", मन्त्र १-१३)।

पञ्चम अनुवाक

सूक्त ९

१-२६ अथर्वा। कश्यपः, सर्वे ऋषयः, छन्दांसि च। त्रिष्टुप्; २ पंक्तिः; ३ आरतारपंक्तिः; ४,५,२३,२५,२६ अनुष्टुप्; ८, ११, १२, २२ जगती; ९ भुरिक्; १४ चतुष्पदातिजगती।

कुतस्तौ जातौ कतमः सो अर्धः कस्माल्लोकात् कतमस्याः पृथिव्याः।
वत्सौ विराजः सलिलादुदैतां तौ त्वा पृच्छामि कतरेण दुग्धा ॥१॥

(कुतः) किस उपादान कारण से (तौ) वे दो (जातौ) पैदा हुए, (कतमः) कौन सा (सः) वह (अर्धः) समृद्ध[1] भाग था, (कस्मात् लोकात्) किस लोक से, तथा (कतमस्याः[2] पृथिव्याः) किस पृथिवी से। (विराजः) विराट् के (वत्सौ) दो वत्स (सलिलात्) सलिल से (उदैताम्) उदित हुए, (तौ) उन दो के सम्बन्ध में (त्वा पृच्छामि) तुझे मैं पूछता हूं कि (कतरेण) दो में से किस ने (दुग्धा) विराट् दोही थी।

["तौ" द्वारा सूर्य और चन्द्रमा का निर्देश हुआ है, और "कुतः" द्वारा उपादान कारण का। सूर्य और चन्द्रमा प्रकृति रूपी उपादान कारण से उत्पन्न हुए। "कतमः" प्रकृति का पूर्व-दिशा[1] का भाग था, जोकि "अर्धः" अर्थात् समृद्ध हुआ था, घना हुआ था, जहाँ से कि सूर्य और चन्द्रमा पैदा हुए। इस दिशा को "पूर्वे अर्धे" कहा है, अथर्व० (४।२।६)। प्रकृति के

१. इसलिये ग्रह, सूर्य, नक्षत्र और तारागण, निज धुरी पर, पश्चिम से पूर्व की ओर घूमते हैं, Revolve कर रहे हैं।

२. पैप्पलाद शाखा में "कतमस्याः" के स्थान में "कतरस्याः" पाठ है। "तरप्" प्रत्यय द्वारा दो पृथिवियां सूचित की है, सम्भवतः पृथिवी और मंगल। मंगल को "भौम" कहते हैं, अर्थात् भूमि से उत्पन्न हुआ। सम्भवतः जैसे भूमि में मंगल की उत्पत्ति सूचित की है, इसी प्रकार पृथिवी से मूलतः चन्द्रमा भी उत्पन्न हुआ हो या मंगल से फटकर चन्द्रमा पैदा हुआ है और पृथिवी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के अधिक होने से चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह हो गया हो। और पृथिवी के सामुद्रिक अवतान अर्थात् गढ़े से हिमालय पर्वत का उत्थान हुआ हो। अर्थात् इस गढ़े का लावा ही हिमालय के उत्थानरूप में प्रकट हुआ हो।

भिन्न-भिन्न भागों से भिन्न-भिन्न नक्षत्र तथा तारा पैदा हुए,—यह दर्शाने के लिये "कतमः" में "तमप्" प्रत्यय हुआ है। "तमप्" प्रत्यय कम से कम तीन का सूचक है, जोकि प्रकृति के भिन्न-भिन्न भागों का निर्देशक है। "कस्मात् लोकात्" द्वारा प्रश्न किया है कि सूर्य किस लोक से पैदा हुआ। उत्तर से स्पष्ट है कि द्युलोक से। सूर्य का स्थान द्युलोक ही है। चन्द्रमा के सम्बन्ध में पूछा है कि वह किस पृथिवी से पैदा हुआ। पृथिवी त्रिविधा है, जलभाग, स्थलभाग और पर्वतभाग। इस दृष्टि से कहा है कि "चन्द्रमा" पृथिवी के किस भाग से उत्पन्न हुआ। चन्द्रमा पृथिवी की परिक्रमा करता है, अतः पृथिवी से पैदा हुआ कहा है, जैसे कि ग्रह, सूर्य की परिक्रमा करते और सूर्य से पैदा हुए हैं। सम्भवतः जहां समुद्रजल है उस स्थल से चन्द्रमा पैदा हुआ हो। सूर्य और चन्द्रमा "विराट्" नाम वाली प्रकृति से पैदा हुए थे, इस लिये इन्हें "विराजः वत्सौ" कहा है। ये दोनों "सलिलात्" "सति लीनं सलिलम्" प्रलय काल में सत्परमेश्वर में लीन प्रकृति से "उदैताम्" उदित हुए थे। तथा परमेश्वर और जीव इन दो में से "कतरेण" अर्थात् परमेश्वर द्वारा प्रकृति दोही गई थी, जिस से कि सूर्य और चन्द्रमा पैदा हुए। जीवात्मा इस दोहन में निमित्त कारण थे, भोगापवर्गदृष्टि से]।

यो अक्रन्दयत् सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः।
वत्सः कामदुघो विराजः स गुहा चक्रे तन्वः पराचैः ॥२॥

(योनिम्) घर को (त्रिभुजम्) तीन भुजाओं वाला (कृत्वा) कर के (शयानः) उस में शयन करते हुए (यः) जिस ने (महित्वा) निज महिमा द्वारा (सलिलम्[1]) प्रकृति तत्त्वरूप सलिल को (अक्रन्दयत्) आक्रन्दन युक्त किया, गर्जना युक्त किया, और जो (कामदुघः विराजः) कामना का दोहन करने वाली विराट् अर्थात् विराजमान, विशेषेण दीप्यमान प्रकृति का (वत्सः) वत्सरूप है, या उसमें बसा हुआ है (सः) उस परमेश्वर ने (गुहा) गुह्यस्थानों में, अज्ञात स्थानों में (पराचैः) दूर-दूर तक (तन्वः) विस्तृत लोक-लोकान्तरों को (चक्रे) उत्पन्न किया है।

१. "सति ब्रह्मणि लीनम्" प्रलय में सद्ब्रह्म में लीन प्रकृति तत्व (ऋ० १०। १२९।३) यथा 'सर्वं सलिलमा इदम्'।

[योनिः गृहनाम (निघं० ३।४)। त्रिभुजयोनिः[1]=प्रकृति, बद्धजीव, और मुक्तजीव, ये जगत् की तीन भुजाएं हैं, इस त्रिभुज में परमेश्वर शयन कर रहा है, और शयन करता हुआ इनमें व्यवस्था कर रहा है। गौ से दूध मिलता है उसके वत्स के कारण। संसाररूपी विराट् से सुखसम्पत्तिरूपी दुग्ध मिलता है परमेश्वररूपी वत्स के कारण। प्रकृति से जब संसार पैदा हुआ तब प्रकृति में विशेष प्रकार का आक्रन्दन हुआ था (आक्रन्दयत्)]।

यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम्।
ब्रह्मैनद् विद्यात् तपसा विपश्चिद् यस्मिन्नेकं युज्यते यस्मिन्नेकम् ॥३॥

(यानि) जो (त्रीणि[2]) तीन (बृहन्ति[2]) बड़े वाक्य रूप हैं (येषाम्) जिन में के (चतुर्थम्) चौथे वाक्यरूप (वाचम्[3]) वाणी को [परमेश्वर] (वियुनक्ति) तीन वाणियों के साथ विशेषतया नियुक्त करता है, सम्बद्ध करता है, (एनत्) इस चौथे वाक्यरूप वाणी को (विपश्चित्) मेधावी (ब्रह्मा) चतुर्वेद-ज्ञाता व्यक्ति (तपसा) तपश्चर्या द्वारा (विद्यात्) जाने या प्राप्त करे। (यस्मिन्) जिस चतुर्थ में कि (एकम्) एक अद्वितीय ब्रह्म (युज्यते) सम्बद्ध है, (यस्मिन्) जिस चतुर्थ में कि (एकम्) एक अद्वितीय ब्रह्म सम्बद्ध है। [दो बार कथन दृढ़तासूचक है]।

---

१. त्रिभुजगृह

प्रकृति

बद्धजीव मुक्तजीव

२. "त्रीणि बृहन्ति" द्वारा ऋक्, यजुः साम को सूचित किया है। ये तीन मिल कर "अथर्ववेद" से बड़े हैं। अथर्ववेद के मन्त्र लगभग ६००० (६ हजार) हैं। शेष तीनों के लगभग १४००० मन्त्र हैं। तथा सर्वसाधारण के जीवनों के लिये ज्ञान, कर्म और उपासना —इन तीनों की आवश्यकता है, जिनका कि क्रमशः प्रतिपादन ऋक्, यजुः और साम में है। इसलिये मुख्य विषयों और मन्त्रों की दृष्टि से "त्रीणि" को "बृहन्ति" कहा है। चतुर्थवेद अर्थात् अथर्ववेद का विषय है "विज्ञान"। इसके लिये प्रत्येक मनुष्य अधिकारी नहीं।

३. अथर्ववेद को "वाचम्" कहा है। इस कथन से शेष तीन वेद भी "वाक्" रूप सूचित होते हैं। "वाक्" "संहिता" रूप होती है, पदरूप नहीं। इस से सूचित किया है कि परमेश्वर से प्राप्त वेद "संहिता" रूप में थे। इन का घटन पदों द्वारा नहीं हुआ। अपितु संहिता से पदों का विच्छेद हुआ है। पैप्पलाद शाखा में "त्रीणि" के स्थान में "चत्वारि" पठित है।

[मन्त्र में चार वेदों को "त्रीणि" और "चतुर्थम्" द्वारा वर्णित किया है। चौथा वेद है ब्रह्मवेद अर्थात् अथर्ववेद। इस वेद में परमेश्वर का वर्णन "ब्रह्मपद" द्वारा कई मन्त्रों में हुआ है, औ' इसका विषय भी भिन्न प्रकार का है—विज्ञान। इसलिये "चतुर्थम्" पद द्वारा "त्रीणि" पद से पृथक् वर्णन चतुर्थ का हुआ है। मन्त्र में वेदों को "वाक्" कहा है, अतः परमेश्वर द्वारा वाक्यरूप में, वाणीरूप में, वेद प्रकट हुए पदरूप में नहीं—यह भावना मन्त्र द्वारा प्रतीत होती है। चतुर्थवेद को "ब्रह्मा" तपस् द्वारा जाने, यह कथन वस्तुतः ठीक है। अथर्ववेद के वर्णन अतिगूढ़ और गहन हैं। निरुक्त में "नैषु प्रत्यक्षमस्ति, अनृषेः अतपसो वा" (१३।१।१५) द्वारा चारों वेदों के विषयों के प्रत्यक्षीकरण के लिये "तपस्" की आवश्यकता दर्शाई है। अथर्ववेद के विषयों के प्रत्यक्षीकरण के लिये व्याख्येय मन्त्र में "तपस्" का विशेषतया कथन किया है]।

बृहतः परि सामानि षष्ठात् पञ्चाधि निर्मिता।
बृहद् बृहत्या निर्मितं कुतोऽधि बृहती मिता ॥४॥

(बृहतः, षष्ठात्[1] परि अधि) ५ बृहत् पादों सहित छठे बृहत् पाद से अर्थात् ६ बृहत् पादों से (पञ्च सामानि) ५ साम [सामगान] (निर्मिता=निर्मितानि) निर्मित होते हैं। (बृहत्) बृहत् पाद (बृहत्याः) बृहती छन्द से (निर्मितम्) निर्मित होता है। (बृहती) बृहती छन्द (कुतः) किस से (मिता) निर्मित होता है?।

[सम्भवतः ५ बृहत्-पादों द्वारा ४ सामगान निर्मित होते हों, और ६ बृहत् पादों द्वारा ५वां बड़ा सामगान निर्मित होता हो, इसलिये षष्ठात् का पृथक् वर्णन हुआ हो। बृहत्-पाद बृहती छन्द द्वारा निर्मित होता है। बृहती छन्द में ३६ अक्षर होते हैं। बृहती छन्द अनुष्टुप् छन्द से ४ अक्षरों की वृद्धि द्वारा निर्मित होता है। साम के सम्बन्ध में कहा है कि "सहस्रवर्त्मा सामवेदः"। एक ही छन्दोमयी रचना को विविध नाना स्वरों में गाया जा सकता है। साम है स्वर। इस लिये सामवेद के मन्त्रों को हजार सामों अर्थात् हजार स्वरों में गाए जा सकने का निर्देश हुआ है। छान्दोग्य० उप०

---

१. "षष्ठाद् बृहतः" के कथन से "पञ्चबृहतः" अन्य आक्षिप्त होते हैं। अतः मन्त्रपठित "पञ्च" पद का अन्वय उभयत्र जानना चाहिये। यथा "पञ्चबृहतः" तथा "पञ्चसामानि"।

में कहा है कि "का साम्नो गतिः, स्वर इति" (अध्याय १ । खण्ड ८ । सन्दर्भ या कण्डिका ४) । अथर्ववेद में ८ सामों के नाम प्रतिपादित हैं । यथा "बृहत्, रथन्तर, यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, वैरूप, वैराज, श्यैत, नौधस" (काण्ड १५ । सूक्त ४ । मन्त्र ३, ५, ८, ११] ।

बृहती परि मात्राया मातुर्मात्राधि निर्मिता ।
माया ह जज्ञे मायाया मायाया मातली परि ॥५॥

(बृहती) बृहती छन्द (मात्रायाः परि) मात्रा से; (मात्रा) और मात्रा (मातुः अधि) निज परिमाण से (निर्मिता) निर्मित हुई है। (माया) प्रज्ञा (ह) निश्चय से (मायायाः) प्रज्ञा से (जज्ञे) पैदा हुई है, और (मायायाः परि) प्रज्ञा से (मातली) निर्माण की प्रतिष्ठा अर्थात् नींव प्रकट हुई है।

[बृहती-छन्द, "अक्षरों" की मापसंख्या से निर्मित होता है। परन्तु बृहती छन्द मात्राओं की मापसंख्या से भी निर्मित होता है—यह मन्त्र द्वारा सूचित होता है। दो प्रकार से छन्दों का निर्माण होता है, अक्षर संख्या द्वारा तथा मात्रासंख्या द्वारा। मात्रासंख्या द्वारा निर्मित छन्द को मात्रिक छन्द कहते हैं। मात्रा का निर्माण भी निज परिमाण द्वारा निश्चित होता है। ह्रस्व स्वर एक मात्रा का होता है, और दीर्घ स्वर दो मात्राओं का। माया=प्रज्ञा। "माया प्रज्ञानाम" (निघं० ३।९)। वेदों में प्रतिपादित प्रज्ञा [ज्ञान], पारमेश्वरी प्रज्ञा से पैदा हुई है। इस वैदिक प्रज्ञा से अस्मदादि की प्रज्ञा [ज्ञान] पैदा हुई है। और हमारी प्रज्ञा द्वारा जगत्-और-वैदिक छन्दों का निर्माण करने वाली "मातली" प्रकट होती है। मातली=मा (निर्माण) की प्रतिष्ठा अर्थात् आधारभूता पारमेश्वरी माता। मा+तल प्रतिष्ठायाम् (चुरादिः)] ।

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद् रोदसी विबबाधे अग्निः ।
ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः ॥६॥

(वैश्वानरस्य) सब नर-नारी रूप प्राणियों के हितकारी परमेश्वराग्नि का (प्रतिमा) प्रतिरूप है (उपरि द्यौः) ऊपर की द्यौः। (अग्निः) वह वैश्वानर-अग्नि (यावत्) जहाँ तक (रोदसी) पृथिवी-और-द्यौः फैले हुए हैं वहां तक (विबबाधे) विविध-जगत् का संयमन अर्थात् नियन्त्रण कर रही है उस के विघटन में बाधक हो रही है। (ततः) उस (अमुतः) दूरस्थ

(षष्ठात्) छठे भुवन से (स्तोमाः) वैदिकस्तुतिमन्त्र (आयन्ति) आते हैं, और (इतः, अह्नः) इस ब्राह्म दिन से (षष्ठम् अभि) छठे भुवन को लक्ष्य कर के (उद्यन्ति) उपरिस्थित वैश्वानर को पुनः पहुंच जाते हैं। अर्थात् वैदिक स्तोम ब्राह्मदिन में तो आते हैं, और ब्राह्मदिन से [ब्राह्मीरात्रि के प्रारम्भ में] वापिस चले जाते हैं। सृष्टिकाल तो ब्राह्म दिन है और प्रलय काल ब्राह्मी रात्री है।

[सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारागण अग्निरूप में चमक रहे हैं, द्यौः भी अग्नि-रूप में चमक रही है। द्यौः यद्यपि वैश्वानर अग्नि से चमकती है, तो भी वर्तमान निज चमक के कारण वह वैश्वानर अग्नि की प्रतिमारूप है। जैसे सूर्य के प्रकाश में न चन्द्र चमकता, न विद्युत्, न नक्षत्र-तारा चमकते, इसी प्रकार परमेश्वर की आग्नेय ज्योति के चमकते न सूर्य चमकता, न चन्द्र और तारे, न विद्युतें चमकतीं; अग्नि [पार्थिव अग्नि] का तो कहना ही क्या, अपितु उस परमेश्वर के चमकते ही ये सब चमक रहे हैं। उसको चमक द्वारा ही यह सब कुछ चमक रहा[2] है। परमेश्वर की यह दिव्य ज्योति समाधि में भासित होती है। परन्तु युक्ति द्वारा भी परमेश्वरीय ज्योति की सत्ता बुद्धिगम्य हो सकती है। प्रलय में सर्वत्र तम ही तम होता है। परमेश्वरीय कामना से जगत् जब पैदा होता है, तो जगत् की ज्योति भी परमेश्वरीय कामना से ही प्रकट होती है। अतः परमेश्वर ज्योतिर्मय है, यह समझा जा सकता है। इस लिये परमेश्वर को "आदित्य-वर्णम्" भी कहा है (यजु० ३१।१८)।

अमुतः षष्ठात् = पृथिवी के ऊपर उस छठे स्थान से या लोक से। यह छठा स्थान या लोक है "सत्यलोक", "सत्यं ज्ञानमानन्दम्" रूपी ब्रह्म। यथा भूः अर्थात् पृथिवी के ऊपर "भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, तथा सत्यम् है"। इस सत्य लोक से "स्तोमाः" अर्थात् परमेश्वर की स्तुति करने वाले वेद-मन्त्र "आयन्ति" [सृष्टि-रचनाकाल में] आते हैं। यह रचनाकाल ब्राह्म-दिन है। तथा प्रलयकाल में सत्यलोकरूपी ब्रह्म में वापिस चले जाते हैं। प्रलय काल ब्राह्मी-रात्री है, जिसमें कि स्तुतिमन्त्र "उद्यन्ति"]।

---

२. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम् । नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥
(कठोपनिषद्) ।

षड् त्वा पृच्छाम ऋषयः कश्यपेमे त्वं हि युक्तं युयुक्षे योग्यं च ।
विराजमाहुर्ब्रह्मणः पितरं तां नो वि धेहि यतिधा सखिभ्यः ॥७॥

(कश्यक=पश्यक) हे सर्वद्रष्टः ! (इमे षट् ऋषयः) ये ६ ऋषि हम (त्वा) तुझसे (पृच्छामः) पूछते हैं, [क्योंकि] (त्वम् हि) तूने ही (युक्तम्) इस जुते सृष्टिरथ को (युयुक्षे) जोता है, (च) और तू ही (योग्यम्) जुतने योग्य भावी सृष्टिरथ को [जोतेगा]। (विराजम्) विराट् को (आहुः) कहते हैं कि वह (ब्रह्मणः) ब्रह्म का (पितरं) पिता है, (ताम्) उस विराट् का, (नः) हम (सखिभ्यः) सखियों के लिये (यतिधा) जितने कि हम हैं, (विधेहि) विधिपूर्वक कथन कर।

[कश्यप=पश्यक, आद्यन्ताक्षरविपर्यासः। यथा "तर्कुः" कृती छेदने (तुदादिः) इति कृतेराद्यन्तविपर्यासः (उणा० १।१६)। एवम् "स्तोकाः" (श्च्युतिर् क्षरणे भ्वादिः) रज्जुः (सृज विसर्गे दिवादिः) सिकताः (कस विकसने भ्वादिः) (निरुक्त २।१।१)।

विराज् या विराट्-पद उभयलिङ्गी है, पुंलिगी भी और स्त्रीलिङ्गी भी। इसलिये पितरम् और "ताम्" ये द्विविध प्रयोग हुए हैं। विराट् है प्रकृति जोकि उत्पन्न जगत् के रूप में विशेषेण दीप्त हो रही है। यह ब्रह्म का पिता है। ब्रह्म निज जगत्-कृतियों द्वारा विराट् से उत्पन्न हुआ अनुमित होता है, ज्ञात होता है, अतः विराट् को ब्रह्म का पिता कहा है। सखिभ्यः =जीवात्मा और ब्रह्म परस्पर सखा हैं। यथा "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" (ऋक् १।१६४।२०)। सखा होने के कारण ६ ऋषि परमेश्वर से सांसारिक रहस्यों के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा करते हैं। ये ६ हैं पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक मन। ये जब ऋषियों की कोटि के हो जाते हैं, तब ये परमेश्वरीय ज्ञान सम्बन्धी अभिलाषा वाले हो जाते हैं, और सर्वद्रष्टा कश्यप से साक्षात् प्रश्न करने के योग्य हो जाते हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि को "सप्तर्षि" कहा भी है। यथा "सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे" (यजु० ३४।५५), तथा निरुक्त (१२।४।३८), सप्तऋषयः (२५) जिज्ञासु षट् ही होते हैं, बुद्धि तो ज्ञेय का ग्रहणमात्र करती है]।

यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्त उपतिष्ठन्त उपतिष्ठमानाम् ।
यस्या व्रते प्रसवे यक्षमेजति सा विराड् ऋषयः परमे व्योमन् ॥८॥

(याम्) जिस [विराट्] के (प्रच्युताम्, अनु) सृष्टि से प्रच्युत हो जाने के पश्चात् (यज्ञाः) सब प्रकार के यज्ञकर्म (प्रच्यवन्ते) प्रच्युत हो जाते हैं, और (उपतिष्ठमानाम्) सृष्टि में उपस्थित हो जाने पर (उपतिष्ठन्ते) यज्ञकर्म उपस्थित हो जाते हैं, तथा (यस्याः) जिस के (व्रते, प्रसवे) व्रत में और प्रेरणा में (यक्षम्) यक्ष (एजति) गति करता है (सा) वह (विराट्) विराट् (ऋषयः) हे ऋषियो ! (परमे व्योमन्) निरवधिक व्योम अर्थात् आकाश में [व्याप्त] है।

[प्रलयकाल में विराट्-परमेश्वर सृष्टि से प्रच्युत हो जाता है, पृथक् हो जाता है, अतः यज्ञकर्म भी उस समय प्रच्युत हो जाते हैं। तथा सृष्टि-रचना काल में जब परमेश्वर सृष्टि में उपस्थित हो जाता है तब यज्ञकर्म भी उपस्थित हो जाते हैं, यज्ञकर्मों का करना भी प्रारम्भ हो जाता[1] है। सृष्टि का प्रलय करना और पैदा करना परमेश्वर का व्रत है, इसी की प्रेरणा से यह होता है। "यक्षम्" के स्वरूप के लिये देखो मन्त्र (२५,२६)। मन्त्र (७) में विराट् द्वारा जगत् में अभिव्यक्त हुई प्रकृति का वर्णन हुआ है, और मन्त्र (८) में विराट् द्वारा परमेश्वर का कथन हुआ है। यह "तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम्" के अनुसार लाक्षणिक है। जैसे "मञ्चाः क्रोशन्ति" में मञ्च का अभिप्राय है मञ्चस्थ-पुरुष, इसी प्रकार विराट् का अभिप्राय है "विराट्-स्थ" परमेश्वर]।

अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनां विराट् स्वराजमभ्येति पश्चात् ।
विश्वं मृशन्तीमभिरूपां विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे पश्यन्त्येनाम् ॥९॥

(अप्राणा) प्राणरहिता[2] (विराट्) विराट् (प्राणतीनाम्) प्राणधारिणी प्रजाओं सम्बन्धी (प्राणेन) प्राणप्रदान हेतु से (एति) विश्व में आती है। वह विराट् होती हुई (पश्चात्) तदनन्तर (स्वराज्यम्, अभि) स्वराज को लक्ष्य कर (एति) आती है। (विश्वम्) विश्व को (मृशन्तीम्) स्पर्श

१. यज्ञकर्म परमेश्वर के प्रसादनार्थ किये जाते हैं, अतः यज्ञकर्मों के लिये परमेश्वर की उपस्थिति आवश्यक है।

२. "आनीद्वातम्" (ऋ० १०।१२९।२)।

करती हुई, (अभिरूपाम्) रूप को प्राप्त हुई (विराजम्) विराज् को (त्वे) कई (पश्यन्ति) देखते हैं, (त्वे) कई (न) नहीं (एनाम्) इसे (पश्यन्ति) देखते ।

[विराज्=विराट् द्वारा विराट्-स्थ परमेश्वरी माता का कथन हुआ है, मन्त्र (८) । विराट् प्राणवायु से रहित है अतः अप्राणा है । यह विश्व का निर्माण कर के विश्व में आती है ताकि प्राणवती प्रजाओं को प्राण देकर सजीव कर सके । प्रलयावस्था में यह विराट् अर्थात् दीप्तिरहित प्रकृति में विराजमान रहती है, तत्पश्चात् सृष्टि रच लेने पर वह "स्वराज" अर्थात् स्वयं प्रदीप्त या स्वात्मना प्रदीप्त स्थूल जगत् में आती है । विराज्-परमेश्वरी माता विश्व के साथ निज स्पर्शमात्र का सम्बन्ध रखती है, भोक्तृत्व का नहीं । यह रूपवती है । इस के रूप को योगी तो देखते हैं, अयोगी नहीं देखते । प्राणेन=हेतौ तृतीया (अष्टा० २।३।२३) । विराज्=राजृ दीप्तौ; दीप्तिरहित-प्रकृत्यवस्था वाली माता । स्वराजम्=स्वयं राजते; "परमेश्वरः स्वेन रूपेण राजते" । जगदवस्था में परमेश्वर विना प्राणवायु के प्राणित है, और जीवात्मा प्राणवायु द्वारा प्राणित होते हैं] ।

को विराजो मिथुनत्वं प्र वेद क ऋतून् क उ कल्पमस्याः ।
क्रमान् को अस्याः कतिधा विदुग्धान् को अस्या धाम कतिधा व्युष्टीः ॥१०॥

(कः) कौन (विराजः) सृष्टि में विशेषतया प्रदीप्त हुई प्रकृति के (मिथुनत्वम्) मैथुन-कर्म को (प्रवेद) प्रकृष्ट अर्थात् ठीक प्रकार से जानता है, (कः) कौन (ऋतून्) ऋतुधर्मों के कालों को, (क उ) और कौन (अस्याः) इस प्रकृति के (कल्पम्) कल्पकाल को, (कः) कौन (अस्याः) इस प्रकृति के (क्रमान्) क्रमों को, तथा (कतिधा) कितनी वार यह (विदुग्धान्) दुग्धरहित हुई है इसे, (कः) कौन (अस्याः) इस के (धाम) तेज को, तथा (कतिधा) कितने प्रकार या कितनी (व्युष्टीः) यह विविध उषाओं में चमकी है—[इन सब को सम्यक् रूप में जानता है] ।

[विराजः=वि+राजृ दीप्तौ । मिथुनत्वम्=प्रकृति है पत्नी, और परमेश्वर है उस का पति । परमेश्वर की कामना कि मैं सृष्टि को रचूं—यह है रेतस् [वीर्य] जिस का कि आधान वह प्रकृति के गर्भ में करता है, और

सृष्टि पैदा होती है । यथा "कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्" (ऋ० १०।१२९।४), अर्थात् प्रारम्भ में काम अर्थात् कामना प्रकट हुई, जो कि प्रथम मानसिक रेतस् थी । इस अभिप्राय में "ऋतून्" ऋतुधर्म हैं जिन के होते स्त्री गर्भधारण करती है । कल्पम्=जितने काल तक सृष्टि बनी रहती है उतना काल, जिसे कि ब्राह्मदिन कहते हैं, जोकि १००० युगों का काल होता है ।

क्रमान्=जिन क्रमों से सृष्टि की रचना होती है, यथा "परमेश्वर से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से आपः, आपः से पृथिवी पृथिवी से ओषधियाँ, ओषधियों से अन्न, अन्न से रेतस्, रेतस् से पुरुष" (तै० उपनिषद्) । वैदिक साहित्य में अन्य प्रकार से भी क्रमों को दर्शाया है ।

कतिधा=सृष्टि कितनी हुई है,-इसे भी कौन जानता है ।

विदुग्धान्=दूध के सम्बन्ध से विराट् को गोसदृश निर्दिष्ट किया है । विदुग्धान् के दो अर्थ हैं, (१) दुग्ध से विशिष्ट होना, इसके द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति दर्शाई है, गौ दुग्धसम्पन्न तभी होती है जब कि उस से वत्स पैदा होता है । (२) दूसरा अर्थ है "दुग्धरहित" होना, यह अवस्था प्रलयकाल को सूचित करती है ।

धाम=धाम के अर्थ हैं नाम, स्थान, जन्म और तेज । यतः यह उषाकालों में चमकी है, इसलिये धाम का अर्थ तेज किया है । उषाओं द्वारा भी सृष्टिकालों को सूचित किया है । सूक्त में विविध पहेलियों का कथन हुआ है जिन के सुलझाने में मतभेद सम्भव है] ।

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा ।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥११॥

(इयम्) यह परमेश्वर-माता (एव) ही (सा या) वह है जोकि (प्रथमा) सर्वप्रथम (व्यौच्छत्) चमकी थी, और यह ही (आसु इतरासु) इन तद्भिन्न उषाओं में (प्रविष्टा) प्रविष्ट हुई (चरति) विचर रही है । (अस्याम्, अन्तः) इस परमेश्वर-माता में (महान्तः महिमानः) महामहिमाएं हैं (जिगाय) इस ने सब पर विजय पाई हुई है, जैसे कि (नवगत् जनित्री) पतिगृह में नई-नई गयी और जन्मदात्री माता हुई (वधूः) वधू [पतिगृह पर विजय पा लेती है] ।

[वधू पतिगृह में जा कर यदि सन्तानोत्पादन करती है तो वह पतिगृह की वंशवृद्धि कर पतिगृह में मान पाती है, यह पतिगृह पर विजय पाना है। बन्ध्यावधू पतिगृह में मान नहीं पाती]।

छन्दःपक्षे उषसा पेपिशाने समानं योनिमनु सं चरेते।
सूर्यपत्नी सं चरतः प्रजानती केतुमती अजरे भूरिरेतसा ॥१२॥

(पेपिशाने) प्रत्यवयव में रूपवती, (छन्दः पक्षे) छन्दरूपी पंखों वाली (उषसा) दो उषाएं (समानम्) एक (योनिम्) गृह में (अनु) निरन्तर (संचरेते) संचार करती हैं। (सूर्यपत्नी) ये दोनों सूर्य की पत्नियां, (प्रजानती) निजमार्ग को जानती हुईं, (केतुमती) मानो झण्डा ली हुईं, (अजरे) जरारहित हुईं, (भूरिरेतसा) प्रभूतशक्तिसम्पन्ना हुईं, (संचरतः) इकट्ठी विचरती हैं।

[पेपिशाने = पिश अवयवे (तुदादिः), तथा 'पेशः रूपनाम" (निघं० ३।७)। छन्दः पक्षे = स्वच्छन्दतारूपी पंखों वाली अर्थात् स्वतन्त्रता पूर्वक द्युलोक में उड़ने वाली पक्षीरूप दो उषाएं, प्रातःकालीन उषा तथा सायंकालीन उषा। अथवा छन्दः अर्थात् वेदमन्त्र, द्विविध वेदमन्त्रों सम्बन्धी दो उषाएं। उषा-काल ध्यान का काल है। इन कालों में परमेश्वर का ध्यान करना होता है और द्विविध मन्त्र अर्थात् स्तुति और प्रार्थना सम्बन्धी मन्त्र मानो दो पंख हैं पक्षी के दो ही पंख होते हैं। उपासना के मन्त्र नहीं कहे, उपासना अर्थात् ध्यान में परमेश्वर के समीप बैठना "उप[२]+आसना" के अधिकारी सभी मनुष्य नहीं होते। समीप बैठने में वे ही सशक्त हो सकते हैं जो कि निज चित्तवृत्तियों का निरोध कर सकते हैं। सर्व साधारण इस में निःशक्त होते हैं। अतः वे केवल स्तुति और प्रार्थना ही कर सकते हैं। समान योनि है द्युलोक। इसी में दोनों उषाएं विचरती हैं। "योनिः गृहनाम" (निघं ३।४)। दोनों उषाएं सूर्य की पत्नी हैं। सूर्य के आगे-आगे

१. छन्दस् = wish, desire, Pleasure, Free will (आप्टे)।

२. वस्तुतः "उप+आसना" चित्त की वह अवस्था है, जबकि उपासक परमेश्वर का साक्षात दर्शन करता हुआ, परमेश्वरीय आनन्दरस का आस्वादन कर रहा होता है। यह तल्लीनावस्था है। इस अवस्था में स्तुति और प्रार्थना दोनों का अभाव रहता है।

चलती हैं और सायंकाल की उषाएं अर्थात् लालिमाएं सूर्य के अस्त होने के समनन्तर द्युलोक में कुछ काल तक चमकती हैं। इन का केतु अर्थात् झण्डा सूर्य ही प्रतीत होता है। ये अजरा हैं। इन पर बुढ़ापा नहीं आता, ये सदा शक्तिमती होती हैं। जब से सृष्टिरचना हुई है तब से निरन्तर द्युलोक में चमकती रही हैं, और जब तक सृष्टि रहेगी, ये निरन्तर चमकती रहेंगीं। अतः ये अजरा हैं]।

ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्त्रयो घर्मा अनु रेत आगुः।
प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम् ॥१३॥

(ऋतस्य) सत्यस्वरूप परमेश्वर के दर्शाए (पन्थाम्, अनु) पथ के अनुसार (तिस्रः) तीन शक्तियां (आ अगुः) आई हुई हैं, (त्रयः) तीन (घर्माः) प्रदीप्त तत्त्व (रेतः अनु) परमेश्वरीय कामना[१] के अनुसार [पथ पर] (आ अगुः) आए हुए हैं। (एका) शक्तियों में से एक (प्रजाम्) प्रजा को (जिन्वति) प्रीणित करती है, (एका) दूसरी एक (ऊर्जम्) बल और प्राण के दाता अन्न को प्रीणितकरती है, (एका) तीसरी एक (देवयूनाम्) दिव्यगुणों तथा दिव्यकोटि के जनों को चाहने वाले प्रजाजनों के (राष्ट्रम्) राष्ट्र की (रक्षति) रक्षा करती है।

[जब समग्र संसार परमेश्वर के दर्शाए मार्ग पर चलता है, और मनुष्य निज अवाञ्छनीय कृत्यों द्वारा संसार को भ्रष्ट तथा गन्दा नहीं करते, तब तीन तात्त्विक शक्तियां और तीन प्रदीप्त तत्त्व संसार का वस्तुतः उपकार और समुन्नति करने लगते हैं। तीन तात्त्विक शक्तियां हैं पृथिवी, वर्षा और तीसरी "सरस्वती" अर्थात् ज्ञानविज्ञान वाली वेदविद्या। तथा तीन प्रदीप्त तत्त्व हैं, पार्थिव अग्नि, अन्तरिक्षीय मेघस्था विद्युत् और सूर्य।

पृथिवी तो निवासस्थान और अन्न के उत्पादन द्वारा समग्र प्रजा को तृप्त करती है, इतना उत्पादन कर देती है कि कोई प्राणी अन्नाभाव का अनुभव नहीं करता "ऊर्क्[२] अन्ननाम" (निघं० २।७)। तथा वर्षा, पृथिवी के उत्पादन में सहायक होती है। वर्षा द्वारा अन्न पैदा होता तथा अन्न में

१. रेतस् = कामना। परमेश्वर की कामना अर्थात् इच्छा उस का मानसिक-रेतस् है (ऋ० १०।१२६।४); तथा मन्त्र १० की व्याख्या।

२. ऊर्ज बलप्राणनयोः (चुरादिः)।

रस का संचार होता है। अन्न द्विविध है, स्थूल अन्न और रसरूप अन्न। तीसरी तात्त्विक शक्ति है सरस्वरती। जब राष्ट्रस्थ मनुष्य राष्ट्र को दिव्य बनाना चाहते हैं तब वह वेदोपदिष्ट मार्ग द्वारा ही राष्ट्र का रक्षा कर सकते हैं, अन्यथा युद्धों, उपद्रवों, महामारियों और कष्टों द्वारा राष्ट्र का विनाश हो जाता है। राष्ट्ररक्षा होते तीन प्रदीप्त तत्त्व भी निजकार्यों को यथावत् करने लगते हैं। पार्थिव अग्नि प्रत्येक घर की पाकशाला में अन्न का पाक करने लगती है, किसी के घर की पार्थिव अग्नि अन्नाभाव के कारण अप्रज्वलित नहीं रहती, मेघस्था विद्युत् नियमानुसार वर्षा करती, और सूर्य नियमपूर्वक ताप और प्रकाश देने लगता है। घर्मः=घृ क्षरण-दीप्त्योः (जुहोत्यादिः)। सरस्वती=सरो विज्ञानं विद्यतेऽस्यां सा सरस्वती वाक् (उणादि० ४।१९०। महर्षि दयानन्द)]।

अग्नीषोमावदधुर्या तुरीयासीद् यज्ञस्य पक्षावृषयः कल्पयन्तः ।
गायत्रीं त्रिष्टुभं जगतीमनुष्टुभं बृहदर्कीं यजमानाय स्वराभरन्तीम् ॥१४॥

(यज्ञस्य) यज्ञ के (पक्षौ) दो पार्श्वों की (कल्पयन्तः) कल्पना करते हुए (ऋषयः) ऋषियों ने (अग्नीषोमौ) अग्नि और सोम की (अदधुः) परिपुष्टि की और (या) जो (तुरीया) तुरीया अर्थात् ब्राह्मीशक्ति (आसीत्) थी [उस की भी परिपुष्ट की]। तथा (यजमानाय स्वः आभरन्तीम्) यज्ञकर्ता के लिये सुख पहुंचाने वाली (गायत्रीम्, त्रिष्टुभम्, जगतीम्, अनुष्टुभम्, बृहदर्कीम्) गायत्री आदि छन्दों की भी परिपुष्टि की। बृहदर्की=परमेश्वर की स्तुति करने वाली महती ऋक्।

[अग्निः=यज्ञियाग्नि। सोमः=सोमोषधिप्रधान ओषधियां। ऋषियों ने इन दो को यज्ञ के दो पार्श्वरूप निश्चित किया। मन्त्र में यज्ञ को पुरुष रूप में कल्पित किया है। जैसे अस्मदादि पुरुषों के शरीर दो पार्श्वों वाले हैं, दाएं और बाएं पार्श्वों वाले हैं, वैसे यज्ञ-पुरुष के भी दो पार्श्व हैं अग्नि और सोमादि हव्यपदार्थ। इन दो पार्श्वों के मेल से यज्ञपुरुष बनता है। तथा जैसे हमारे शरीरों की आत्माएं हैं, जीवात्माएं, वैसे यज्ञपुरुष की आत्मा है तुरीया ब्राह्मीशक्ति। जैसे विना जीवात्माओं के शरीर निष्प्राण होते हैं, वैसे विना तुरीयोद्देश्यक किया यज्ञ भी निष्प्राण सा होता है। जो यज्ञ तुरीया की उपासना या प्रसन्नता के उद्देश्य से नहीं किया जाता वह यज्ञ

मृतशरीरवत् निष्फल है। इसी प्रकार "इस भावना पूर्वक यज्ञ करना चाहिये" कि यज्ञ करते समय गायत्री आदि छन्दों वाले उच्चारित मन्त्र सुखप्रदाता हैं, अतः इनका उच्चारण श्रद्धापूर्वक होना चाहिये। बृहदर्कीम् =बृहत् अर्थात् बृहती छन्द वाली अर्की अर्थात् परमेश्वरीय या तुरीया की पूजा करने वाली ऋचा। "अर्कीम्" का सम्बन्ध गायत्रीम् आदि प्रत्येक के साथ अभीष्ट है। गायत्री आदि को भी समझना चाहिये कि यह प्रत्येक सुखप्रदान करने वाली हैं। अर्की=अर्कः मन्त्रः भवति, यदनेनार्चन्ति (निरुक्त ५।१।४)। इस प्रकार यज्ञ-पुरुष का स्वरूप ४ तत्त्वों से रचित होता है (१) अग्नि; (२) सोमादि हव्यपदार्थ; (३) यज्ञ में पूजनीया तुरीया; (४) गायत्री आदि छन्दोमय मन्त्र।

तुरीया=ओ३म् के अ, उ, म् ३ मात्राओं द्वारा जगत्-व्यापी ब्राह्मी-शक्ति का वर्णन होता है और तुरीया ब्राह्मी शक्ति "अमात्रा" है, स्वरूपस्था प्रपञ्चोपशमरूपा, शिव और अद्वैतरूपा है, जिस की कामना द्वारा जगत् की उत्पत्ति होती है (माण्डूक्योपनिषद् खण्ड १२)।

पञ्च व्युष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोऽनु पञ्च ।
पञ्च दिशः पञ्चदशेन क्लृप्तास्ता एकमूर्ध्नीरभि लोकमेकम् ॥१५॥

(पञ्चनाम्नीम्) पांच नमनों अर्थात् झुकावों वाली (गाम् अनु) पृथिवी के अनुसार (पञ्च व्युष्टीः) पांच प्रकार की भिन्न-भिन्न उषाएं हैं, और पांच व्युष्टियों के (अनु) अनुसार (पञ्चदोहाः) पञ्चविध दोह हैं, पृथिवी में उत्पत्तियां हैं, और पञ्चविध नमनों के अनुसार (पञ्च ऋतवः) पांच ऋतुएं हैं। (पञ्च दिशः) पांच दिशाएं (पञ्चदशेन) १५ कलाओं वाले चन्द्रमा द्वारा (क्लृप्ताः) कल्पित हुई हैं, या निर्मित हुई हैं, (एकमूर्ध्नीः) चन्द्रमारूपी एकमूर्धा वाली (ताः) वे पांच दिशाएं (एकम्, लोकम् अभि) एक पृथिवीलोक की ओर है [फैली हुई हैं]।

[गाम्=गौः पृथिवीनाम (निघं० १।१)। पञ्चनाम्नीम्=पृथिवी अपने अक्ष पर ६६½ अंश का कोण बनाती हुई सूर्य की परिक्रमा, घड़ी की सुईयों के उलटे क्रम में अर्थात् दाएं से बाईं ओर करती है। ६६½ का कोण पृथिवी का एक "नमन" है। इस "नमन" के साथ पृथिवी के भिन्न-भिन्न भागों के

"नमन" अर्थात् झुकाव भी, भिन्न-भिन्न कालों में, सूर्य के संमुख होते रहते हैं। इन द्विविध नमनों के कारण ऋतुओं का निर्माण होता है। वेदानुसार ऋतुएं ६ हैं, और इन में से ४ ऋतुओं अर्थात् वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, और शरद् के अपने-अपने विशिष्ट लक्षण अनुभूत होते हैं, परन्तु हेमन्त और शिशिर ऋतुओं में सर्दी लगभग एक समान होने के कारण इनका पारस्परिक भेद अनुभूत नहीं होता, अतः इन दो ऋतुओं को एक ऋतु मानकर मन्त्र में "ऋतवः पञ्च" कहा है। इस लिये निरुक्त में कहा है कि "इति पञ्चर्तु तया पञ्चर्तवः संवत्सरस्येति च ब्राह्मणं हेमन्तशिशिरयोः समासेन" (निरुक्त ४।४।२७)। पञ्चदिशः=दिशाएं ५ हैं। मन्त्र में "पञ्च, पञ्च" द्वारा दिशाओं की संख्या भी पांच कही है, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण तथा उर्ध्वा या ध्रुवा दिशाएं। इन दिशाओं का निर्माता कहा है पञ्चदश अर्थात् चन्द्रमा; यथा "चन्द्रमा वै भान्तः पञ्चदश। स च पञ्चदशाहानि आ पूर्यते, पञ्चदशापक्षीयन्ते, भाति च चन्द्रमाः" (शत० ब्राह्मण ८।४।१।१०)। चन्द्रमा द्वारा भी दिशाओं का निर्माण होता है। अमावस्या के के द्वितीय दिन में चन्द्रमा का उदय पश्चिम में, तथा पौर्णमास की रात्री में पूर्व में होता है। इस प्रकार चन्द्रमा भी दिशाओं का ज्ञापक है। दिन में सूर्य द्वारा दिशाओं का निश्चय होता है, और रात्री में चन्द्रमा द्वारा। पांच ऋतुओं की प्रत्येक ऋतु में, पृथिवी के प्रदेशों में उषाओं की चमकों में भी पंचविध भेद हो जाता है। तथा ऋतुभेद के कारण पृथिवी में पञ्चविध दोह अर्थात् उत्पत्तियां भी होती रहती हैं। इन पांच दिशाओं को "एकमूर्ध्नीः" कहा है, अर्थात् एक सिर वाली। जैसे मूर्धा से ज्ञानवाहिनी नाड़ियां समग्र शरीर में व्याप्त हो जाती हैं, इसी प्रकार मानो चन्द्रमा रूपी मूर्धा से पांच दिशाएं निकल कर "एकलोक" पृथिवी में व्याप्त हो रही हैं। मन्त्र में सब वर्णन कविता में है। इसलिये वेद को काव्य कहते हैं। यथा "देवस्य पश्य काव्यम्" (अथर्व० १०।८।३२; ९।१५।१)। तथा परमेश्वर को कवि कहा है। यथा "कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः" (यजु० ४०।८)। वेदों में कल्पनाएं केवल कल्पनाएं ही नहीं अपितु इन कल्पनाओं में यथार्थता अनुस्यूत रहती है।

षड् जाता भूता प्रथमजर्तस्य षडु सामानि षडहं वहन्ति।
षड्योगं सीरमनु साम साम षडाहुर्द्यावापृथिवीः षडुर्वीः ॥१६॥

(ऋतस्य) नियम सम्बन्धी अर्थात् नियम के अनुसार (प्रथमजा[1]=प्रथमजानि) प्रथमोत्पन्न होने वाले (षट्) ६ (भूता=भूतानि) सत्तासम्पन्न तत्त्व (जाता=जातानि) उत्पन्न हुए। (षट् उ) ६ ही (सामानि) साम (षडहम्) ६ दिनों में सम्पाद्य यज्ञ का (वहन्ति) वहन करते हैं, सम्पादन करते हैं। (षड्योगम्) ६ [बैलों] के योगवाले हल द्वारा किये (सीरम्) कृषिकर्म के (अनु) अनुरूप (सामसाम) प्रत्येक योग के साथ एक-एक साम होता है। (षट्) ६ (द्यावापृथिवी) द्यौ और पृथिवी हैं (आहुः) ऐसा कहते हैं और (षट् उर्वीः) ६ विस्तृत दिशाएं हैं।

[यह नियम है कि प्रत्येक प्रलय के अनन्तर पुनः सृष्टि होती है। इस नियम के अनुसार प्रारम्भ में ६ सत्तासम्पन्न तत्त्व उत्पन्न हुए। (१) साम्यावस्था वाली प्रकृति का विषमावस्था में होना। (२) आकाश। (३) वायु। (४) अग्नि। (५) आपः। (६) पृथिवी। ये ६ तत्त्व ब्रह्माण्ड के सर्जनारम्भ में पैदा हुए।

"६ साम हैं"—बृहत्, रथन्तर, यज्ञायज्ञिय, वामदेव्य, वैरूप, वैराज (अथर्व० १५।४।३,५,८,११) इन ६ सामों के अतिरिक्त श्यैत और नौधस सामों का भी वर्णन अथर्ववेद में हुआ है।

"षडहम्" है षड्रात्रयज्ञ (अथर्व० ११।९।१९)।

"सीरम्" सीर का अर्थ है हल, जिस द्वारा खेत जोता जाता है। हल के साथ ६ बैलों को जोतना हास्यास्पद है। गीता के अनुसार (१३।१-३) शरीर है क्षेत्र और आत्मा है क्षेत्रज्ञ, शरीरक्षेत्र का स्वामी। आत्मा शरीर क्षेत्र में हल जोतकर और इसे तय्यार कर, सत्कर्मरूपी बीज बोता है। यह है आध्यात्मिक कृषिकर्म। इस कर्म में सहायक ६ हैं, ५ ज्ञानेन्द्रियां और १ यम। ये ही ६ बैल हैं, जोकि बुद्धिरूपी हल के आगे जुते हुए हैं। इस आध्यात्मिक कृषिकर्म की सफलता के लिये जीवन में भक्ति भरे ६ सामगान भी होने चाहियें, ५ज्ञानेन्द्रियों और १मन की शुद्धि के लिये। इन ६ की शुद्धि हो जाने से कर्मेन्द्रियां स्वतः शुद्ध हो जाती हैं, क्योंकि ज्ञानानुरूप ही कर्म होते हैं।

१. पदपाठ में, जाता। भूता। प्रथमजा—ऐसे पाठ हैं, जोकि नपुंसकलिङ्गी प्रतीत होते हैं। अतः भूता=भूतानि। जाता=जातानि। प्रथमजा=प्रथमजातानि।

'द्यावापृथिवी'—त्रिविधा है द्यौः और त्रिविधा है पृथिवी । द्यौः त्रिविधा है, दृश्यमाना द्यौः, स्वः, नाकः । "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा, येन स्वः स्तभितं येन नाकः" (यजु० ३२।६) में "उग्रा द्यौः, स्वः,[1] नाकः" द्वारा द्युलोक का त्रैविध्य प्रदर्शित किया है । "नाकः" में योगसिद्ध साध्य देवों की स्थिति भी वेदानुमत है (यजु० ३१।१६) ।

पृथिवी भी त्रिविधा है, समुद्र, समतल, तथा पर्वत । अथवा पृथिवी का ऊपर का पार्थिव स्तर इस के नीचे जलीय स्तर, जिस की सूचना कूपजलों तथा चश्मों द्वारा ज्ञात होती है, तथा इसके भी नीचे आग्नेयस्तर, जिसकी सूचना ज्वालामुखी पर्वतों तथा गर्मचश्मों द्वारा मिलती है । इस प्रकार द्यौः और पृथिवी मिलकर षट् हैं ।

षट् उर्वीः = ६ विस्तृत दिशाएं, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, ध्रुवा तथा ऊर्ध्वा ।

---

१. "स्वः नाकः" = निरुक्त में इन पदों की व्याख्या निम्न प्रकार हुई है । स्वः आदित्यो भवति, एतेन द्यौर्व्याख्याता । नाक आदित्यो भवति, अथ द्यौः । कमिति सुखनाम, तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत । "न वा अमुं लोकं जामुषे किं च नाकम्" (काठक सं० २१।२; तथा निरुक्त २।४।१४) । त्रिष्टुबादित्यो भवति, आविष्टो भासेति । अथ द्यौराविष्टा ज्योतिभिः पुण्यकृद्भिश्च (निरुक्त २।४।१४) ।

इन उद्धरणों के अनुसार "अमुं लोकं जामुषे" द्वारा द्यौः में गए को "न अकम्" पदों द्वारा सुखाभाव का अभाव दर्शाया है, अर्थात् सुख विशेष की सत्ता दर्शाई है । तथा यह भी दर्शाया है कि द्यौः में पुण्यकर्माओं का निवास है । इस से स्वः और नाकः स्थान विशेष प्रतीत होते हैं जोकि द्यौः के अङ्गरूप हैं ।

परन्तु महर्षि दयानन्द का विचार "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः । यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः" (यजु० ३२।६) द्वारा भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है । विचार यह कि लोक तो तीन हैं, द्यौः, पृथिवी, अन्तरिक्ष । अतः स्वः और नाक पद किसी स्थान विशेष का निर्देश नहीं करते, अपितु ये दो पद "स्वः=सुख को, और नाकः सब दुःखों से रहित मोक्ष को" [सूचित करते हैं] महर्षि दयानन्द का विचार इसलिये भी ठीक प्रतीत होता है कि "स्वः" और "स्वर्ग" में भेद तो होना ही चाहिये । स्वर्ग का अर्थ है "स्वः गम्यते यत्र सः स्वर्गः" । अतः "स्वः" का अर्थ सुख है, यह वस्तुतः यथार्थ है । "स्वर्ग" शब्द स्थानवाची है, न कि 'स्वः' शब्द ।

षडाहुः शीतान् षडु मास उष्णानृतुं नो ब्रूत यतमोऽतिरिक्तः ।
सप्त सुपर्णाः कवयो नि षेदुः सप्तच्छन्दांस्यनु सप्त दीक्षाः ॥१७॥

(षट् शीतान्) ६ शीत (मासः) मास हैं, (उ) और (षट् उष्णान्) ६ उष्ण मास हैं,—यह (कवयः) मेधावी लोग (आहुः) कहते हैं, (यतमः) जो (अतिरिक्तः) इन से अतिरिक्त (ऋतुम्) ऋतु है उसे (नः ब्रूत) हमें कहिये । (कवयः) गतिशील (सप्त) ७ (सुपर्णाः) उड़ने वाली रश्मियां (निषेदुः) सौरमण्डल में स्थित हैं, (सप्त छन्दांसि अनु) ७ छन्दों के अनुसार (सप्त दीक्षाः) ७ दीक्षाएं हैं ।

["कवयः" के दो अभिप्राय हैं, (१) "कविः मेधाविनाम" (निघं० ३।१५); (२) "कवते गतिकर्मा" (निघं० २।१४) । सुपर्णाः=सुपतनाः आदित्यरश्मयः (निरुक्त ३।२।१२) । "पतन" द्वारा आदित्यरश्मियों को पक्षी कहा है । ये रश्मियां मानो दूरस्थ, आदित्य से, शीघ्र उड़कर, पृथिवी पर आ पहुंचती हैं । ये सात हैं । इन सातों का मिश्रण है आदित्य की "शुक्लरश्मि" । वेदों के मुख्य छन्द ७ हैं, गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती—इन सात छन्दों द्वारा सात दीक्षाएं अभिप्रेत हैं । इन ७ छन्दों द्वारा ७ प्रकार के व्रतग्रहण करने चाहिये । ७ व्रतग्रहण और तदनुसार जीवनचर्या करनी—ये सात दीक्षाएं हैं । "दीक्ष मौण्ड्येज्योपनयननियमव्रतादेशेषु" (भ्वादिगण) । मन्त्र में "अतिरिक्तः" पद द्वारा यह पूछा गया है कि शीत-उष्ण-१२ मासों से अतिरिक्त यदि कोई ऋतु है तो उसे कहो, क्योंकि १२ मास ही ६ ऋतुओं में विभक्त हैं । उत्तर के अभाव में मन्त्र (१८) में स्वयं कह दिया कि "ऋतवो ह सप्त" कि निश्चय से ऋतुएं ७ हैं] ।

सप्त होमाः समिधो ह सप्त मधूनि सप्तर्तवो ह सप्त ।
सप्ताज्यानि परि भूतमायन् ताः सप्तगृध्रा इति शुश्रुमा वयम् ॥१८॥

(होमाः सप्त) होम ७ हैं, (ह) निश्चय से (समिधः सप्त) समिधाएं ७ हैं, (मधूनि सप्त) मधु ७ हैं, (ह) निश्चय से (ऋतवः सप्त) ऋतुएं ७ हैं । (सप्त आज्यानि) सात आज्य, (भूतम्) सत्तावाले सूर्य के (परि) सब ओर (आयन्) गति कर रहे हैं,—(ताः) वे (सप्तगृध्राः) ७ गृध्र हैं—(इति) यह (वयम्) हम ने (शुश्रुमा) सुना है ।

[सप्तगृध्राः=(१) सप्तसुपर्णाः, (२) सप्तदीक्षाः, (मन्त्र १७); (३) सप्तहोमाः, (४) सप्त समिधः; (५) सप्तमधूनि; (६) सप्त ऋतवः; (७) सप्त आज्यानि । इन्हें गृध्राः कहा है । गृधु अभिकांक्षायाम् । मनुष्यों द्वारा इन ७ सप्तकों की अभिकांक्षा होती है, अभिलाषा होती है, अतः मन्त्र में ७ गृध्र हैं] ।

सप्तहोमाः=अग्निहोत्रः, दर्श, पौर्णमास, वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध शुनासीरीय, ये ७ हविर्यज्ञ हैं होम हैं । सप्तसमिधः—अग्नि के सम्बन्ध में कहा है कि "ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा: शोचींष्यग्नेः" (यजु० २७।११) अर्थात् अग्नि को प्रदीप्त करने वाली समिधाएं ऊर्ध्वदिशा में हैं। ये सम्भवतः सूर्य की सप्त रश्मियां है । इन ७ रश्मियों द्वारा अग्नि को प्रदीप्ति होती है, क्योंकि काष्ठमयी समिधाएं भी सूर्य की ७ रश्मियों द्वारा ही प्राप्त होती हैं । इस लिये काष्ठमयी समिधाओं को भी समिधा कहते हैं । यह लाक्षणिक प्रयोग होता है । कारणनिष्ठ सप्त संख्या का प्रयोग कार्य-रूपी समिधाओं के लिये भी होता है । अथवा "त्रिः सप्त समिधः कृताः" (यजु० ३१।१५) में कथित २१ समिधाओं में से किन्हीं ७ समिधाओं का निर्देश अभिप्रेत होगा ।

सप्तमधूनि—

"यो वै कशायाः सप्तमधूनि वेद मधुमान् भवति ।
ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम् ॥
(अथर्व० ९।१।२२)

इस मन्त्र में सप्तमधूनि का वर्णन हुआ है ।

सप्त ऋतवः=मन्त्र १५ में पञ्च ऋतुओं का वर्णन हुआ है हेमन्त और शिशिर को एक मानकर । मन्त्र (१७) में ६ ऋतुएं अभिप्रेत हैं, हेमन्त और शिशिर को पृथक्-पृथक् मानकर । मन्त्र (१८) में सात ऋतुएं कही हैं । सातवीं ऋतु "त्रयोदश मास" रूप है, इसे मलमास भी कहते हैं । यथा "अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते" (अथर्व० १३।३।८) । इस त्रयोदश मास को अधिकमास भी कहते हैं । इसकी व्याख्या के लिये देखो, (अथर्व० १३।३।८)] ।

सप्त आज्यानि="आज्य का अभिप्राय है "अभिव्यक्त पदार्थ" । अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु (रुधादिः) । "आज्य" पद में व्यक्ति अर्थात्

अभिव्यक्ति अर्थ प्रतीत होता है । "भूत" है महासत्ता वाला सूर्य । भू सत्तायाम्+क्तः । सात अभिव्यक्त पदार्थ हैं, बुध, शुक्र, पृथिवी, मंगल, गुरु (बृहस्पति), शनैश्चर, तथा चन्द्रमा । ये ७, भूतनामक सूर्य की परिक्रमा कर रहे हैं, "परिभूतमायन्" । ये सब हैं ७ गृध्राः ।

"सप्त समिधः, और सप्त सुपर्णाः" आदित्य रश्मियां हैं । जिन के स्वरूपों मे भेद "ऊर्ध्वाः" और "सुपतनाः" द्वारा दर्शाया है। कर्मभेद से आदित्य की सप्तरश्मियों को द्विविध माना है ।

सप्तछन्दांसि अनु सप्त दीक्षाः=इन दो सप्तकों में "अनु" द्वारा पौर्वापर्य दर्शाकर कारणभाव और कार्यभाव सूचित कर और दोनों में अभेद[1] मान कर, और फलभूत सप्त दीक्षाओं को मुख्य मान कर "सप्तदीक्षाः" पदों द्वारा कथित किया है, और सप्त छन्दांसि का पृथक् कथन नहीं किया । इस प्रकार ये सात-सप्तक सप्तगृध्राः हैं, सात अभिकांक्षणीय हैं । गृध्राः=गृधु अभिकांक्षायाम् (दिवादिः) ।

सप्त छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो अन्यस्मिन्नध्यार्पितानि ।
कथं स्तोमाः प्रति तिष्ठन्ति तेषु तानि स्तोमेषु कथमार्पितानि ॥१९॥

(सप्त छन्दांसि) सात छन्द हैं (चतुः उत्तराणि) जिन में उत्तरोतर के छन्दों में चार-चार अक्षर बढ़ते हैं, (अन्यः) उत्तरोत्तर छन्द (अन्यस्मिन् अधि) पूर्व-पूर्व के छन्द में (आर्पितानि) अर्पित होते हैं, आश्रित होते हैं। (कथम्) किस प्रकार (स्तोमाः[2]) मन्त्रों के गेय स्वरूप (तेषु) उन छन्दों [छन्दोयुक्त मन्त्रों] में (प्रति तिष्ठन्ति) स्थित होते हैं, (तानि) और वे छन्द [छन्दोयुक्त मन्त्र] (स्तोमेषु) मन्त्रों के गेयस्वरूपों में (कथम्) किस प्रकार (आर्पितानि) अर्पित होते हैं, आश्रित होते हैं ।

---

१. यथा "अन्नं वै प्राणिनां प्राणः"=में अन्न (कारण) और प्राण (कार्य) में अभेद कथित है ।

२. यजु० १४।२३ में नाना स्तोमों का कथन हुआ है । "यथा" त्रिवृत्, पञ्चदशः, सप्तदशः, एकविंशः, अष्टादशः, नवदशः, सविंशः, द्वाविंशः, त्रयोविंशः, चतुर्विंशः, पंचविंशः, त्रिणवः, एकत्रिंशः, त्रयस्त्रिंशः, चतुस्त्रिंशः, षट्त्रिंशः अष्टाचत्वारिंशः, चतुष्टोमः । परन्तु इन का, आधिदैविक रूपों में भी शतपथ में कथन हुआ है । परन्तु मन्त्र (१९) में आधिदैविक व्याख्या अभिमत नहीं ।

[७ छन्द हैं गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती। गायत्री छन्द में २४ अक्षर होते हैं, और उत्तरोत्तर छन्दों में चार-चार अक्षरों की वृद्धि द्वारा अन्तिम छन्द "जगती" में ४८ अक्षर हो जाते हैं। इस प्रकार उत्तरोत्तर छन्द अपने से पूर्व-पूर्व के छन्द में आश्रित होता है क्योंकि पूर्व-पूर्व छन्द में चार-अक्षरों की वृद्धि से ही उत्तरोत्तर छन्द बनता है। मन्त्रों में स्तोम अर्थात् मन्त्रों के गेयस्वरूपों की स्थिति होती है। मन्त्रों के "गेयस्वरूप" मन्त्रों की आवृत्तियों द्वारा निष्पन्न होते हैं, जिन पर कि सामगान किये जाते हैं। जैसे कि त्रिवृत्-स्तोम में गायत्री छन्द के तीन मन्त्र होते हैं, और प्रथम तथा तृतीय मन्त्र को तीन-तीन वार आवृत्त करना होता है, दोहराना होता है। कहा भी है "त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्" (ऋचम्)। इस प्रकार मन्त्रों या ऋचाओं में "स्तोम" समवेत होते हैं, और स्तोमों में मन्त्र या ऋचाएं समवेत होती हैं[1]]।

कथं गायत्री त्रिवृतं व्याप कथं त्रिष्टुप् पञ्चदशेन कल्पते।
त्रयस्त्रिंशेन जगती कथमनुष्टुप् कथमेकविंशः ॥२०॥

(कथम्) किस प्रकार (गायत्री) गायत्री मन्त्र [ऋक्] (त्रिवृतम्) त्रिवृत्-स्तोम में (व्याप) व्याप्त हुआ है, (कथम्) किस प्रकार (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप् मन्त्र [ऋक्] (पञ्चदशेन) पञ्चदश-स्तोम के साथ (कल्पते) समर्थित होता है। (कथम्) किस प्रकार (जगती) जगती मन्त्र [ऋक्] (त्रयस्त्रिंशेन) त्रयस्त्रिंश-स्तोम के साथ; (कथम्) और किस प्रकार (अनुष्टुप्) अनुष्टुप् मन्त्र [ऋक्] और (एकविंशः) एकविंश-स्तोम परस्पर समन्वित होते हैं।

[गायत्री और त्रिवृत् का परस्पर समन्वय, मन्त्र (१९) की व्याख्या में दर्शा दिया है। इसी प्रकार अन्य मन्त्रों तथा उनके स्तोमों में भी पारस्परिक समन्वय, अपने-अपने ढंग से होते हैं।

मन्त्रस्वरूप तथा मन्त्रसंख्या तथा उनकी आवृत्तियों से स्तोमों का निर्माण होता है, उन्हें देखकर मन्त्रों द्वारा निर्मित स्तोमों को देख कर तद्-घटक मन्त्रों[2] को जाना जा सकता है]।

---

१. स्तोमों के गान में, मन्त्र में, मध्य में, "स्तोभ" भी होते हैं, जोकि "आलाप" रूप होते हैं।

२. तथा जिसे स्तोमों के स्वरूप ज्ञात हैं वह सुगमता से जान सकता है कि अमुक स्तोम में कौन से मन्त्र पुनरावृत्त हैं, और कौन से पुनरावृत्त नहीं। इस प्रकार स्तोम के मौलिक मन्त्र जान लिये जाते हैं।

अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये।
अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति ॥२१॥

(ऋतस्य) सत्यस्वरूप परमेश्वर सम्बन्धी (प्रथमजा) प्रथम पैदा होने वाले (भूता) सत्पदार्थ (अष्टजाता) आठ पैदा हुए थे। (इन्द्र) हे इन्द्र! (अष्ट ऋत्विजः) ये आठ ऋत्विक् हैं (ये) जो (दैव्याः) देव सम्बन्धी हैं। (अष्टयोनिः) आठ योनियों वाली (अदितिः) प्रकृति (अष्टपुत्रा) आठपुत्रों वाली है, जो कि (अष्टमीम्, रात्रिम् अभि) आठवीं रात्रि को लक्ष्य करके (हव्यम्) हवि को (एति) प्राप्त होती है।

[अदितिः=प्रकृति, जो कभी क्षीण नहीं होती [अ+दीङ् क्षये]। इस के आठपुत्र पैदा हुए। यथा—

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्व३स्परि।
देवाँ उप प्रैत्सप्तभिः परा मार्तण्डमास्यत।। (ऋ० १०।७२।८)।

सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत्पूर्व्यं युगम्।
प्रजायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्तण्डमाभरत्।। (ऋ० १०।७२।९)।

अदिति के शरीर से जो आठ पुत्र पैदा हुए थे, उनमें से ७ पुत्रों द्वारा वह द्युलोकस्थ द्युति वाले तारागण आदि को प्राप्त हुई, और मार्तण्ड अर्थात् आदित्य को उसने परे फेंका (ऋक् १०।७२।८)। अभिप्राय यह कि अदिति के सात पुत्र हैं, सात ग्रह—बुध, शुक्र, पृथिवी, मंगल, गुरु [बृहस्पति], शनैश्चर। ये सातों या पृथिवी का उपग्रह चाँद तो रात्रि काल में द्युलोक में समय-समय पर यह दृष्टिगोचर होते रहते हैं, यह हैं अदिति का ७ पुत्रों सहित द्युलोक में जाना उपस्थित होना। परन्तु आठवां पुत्र मार्तण्ड [सूर्य] रात्रि-काल में दृष्टिगोचर नहीं होता, यह है उसका परे फेंकना (१०।७२।८)।

तथा पूर्व युग में अदिति ७ पुत्रों समेत हुई, और प्रजा की उत्पत्ति तथा मृत्यु के लिये एक मार्तण्ड को अदिति ने पैदा किया। प्राणियों की उत्पत्ति और मृत्यु का विशेष सम्बन्ध मार्तण्ड के साथ है, अतः अदिति ने मार्तण्ड को भी पैदा किया। बुध आदि ७ पुत्र यद्यपि मार्तण्ड से ही पैदा हुए हैं, परन्तु रात्रिकाल में सात की दृष्टिगोचरता और दृष्टिगोचर न होने वाले सूर्य के इस भेद को दर्शाने के लिये इन में परस्पर पार्थक्य दर्शायाहै (१०।७२।९)। इन्द्र द्वारा जीवात्मा का सम्बोधन किया है। अष्ट ऋत्विजः=ये ही ८, दैव्य ८ ऋत्विक् हैं जो कि सौरमण्डलरूपी यज्ञ को रचा रहे हैं।

अष्टयोनिः=आठ को पैदा करने वाली योनि से सम्बद्ध अदिति।

अष्टमीम्, रात्रिम्—यह अष्टमी-रात्री कौन सो रात्री है, जिसे अभिलक्ष्य करके अदिति हव्य को प्राप्त होती है –यह अनुसंधेय है। सम्भवतः यह "एकाष्टका-रात्री" हो, जिस में कि हव्य प्रदान किया जाता है, हव्य की आहुतियां दी जाती हैं। इस एकाष्टका रात्री का वर्णन एकाष्टका-सूक्त में हुआ है (अथर्व० ३।१०।१-१३)। परन्तु इस सूक्त में, अदिति का कथन नहीं हुआ। "भूतस्य पतये यजे" (६, १०) में भूतपति के लिये, तथा देवों के लिये (११) यज्ञ का विधान हुआ है। सूक्त ६।२१ में देव्याः" पद द्वारा देवों का निर्देश हुआ है। वे सम्भवतः एकाष्टका-सूक्त मन्त्र (११) में "देवान्" पद द्वारा अभीष्ट हों परन्तु "भूतस्य पतिः" परमेश्वर ही प्रतीत होता है। अदिति परमेश्वर की जायारूप से अर्धाङ्गिनी है, अतः परमेश्वरार्पित हवि, अर्धाङ्गिनी रूप में अदिति को भी प्राप्त समझी जा सकती है। एकाष्टका-सूक्त, ६वें सूक्त की समाप्ति पर 'परिशिष्ट"रूप में दे दिया है]।

इत्थं श्रेयो मन्यमानेदमागमं युष्माकं सख्ये अहमस्मि शेवा।
समानजन्मा क्रतुरस्ति वः शिवः स वः सर्वाः सं चरति प्रजानन्॥२२॥

(इत्थम्) इस प्रकार (श्रेयः) निःश्रेयस (मन्यमाना) मानती हुई (इदम्) इस जगत् में (आगमम्) मैं आई हूं। (युष्माकम्) तुम्हारे (सख्ये) सखिभाव[1] में (अहम्) मैं (शेवा[1] अस्मि) सुखी हूं। (समानजन्मा) सब को जन्म देने वाला या मुझे-और-तुम्हें समानरूप में जन्म

१. मनुष्यों के शरीर, इन्द्रियां तथा अन्तःकरण अदिति अर्थात् प्रकृतिमय हैं, प्रकृति द्वारा जन्य होने से प्रकृति के ही रूपान्तर हैं। इन का सदुपयोग होना मानो प्रकृति (अदिति) के साथ सद्-व्यवहार करना है। इस अवस्था में मानो शरीर-आदि रूपों में विद्यमान प्रकृति (अदिति) भी सुखी रहती है। अन्यथा नानाविध बीमारियों द्वारा शरीरादिनिष्ठ प्रकृति अर्थात् अदिति-माता दुःखी हो जाती है। सखिभाव में सखा, निज सखा को, दुःख नहीं देता। आत्माओं के संग वाली अदिति माता तभी सुखी रहती है जब कि आत्माएं, प्राप्त, अदितिमाता अर्थात् शरीरादिरूप में विद्यमान प्रकृति का सदुपयोग करते हैं, इसे सदाचार तथा आत्मिक उन्नति में प्रयुक्त करते हैं। स्थान-स्थान में वैदिक वर्णन अति रहस्यमयी भाषा तथा कविता में पाये जाते हैं। मन्त्र (२२) में भी कवितामयी तथा रहस्यमयी भाषा है।

देने वाला (क्रतुः) जगत्कर्त्ता तथा प्रज्ञावान् परमेश्वर (वः) तुम सब का (शिवः) कल्याण करने वाला है, (सः) वह (वः) तुम्हारी (सर्वाः) सब कृतियों और चेष्टाओं को (प्रजानन्) ठीक प्रकार से जानता हुआ (संचरति) विचरता है।

[मन्त्र (२१) के पूर्वार्ध में "अदिति" का वर्णन है। यह मातृरूप में मनुष्यों के प्रति कथन करती हुई कहती है। अदितिः "अदीना देवमाता" (निरुक्त ४।४।२३); तथा "अदितिर्माता स पिता" (ऋ० १।८९।१०) आदि प्रकृति है अदिति। वह सब की माता है, तथा पिता भी है। माता और पिता, शरीर की दृष्टि से हैं; और ये शरीर प्रकृतिरूप हैं, प्रकृतिजन्य हैं। आत्मरूप में जीवात्माएं न मातृरूप हैं, न पितृरूप। कविसम्प्रदाय की भाषा में अदिति कहती है कि हे मनुष्यों! तुम्हारा और अपना निःश्रेयस चाहती हुई मैं इस जगद्रूप में आई हूं। शरीरों के होते ही योगसाधनाओं द्वारा जीवात्माओं को निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। प्रकृति यदि शरीरों के रूप में परिणत न हो तो निःश्रेयस की प्राप्ति नहीं हो सकती जिस-जिस आत्मा को निःश्रेयस प्राप्त होता जाजा है, उस-उस जीवात्मा के शरीर के उत्पादन कार्य से अदिति प्रकृति निवृत्त हो जाती है,—यह अदिति का भी पाक्षिक-निःश्रेयस है। इस लिये अदिति मनुष्यों के साथ सखिभाव में सुखी है। "शेवम् सुखनाम" (निघं० ३।६)।

मन्त्र के उत्तरार्ध में परमेश्वर का वर्णन है। अदिति का जन्म है "शरीरों तथा जगत् के रूप में" तथा साम्यावस्था से विषमावस्था के रूप में। क्रतुः=कर्मनाम; तथा प्रज्ञानाम (निघं० २।९; तथा ३।९)। मन्त्र में "क्रतु" अर्थात् कर्म द्वारा परमेश्वर को जगत्-कर्तृत्वरूप में तथा प्रज्ञा द्वारा प्रज्ञावान्रूप में प्रकट किया है। "प्रजानन्" शब्द द्वारा भी परमेश्वर को प्रज्ञावान् कहा है। "वः सर्वाः प्रजानन्" के दो अभिप्राय हैं। (१) तुम सब की कृतियों तथा चेष्टाओं को तथा (२) तुम सब प्रजाओं को जानता हुआ]।

अष्टेन्द्रस्य षड् यमस्य ऋषीणां सप्त सप्तधा।
अपो मनुष्या३नोषधीस्तां उ पञ्चानु सेचिरे ॥२३॥

(इन्द्रस्य) इन्द्र सम्बन्धी (अष्ट) ८ हैं (यमस्य) यम सम्बन्धी (षट्) ६ हैं, (ऋषीणाम्) ऋषियों सम्बन्धी (सप्त सप्तधा) सात प्रकार के सात [सप्तक] हैं। (तान्) उन (अपः) जलों, (मनुष्यान्) मनुष्यों (ओषधीः) ओषधियों को (पञ्च) पांच (अनु) ऋतुओं के अनुसार (सेचिरे) सींचते हैं।

["अष्ट" पद द्वारा मन्त्र (२१) के तत्त्व निर्दिष्ट किये हैं। उन तत्त्वों में "अष्ट" पद द्वारा अष्ट ऋत्विजः, अष्टभूता, अष्टयोनिः अष्टपुत्रा अदिति और अष्टमीं रात्रिम्, को निर्दिष्ट किया है और साथ ही इन्द्र का भी कथन हुआ है। "षड् यमस्य" द्वारा मन्त्र (१७) के तत्त्व निर्दिष्ट किये हैं। "यम" पद द्वारा (मन्त्र १७) में निर्दिष्ट तत्त्वों के नियन्ता परमेश्वर द्वारा उन तत्त्वों का नियमन सूचित किया है। "सप्त सप्तधा" द्वारा "सप्तगृध्राः" को सूचित किया है (मन्त्र १८)। और "पञ्च" पद द्वारा मन्त्र (१५) के तत्त्वों को निर्दिष्ट किया है। तथा "अपः मनुष्यान् और ओषधीः" इन्हें (मन्त्र १५) में "दोहाः" पद द्वारा सूचित किया है। इस प्रकार (मन्त्र २३)—मन्त्र १५ से २२ तक के विषयों का उपसंहार अर्थात् संग्रहरूप है। "ऋषीणाम्" का यह अभिप्राय है कि जिन्हें आर्षदृष्टि प्राप्त है वे ही 'सप्त सप्तधा" के वास्तविक तत्त्वों का सम्यक्-ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यथा "नैषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा। पारोवर्यवित्सु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति" (निरुक्त १३।१।१२) अर्थात् इन वेदमन्त्रों में उसे प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता जो न तो ऋषि है, और न तपस्वी। तो भी परलोक और अवरलोक सम्बन्धी पराविद्या और अपरा विद्या के जानने वालों में, जिसे नाना विद्याओं का ज्ञान है, वह मन्त्रार्थों के समझने में अधिक प्रशस्त होता है"। निरुक्त में "तपः" का अभिप्राय शारीरिक "तपः" नहीं, अपितु सतत स्वाध्यायरूपी "तपः" है। तभी कहा है कि "स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः" (योग २।४४), अर्थात् वेद के स्वाध्याय करने से मन्त्रों में प्रतिपाद्य देवों के साथ सम्बन्ध प्राप्त हो जाता है, अर्थात् वेद प्रतिपाद्य विषयों को सम्यक् जाना जा सकता है]।

केवलीन्द्राय दुदुहे हि गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना।
अथातर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवान् मनुष्याँ३ असुरानुत ऋषीन् ॥२४॥

(केवली) सेवनीया (गृष्टिः) गौ (वशम्) कान्तिमय (पीयूषम्) पेय दुग्धामृत को (दुहाना) देती हुई, (प्रथमम्) पहिले (इन्द्राय) इन्द्र के लिये (हि) ही (दुदुहे) दोही जाती है। (अथ) तदनन्तर (देवान्, मनुष्यान्, असुरान्, उत ऋषीन्) देवों, मनुष्यों, असुरों, और ऋषियों (चतुरः) इन चारों को (चतुर्धा) दुग्ध को चतुर्विध विभक्त करके (अतर्पयत्, तृप्त करती है।

[अभिप्राय यह कि गौ के कान्तिमय, पेयदुग्धामृत पर, प्रथम इन्द्र का अधिकार है। इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्यवान् परमेश्वर के लिये पहिले दुग्धाहुतियां देनी चाहियें। तदनन्तर उस के चार विभाग कर के (देवान्) देवयज्ञ द्वारा देवों को, तत्पश्चात् मनुष्यों को, असुरों को, तथा ऋषियों को तृप्त करना चाहिये। केवली = केवृ सेवने (भ्वादिः) वशम् = वश कान्तौ (अदादिः) तथा "किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः" (ऋ० ३।५३।१४) की भावना मन्त्र (२४) में प्रतीत होती है। गृष्टिः = A young cow (आप्टे)]।

को नु गौः क एकऋषिः किमु धाम का आशिषः।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुः कतमो नु सः ॥२५॥

(कः, नु) कौन है निश्चय से (गौः) गौ, (कः) कौन है (एकः) एक (ऋषिः) ऋषि (किम्, उ) क्या है निश्चय से (धाम) धाम, (काः) कौन हैं (आशिषः) आशीर्वाद (पृथिव्याम्) पृथिवी में (यक्षम्) यक्ष है (एकवृत्) एकवृत्, (एकर्तुः) एक है ऋतु, (सः) वह ऋतु (नु) निश्चय से (कतमः) ऋतुओं में कौन सी है।

एको गौरेक एकऋषिरेकं धामैकधाशिषः।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नाति रिच्यते ॥२६॥

(एकः) एक (गौः) गौ है, (एकः) एक है (एक ऋषिः) एक ऋषि है (एकम्) एक (धाम) स्थान अर्थात् आश्रय है, तथा तेजों में तेज है, (एकधा) एक ही प्रकार की (आशिषः) आशीर्वादोक्तियां हैं। (पृथिव्याम्) पृथिवी में (यक्षम्) पूजनीय (एकवृत्) एक ही वर्तमान है, (एकर्तुः) एक ही ऋतु है, (न अति रिच्यते) उस से बढ़कर और कोई नहीं।

[मन्त्र (२४) में "गृष्टि" द्वारा गौ का वर्णन हुआ है, जो कि दुग्ध द्वारा सब को तृप्त करती है। मन्त्र (२५-२६) में वास्तविक गौ आदि के सम्बन्ध में प्रश्न किये हैं, तथा उत्तर दिये हैं। वास्तविक गौ, जो कि सबके साथ "गृष्टि" को भी तृप्त करती है, वह है पृथिवी। "गौः पृथिवीनाम"

(निघं० १।१)। पृथिवी से गृष्टि भी पैदा होती, और पार्थिव घास आदि द्वारा परिपुष्ट होकर दुग्ध प्रदान करती है। पृथिवी के अन्नरूपी हव्य तथा घृत द्वारा देवयज्ञ होता, परमेश्वर के प्रति आहुतियां दी जातीं; और पृथिवी से मनुष्यादि उत्पन्न होकर पृथिवी द्वारा प्राप्त अन्नों से तृप्त होते हैं। अतः वास्तविक गौ है पृथिवी। तथा एक ही ऋषि है परमेश्वर। ऋषि हैं मन्त्रद्रष्टा या मन्त्रार्थद्रष्टा। परमेश्वर तो सभी वेदों तथा मन्त्रार्थों का पारदृश्वा है। अतः वह ही एक ऋषि है, मुख्य ऋषि है। परमेश्वर ही सब के लिये एक धामरूप है, एकाश्रयरूप है। वह ही सब धामों में धाम है, सब तेजस्वियों में तेजोरूप है। वेदों द्वारा दिये उस के आशीर्वाद सब के लिये एकसमान हैं। स्त्री, शूद्र, आर्य, अनार्य सब के लिये उस के दिये आशीर्वादों में भेदभाव नहीं। उसने आशीर्वादरूप में दी 'कल्याणी वेदवाक्' सभी के लिये है।

यक्षम् है ब्रह्म[1]। वह पूजनीय है "यक्ष पूजायाम्" (चुरादिः)। पृथिवी में यक्ष्म अर्थात् ब्रह्म पूजनीय है। "एकवृत्"[2] पूजा की दृष्टि से पृथिवी में वह एक ही वर्तमान है। "एकः वर्तते" इति एकवृत्।

ऋतुओं में ऋतु भी एक है, वह है वसन्त-ऋतु। यथा "ऋतूनां कुसुमाकरः" (गीता १०।३५) कुसुमाकरः=कुसुमों अर्थात् फूलों की खान। वसन्त से बढ़ कर कोई ऋतु नहीं। एकर्तुः=एकः मुख्यः ऋतुः]।[3]

काण्ड ८ सूक्त ९ समाप्त

---

१. "तस्मिन् यद् यक्ष्ममात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः" (अथर्व० १०।२।३२)।

२. "स एष एकवृत्, एक एव" (अथर्व० १३।४।१२)। तथा "य एतं देवमेकवृतं वेद" (अथर्व० १३।४।२ (१५))।

३. सूक्त ९ सम्पूर्ण। इस के पश्चात् सूक्त ९ (मन्त्र २१) में कथित "अष्टमी रात्रि" के एकाष्टका स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया है।

एकाष्टका-परिशिष्ट

(सूक्त ९। मन्त्र २१ में कथित अष्टमीं रात्रिम्= अष्टमी रात्रि=एकाष्टका-सम्बन्धी परिशिष्ट)

प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद् यमे।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरां समाम् ॥१॥

(सा) वह (प्रथमा) पहिली [उषा] (ह व्युवास) चमकी, (सा) वह (यमे) नियन्ता-परमेश्वर के नियमन में (धेनुः) दुग्धदात्री गौ के सदृश फलदात्री (अभवत्) हुई। (सा) वह [उषा] (पयस्वती) दुग्धवाली गौ के सदृश (उत्तराम्, उत्तराम्, समाम्) उत्तरोत्तर वर्षों में (नः) हमें (दुहाम्) अभिमत फल का दोहन करे। दुहाम्=दुग्धाम्।

[प्रलयकाल में तम ही तम था। सर्जनकाल में जो पहली उषा चमकी उसे फलदात्री होने के कारण धेनु तथा पयस्वती कहा है]।

यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम्।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥२॥

(याम् रात्रिम्) जिस रात्रि को (उपायतीम्) समीप आती हुई [देख कर] (देवाः) देव (प्रतिनन्दन्ति) प्रसन्न होते हैं, (या) जोकि (संवत्सरस्य पत्नी) संवत्सर की पत्नी है, (सा) वह (नः) हमें (सुमङ्गली) उत्तम मङ्गलरूपा (अस्तु) हो।

[सृष्टि के उत्पन्न हो जाने पर संवत्सर आदि कालविभाग होता है, और रात्रि-दिन की सत्ता होकर नानाविध उत्पत्तियां होती हैं अतः रात्रि को संवत्सर की पत्नी कहा है, जो कि उत्पत्तियों का उत्पादन प्रतिसंवत्सर करती रहेगी]।

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥३॥

(रात्रि) हे रात्रि! (याम्, त्वा) जिस तुझ को (संवत्सरस्य प्रतिमाम्)

संवत्सर की निर्मात्रीरूप में (उपास्महे) हम सेवित करते हैं, (सा) वह तू (आयुष्मती) आयुप्रदान करती हुई (नः प्रजाम्) हमें और हमारी प्रजा को (रायस्पोषेण) धन सम्पत् की पुष्टि के साथ (संसृज) संयुक्त कर।

[मन्त्र १-३ में उषा द्वारा दिन को तथा रात्रि द्वारा दैनिकी-रात्रि को सूचित किया है, ब्राह्मदिन और ब्राह्मीरात्री को नहीं]।

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा ।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥४॥

(या) जो (प्रथमा) पहली उषा (व्यौच्छत्) चमकी थी (सा एव) वह ही (इयम्) यह अद्यतनी उषा है, वह ही (इतरासु) भिन्न-भिन्न उषाओं में (प्रविष्टा) प्रविष्ट हुई (चरति) विचरती है। (अस्याम् अन्तः) इस प्राथमिक उषा में (महान्तः महिमानः) अपरिमित महिमाएं हैं, यह (नवगत्) नये-नये रूप को प्राप्त होने वाली उषा (वधू) वधूवत्[1] (जनित्री) जो कि नये-नये दिन को पैदा करती हुई (जिगाय) विजयिनी हुई है। नवगत् =नव+गम् (क्विप्, अनुनासिकलोप+तुक्)।

वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।
एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥५॥

(वानस्पत्याः) वनस्पति के काष्ठ से निर्मित ऊखल मुसल आदि ने, तथा (ग्रावाणः) पत्थररूप दृषद्—उपल आदि ने (घोषम् अक्रत) घोष अर्थात् नाद किया है, (परिवत्सरीणम्) संवत्सर के उद्देश्य से निर्वृत्त होने वाली (हविः) हवि को (कृण्वन्तः) तय्यार करते हुए। (एकाष्टके) हे मुख्य अष्टका! (सुप्रजसः) उत्तम-प्रजाओं वाले तथा (सुवीराः) उत्तमवीर (वयम्) हम (रयीणाम्) सम्पत्तियों के (पतयः) स्वामी (स्याम) हों।

[ऊखल-मुसल द्वारा धान से तण्डुल तय्यार किये जाते हैं। तदनन्तर दृषद्-उपल द्वारा तण्डुलों की पीठी तय्यार कर, पुरोडाश पका कर, हविः निष्पन्न होती है, और संवत्सर की पूर्वभाविनी अष्टमी में इस पुरोडाश

१. वधू जैसे विवाहानन्तर नई-नई पति के घर जा कर, और जननी बन कर पतिगृह में महिमा को, अर्थात् संमान को प्राप्त होती हे, तद्वत्। सन्तानरहिता वधू संमान को प्राप्त नहीं होती।

हविः की आहुतियां दी जाती हैं। उत्तम-सन्तान पैदा करने, तथा धर्मकार्य में सुवीर रहने तथा विक्रमी बनने का संकल्प कर, धनोपार्जन में प्रवृत्त होना चाहिये। सुप्रजसः=सु+प्रजा+असिच् (अष्टा० ५।४।१२२)। सुवीराः=सु+वीर विक्रान्तौ (चुरादिः)+कः ('इगुपधज्ञा०' अष्टा० ३।१।१३५)]।

इडायास्पदं घृतवत् सरीसृपं जातवेदः प्रति हव्या गृभाय ।
ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु ॥६॥

(जातवेदः) हे उत्पन्न प्रत्येक पदार्थ के जानने वाले! या उत्पन्न प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान! तथा वेदाविर्भावक परमेश्वर! (इडायाः) अन्न के (पदम्) इस एकांश को—(घृतवत्) जो कि घृत वाला, तथा (सरीसृपम्) जिस से घृत सर्पण कर रहा है, टपक रहा है—ऐसे अन्न को, तथा (हव्या) अन्य हवियों को (प्रतिगृभाय) ग्रहण कर। (ये) जो (विश्वरूपाः) विश्व को निरूपित करने वाले या नानारूपों वाले (ग्राम्याः) ग्राम के, या समूहरूप में विद्यमान (पशवः) इन्द्रियां आदि या पशु हैं, (तेषाम् सप्तानाम्) उन सातों की (रन्तिः) रति (मयि) मुझ में (अस्तु) हो।

[मन्त्र (५) में तण्डुलों की पीठी द्वारा हविः के निष्पादन का वर्णन हुआ है। मन्त्र (६) में पीठी से उत्पन्न पुरोडाश को घृताक्त कर उस की, तथा अन्य हव्य पदार्थों की आहुति अग्नि में दे कर, उसे परमेश्वर के प्रति समर्पित किया है। मन्त्र के उत्तरार्ध में सात पशुओं का वर्णन हुआ है। ये ग्राम के भी सात पशु सम्भव हैं, तथा सात शारीरिक-तत्त्व भी। ग्राम के सात पशु हैं, गौ, अश्व, अजा, अवि, गर्दभ, उष्ट्र तथा श्वा। और शारीरिक सात पशु हैं पांच ज्ञानेन्द्रियां, १ मन, और बुद्धि। ये सात शरीररूपी शकट का वहन करते हैं अतः पशु हैं।

इडा=इला=अन्न (निघं० २।७), अथवा इरा =अन्न (निघं० २।७), रलयोरभेदः, डलयोरभेदः। पदम्=एकांश। तय्यार किया पुरोडाश, परमेश्वर प्रदत्त अन्नों का एकांशमात्र ही है]।

आ मा पुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौ स्याम ।
पूर्णा दर्वे परा पत सुपूर्णा पुनरा पत ।
सर्वान् यज्ञान्त्संभुञ्जतीषमूर्जं न आभर ॥७॥

(रात्रि) हे रात्रि ! (मा) मुझे (पुष्टे च) परिपुष्ट धन-सम्पत् में, तथा (पोषे च) पुत्रादि के परिपोषण में (आ "स्थापय") स्थापित कर, (देवानाम्) दिव्य गुणों वाले सज्जनों की (सुमतौ) सुमति में (स्याम) हम हों, हम रहें। (दर्वे) हे यज्ञिय होम की कड़छी ! (पूर्णा) घृत आदि से पूर्ण हुई तू (परापत) यज्ञियाग्नि की ओर जा, और (पुनः) फिर अर्थात् तदनन्तर (सुपूर्णा) यज्ञिय फल से पूर्ण हुई तू (आपत) हमारी ओर आ। (सर्वान् यज्ञान्) सब यज्ञों को (सं भञ्जती) सम्यक्-सम्पन्न करती हुई तू (नः) हमें (इषम्) अभीष्ट अन्न (ऊर्जम्) बल और प्राण (आभर=आहर) प्राप्त करा।

[चान्द्र-संवत्सर अमावास्या से अमावास्या तक मन्त्राभिमत प्रतीत होता है और अमावास्या से पूर्वभाविनी-अष्टमी [एकाष्टका, मुख्य अष्टमी] को यज्ञ करने का विधान हुआ है। सम्भवतः यह यज्ञ एक सप्ताह तक चलता रहता है जो कि अमावास्या के दिन पूर्ण होता है। इस दिन की रात्री को "रात्रि" कहा है। यज्ञ का फल है पुष्टि, इष् और ऊर्ज]।

आयमगन्त्संवत्सरः पतिरेकाष्टके तव ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥८॥

(एकाष्टके) हे मुख्य अष्टके ! (अयम्) यह (संवत्सरः) संवत्सर (तव पतिः) तेरा पति (आ गन्) आया है। (सा) वह तू [संवत्सर पति के साथ] (नः) हमारी (आयुष्मतीम्) स्वस्थ तथा दीर्घ आयु वाली (प्रजाम्) पुत्र-पुत्री आदि का (रायस्पोषेण) धन सम्पत्ति की पुष्टि के साथ, (संसृज) संसर्ग कर, उसे सम्बद्ध कर।

[मन्त्र में संवत्सर भर, सन्तान की स्वस्थ तथा दीर्घ आयु की, तथा प्रभूत धन-सम्पत् की अभिलाषा प्रकट की है]।

ऋतून् यज ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान् ।
समाः संवत्सरान् मासान् भूतस्य पतये यजे ॥९॥

(ऋतून् आदि) ऋतुओं आदि को लक्ष्य करके (यजे) मैं यज्ञ करता हूं, तथा (भूतस्य) भूतभौतिक जगत् के (पतये) पति परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये (यजे) यज्ञ करता हूं।

[प्रत्येक व्यक्ति संकल्प करता है कि वह ऋतु आदि की शुद्धि और स्वच्छता के लिये यज्ञ करता रहेगा। प्राणियों के श्वास-प्रश्वास, मलमूत्र-त्याग, तथा शिल्पकर्मों द्वारा वायु आदि में मल बढ़ता रहता है। अतः उन की शुद्धि तथा स्वच्छता के लिये यज्ञों का करना प्रत्येक मनुष्य के लिये धार्मिक कर्तव्य है। इस द्वारा परमेश्वर भी प्रसन्न होता है।

"ऋतून्" आदि में "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" (अष्टा० २।३।५) द्वारा द्वितीया हुई है। ऋतु आदि को "व्याप्त" कर यज्ञों के करने का विधान मन्त्र में हुआ है। तभी दैनिक अशुद्धि और अस्वच्छता का निराकरण सम्भव है।

ऋतुपतीन्=ऋतुओं के पति हैं, प्रत्येक ऋतुकाल के नियामक सूर्य विशेष, अर्थात् भिन्न-भिन्न ऋतुओं के काल को भिन्न-भिन्न सूर्य स्थितियां, राशिचक्र में। आर्तवान्=ऋतुओं के अवयव कृष्ण-शुक्लपक्ष, तथा अष्टमी आदि, या ऋतुओं के समूहरूप उत्तरायण तथा दक्षिणायन के काल। हायन=सायन, दो अयनों द्वारा निर्मित सौरवर्ष। समाः=चान्द्र वर्ष। चन्द्रमाः="चन्द्रो माता" (निरुक्त ११।१।६), के "मा" का समास "सह" के साथ हुआ है। इस प्रकार "समाः"=चान्द्र-वर्ष। "सहस्य सः" (अष्टा० ६।३।७८) द्वारा सह को "स" आदेश हुआ है। संवत्सरः=सौरवर्ष]।

ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः ।
धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे ॥१०॥

(ऋतुभ्यः) ऋतुओं के सम्पोषण के लिये, (आर्तवेभ्यः) आर्तवों के सम्पोषण के लिये, (माद्भ्यः) मासों के सम्पोषण के लिए, (संवत्सरेभ्यः) संवत्सरों के सम्पोषण के लिये, [त्वा] हे एकाष्टके ! तुझे लक्ष्य करके (यजे) मैं यज्ञ करता हूं, (समृधे) समृद्धि के लिये। तथा (धात्रे) जगत् के धारक-पोषक (विधात्रे) विधाता और (भूतस्य) भूत-भौतिक जगत् के (पतये) पति की प्रसन्नता के लिये [मैं यज्ञ करता हूं]।

[ऋतुभ्यः आदि में "तुमुन्नर्थे" चतुर्थी है, यथा "ऋतून् सम्पोषयितुं, यजे" इत्यादि (क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः (अष्टा० २।३।१४)। ऋतु आदि की संपुष्टि पर हमारी सम्पुष्टि तथा समृद्धि निर्भर है। ऋतु आदि के विकृत हो जाने पर रोग आदि का संचार हो जाता है। यज्ञ में

हविः चतुर्विध होनी चाहिये। यथा प्रथम सुगन्धित, द्वितीय पुष्टिकारक, तृतीय मिष्ट, चतुर्थ रोगनाशक (संस्कारविधि, ऋषि दयानन्द)। इन में से पुष्टिकारक तथा रोगनाशक होमद्रव्य सम्पुष्टिकारक हैं]।

इडया जुह्वतो वयं देवान् घृतवता यजे।
गृहानलुभ्यतो वयं सं विशेमोप गोमतः ॥११॥

(घृतवता) घृतवाले (इडया) अन्न द्वारा (देवान्) अग्नि वायु आदि दिव्य पदार्थों के प्रति (जुह्वतः) आहुतियां देते हुए (वयम्) हम सब, और मैं [गृहस्वामी] (यजे) यज्ञ करता हूं। तदनन्तर (गृहान् उप=उपेत्य) घरों को प्राप्त कर, (गोमतः) गौओं वाले (वयम्) हम (अलुभ्यतः) लोभ-मोह से रहित हुए (संविशेम) मिल कर गृहों में प्रवेश करें। अथवा लोभ-मोह से रहित गृहों में प्रवेश करें।

[मन्त्र में गृहप्रवेश सम्बन्धी संस्कार का वर्णन हुआ है। "वयम्" का अभिप्राय है "हम सब पारिवारिक व्यक्ति, और "यजे" द्वारा गृहस्वामी का कथन हुआ है। गृहस्थ-धर्म पालते हुए भी जीवन में लोभ-मोह न होना चाहिये। केवल कर्तव्य समझ कर गृहस्थ कृत्य करने चाहियें। पुष्टि के लिये गृहस्थी को गोसंग्रह भी करना चाहिये ताकि गोघृत द्वारा यज्ञ भी किये जा सकें और पारिवारिक पालन-पोषण भी हो सके]।

एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम्।
तेन देवा व्यसहन्त शत्रून् हन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः ॥१२॥

(तपसा) ताप से (तप्यमाना) तप्त होती हुई (एकाष्टका) मुख्य अष्टमी ने (गर्भम्) गर्भरूप (महिमानम्) महिमा वाले (इन्द्रम्) सूर्य को (जजान) पैदा किया। (तेन) उस इन्द्र द्वारा (देवाः) संसार की दिव्य-शक्तियों ने (शत्रून्) शत्रुओं का (व्यसहन्त) विशेषरूप में पराभव किया, इस प्रकार (शचीपतिः) कर्मों का पति इन्द्र (दस्यूनाम्) उपक्षयकारियों का (हन्ता) हनन करने वाला (अभवत्) हुआ।

[एकाष्टका है माघ-कृष्णपक्ष की अष्टमी। यह अष्टमी फाल्गुन-मास की पूर्वभाविनी है। इस अष्टमी के पश्चात् फाल्गुन-मास प्रारम्भ होता है। फाल्गुन-मास वसन्त काल है। यथा "फाल्गुनः=Vernal season (वसन्त काल) [आप्टे]। वसन्त काल २१ मार्च को प्रारम्भ होता है। सूर्य दक्षिण

से उत्तर की ओर आता है, और इस का ताप बढ़ने लगता है। एकाष्टका की अष्टमी भी वासन्तिक काल के सूर्य के ताप द्वारा तप्त होने लगती है। वसन्तकाल की एकाष्टका अर्थात् अष्टमी ने मानो इन्द्र अर्थात् परमैश्वर्ययुक्त, रश्मियों के ऐश्वर्य से युक्त सूर्य को निज गर्भ से पैदा किया। दक्षिणदिशास्थ सूर्य उत्तरवासियों के लिये रश्मिरूपी ऐश्वर्य से विहीन था। परन्तु वसन्तकाल अर्थात् २१ मार्च से सूर्य निज "ऐन्द्रत्व" को प्राप्त हो जाता है। मानो उत्तर की दिव्यशक्तियां इस इन्द्र द्वारा शैत्य, अन्धकार-रूपी शत्रुओं का विशेषतया पराभव करने लगती हैं। ये शैत्य-अन्धकार आदि दस्यु हैं, उपक्षयकारी हैं। शची=कर्मनाम (निघं० २।१)। शची है, शक्तिरूपी कर्म]।

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः।
कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः ॥१३॥

(इन्द्रपुत्रे) इन्द्र नामक पुत्रवाली, (सोमपुत्रे) सोम नामक पुत्र वाली हे एकाष्टके! तू (प्रजापतेः) प्रजाओं के पति परमेश्वर की (दुहिता असि) पुत्री है। (अस्माकम्) हमारी (कामान्) कामनाओं को (पूरय) पूरा कर और (नः) हमारी (हविः) हवि को (प्रति गृह्णाहि) स्वीकार कर।

[मन्त्र (१२) में इन्द्र को एकाष्टका ने जन्म दिया है, यह वर्णित है। इन्द्र है सूर्य। एकाष्टका के पश्चात् अमावास्या [के गर्भ] से सोम अर्थात् चन्द्रमा ने पैदा होना है; अतः चन्द्रमा भी एकाष्टका का पुत्र है। कामनाएं हैं नवीन वर्ष में वर्ष भर होनी वाली मानुषी कामनाएं। वे अव्याहतरूप में पूरी होती रहें इस निमित्त, हविर्यज्ञ करते रहने का निर्देश हुआ है ताकि वायु आदि की शुद्धि और सम्पुष्टि होती रहे]।

सूक्त १०

विषय-प्रवेश

पर्याय १

(१) शासन व्यवस्था, भयमूलिका (मन्त्र १)। (२) गार्हपत्य-व्यवस्था अर्थात् गृहसंगठन (२,३)। (३) आहवनीय-व्यवस्था=ग्रामसंगठन (४,५)। (४) दक्षिणाग्रणी-व्यवस्था=जिला संगठन (६,७)। (५) सभा तथा समिति व्यवस्था=राष्ट्रिय असेम्बली, तथा राष्ट्रिय राजसभा (८ से ११)। (६) आमन्त्रण-व्यवस्था=सम्राटों में पारस्परिकमन्त्रणा संगठन (१२, १३)।

पर्याय २

शासनव्यवस्था का चतुर्विध विकास (मन्त्र १, ४)। देवों और मनुष्यों में परस्पर मेल (मन्त्र २)। ऊर्जा, स्वधा, सूनृता, इरावतीरूपा, व्यवस्था (मन्त्र ४)। विराट् का वर्णन गोरूप (मन्त्र ५ से १० तक)। विराट्-गौ का वत्स= इन्द्र [विद्युत्], ऊधस्=अभ्र; बान्धने की रस्सी=गायत्री (मन्त्र ५)। विराट्-गौ के चार स्तन; (१) बृहत् स्तन से=व्यचः [विस्तार]; (२) रथन्तर स्तन [पृथिवी] से ओषधियां; (३) वामदेव्य स्तन से प्राणवायु; (४) यज्ञायज्ञिय स्तन [चन्द्रमा] से यज्ञ।

पर्याय ३

(१) विराट् प्राप्त हुई वनस्पतियों को अर्थात् वनस्पतियों में भी एक व्यवस्था प्रकट हुई, जिस द्वारा वनस्पतियों के कटे पत्र-पुष्प-फल आदि संवत्सर काल में पुनः प्ररोहित हो जाते हैं। प्राकृतिक-घटना के इस दृश्य से शिक्षा ग्रहण कर व्यक्ति, प्रति संवत्सर, निज भावनाओं को सुधारे और मनोगत पापों का उच्छेद कर सात्विक भावनाओं को प्ररोहित करे (मन्त्र १,२)।

(२) पितृसम्बन्धी विराट्; पितृयाण पन्थाः; पितरों के प्रति मास में हविः प्रदान (मन्त्र ३,४)।

(३) देवसम्बन्धी विराट्; देवयान पन्थाः देवों के प्रति अर्धमास में हविःप्रदान (मन्त्र ५,६)।

(४) मनुष्य सम्बन्धी विराट्; मनुष्यों के प्रति प्रतिदिन अन्नोपहार (मन्त्र ७,८)।

पर्याय ४

(१) असुरराज्य। असुर हैं प्रकृति के उपासक। प्राह्लादि विरोचन है विराट्-गौ का वत्स। इन के शस्त्रास्त्र हैं लोहनिर्मित। द्विमूर्धा [विरोचन?] है दोग्धा। दोहा दूध है माया अर्थात् प्रकृति (मन्त्र १-४)।

(२) पितरराज्य। पितर हैं सभा और समिति के सदस्य। यम राजा है विराट्-गौ का वत्स। स्वधारूपी दुग्ध का दोहनकर्त्ता है अन्तक। रजत है सम्पत्ति (मन्त्र ५-८)।

(३) मनुष्यराज्य। यह है दक्षिणाग्निराज्य अर्थात् जिला के अग्रणियों का राज्य [पर्याय १, मन्त्र ६,७] विराट्-गौ है इरावती। इस का वत्स है वैवस्वत "मनु"। पृथिवी है पात्र अर्थात् रक्षा तथा त्राण का साधन। पृथी वैन्य है दोहनकर्त्ता। कृषि और सस्य है दोहा-दूध (मन्त्र ९-२२)।

(४) ऋषिराज्य और ऋषिसचिवराज्य। विराट्-गौ है ब्रह्मण्वती। सोम राजा है विराट-गौ का वत्स। वैदिक छन्द हैं पात्र, अर्थात् रक्षा तथा त्राण के साधन। आङ्गिरस बृहस्पति है दोहनकर्त्ता। ब्रह्म और तपः हैं दोहा दूध (मन्त्र १३-१६)।

पर्याय ५

(१) इन्द्रादिदेवताकराज्य। विराट्-गौ है ऊर्जा। इन्द्र [विद्युत्] है विराट्-गौ का वत्स। चमस अर्थात् मेघ है रक्षा तथा त्राण का साधन। सविता है दोहन-कर्त्ता। ऊर्जा है दोहा-दूध (मन्त्र १-४)। यह है (आधिदैविकार्थ)

तथा (आधिभौतिकार्थ)

इन्द्रादिदेवताकराज्य। इन्द्र अर्थात् वणिक्-वृत्तिक राजा है विराट्-गौ का वत्स। चमस अर्थात् मेघ है रक्षा तथा त्राण का साधन। सविता है प्रेरक-राजा दोहनकर्त्ता। ऊर्जा है अन्न। (मन्त्र १-४)।

(२) गन्धर्वाप्सरसराज्य (आधिदैविकार्थ)। गन्धर्व हैं अग्नि आदि, और अप्सरः हैं ओषधि आदि। विराट्-गौ है पुण्यगन्धा। चित्ररथ [मेघ] है विराट्-गौ का वत्स। पुष्करपर्ण है रक्षा तथा त्राण का साधन। वसुरुचि है मेघ, दोहनकर्त्ता। पुण्यगन्ध है दोहा दूध (मन्त्र ५-८)।

तथा (आधिभौतिकार्थ)

गन्धर्वाप्सरसराज्य । गन्धर्व हैं गौ: [पृथिवी] के धारक राजा लोग, जिन्हें कि "पार्थिवा:" कहते हैं, और अप्सरस: हैं जल तथा अन्तरिक्ष की सेनाएं। विराट्-गौ है पुण्यकर्मों की सुगन्ध वाली व्यवस्था । चित्ररथ अर्थात् नानाविध रथों वाला सैन्यवर्ग है विराट्-गौ का वत्स। वसुरुचि अर्थात् वैश्यवर्ग है विराट्-गौ का दोहन-कर्त्ता । पुण्यकर्मों की सुगन्ध है, दोहा दूध । पुण्यकर्म हैं पात्र अर्थात् रक्षा तथा त्राण के साधन ।

(३) इतरजनराज्य । इतरजन हैं (आधिभौतिकार्थ) गन्धर्वाप्सराओं से भिन्न प्रकार के छलो-कपटी लोग । विराट्-गौ है तिरोधा। वैश्रवण कुबेर है विराट्-गौ का वत्स । अपरिपक्वनीति है पात्र अर्थात् उन को रक्षा-त्राण का साधन। रजतनाभि कावेरक है विराट्-गौ का दोहन-कर्त्ता। दोहा-दूध है तिरोधा, छलकपट, पापों को छिपाना ।

(४) सर्पराज्य । सर्प है परकीय छिद्रों में प्रवेश कर उन में विषप्रयोग करने वाले मनुष्य । विराट्-गौ व्यवस्था है विषवती । विशालकाय तक्षक है विराट्-गौ का वत्स । विषैला कड़वा तूम्बा है पात्रम्, अर्थात् रक्षा तथा त्राण का साधन । ऐरावत धृतराष्ट्र है विराट्-गौ का दोहनकर्त्ता उस ने विषरूपी दुग्ध दोहा ।

पर्याय ६

विष के प्रयोक्ता को प्रतीकाररूप में मार डालना चाहिये, इस में मनुष्यहत्या न समझनी चाहिये। अपितु यह समझना चाहिये कि इस के हनन द्वारा अन्यों को विषप्रयोग से मैंने बचा दिया हैं ।

पर्याय १

१-१३ विराट् । १ त्रिपदार्ची पंक्तिः; २-७ याजुषी जगती; ३-९ साम्न्यनुष्टुप्; ५ आर्च्यनुष्टुप्; ७, १३ विराड् जगती; ११ साम्नी बृहती ।

विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥१॥

(इदम्) यह दृश्यमान जगत्, (अग्रे) मानुष-सृष्टि से पहिले, (वै) निश्चय से, (विराट्) राज्यव्यवस्था से विहीन (आसीत्) था [अर्थात् मानुषी राज्यव्यवस्था उस में न थी], (तस्याः जातायाः) मानुष-सृष्टि में उस के प्रादुर्भाव हो जाने से (सर्वम्) सब [मानुष वर्ग] (अबिभेत्) भयभीत हो गया, [और कहने लगा] कि (इयम्) यह [राज्यविहीन अवस्था] (एव) ही (इदम्) इस रूप में (भविष्यति, इति) भविष्य में होगी, रहेगी।

[मानुष-सृष्टि से पूर्व केवल ईश्वरीय व्यवस्था थी, उस समय मानुषी-सृष्टि अभी पैदा ही नहीं हुई थी, अत: मनुष्यकृत भय भी उस समय न था। यह वर्णन ऐतिहासिक वृत्त नहीं अपितु सृष्ट्युत्पत्ति का दार्शनिकरूप है । यह एक विचाररूप है कि आरम्भ में सामाजिक तथा राजनैतिक अवस्था किस प्रकार की होनी सम्भावित है । और किस प्रक्रिया से मानुष जगत् में सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था का विकास हुआ होगा। यह तो मन्त्र (१) द्वारा स्पष्ट है कि इस व्यवस्था का विकास "भयमूलक" है]।

सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥२॥

(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई [उसने उत्क्रमण किया, वह समुन्नत हुई, उसने उन्नति की ओर पादविक्षेप किया], (सा) वह समुन्नत हुई-विराट् (गार्हपत्ये) गार्हपत्य-व्यवस्था में (न्यक्रामत्) अवतीर्ण हुई।

[उदक्रामत्=उत्+क्रमु पादविक्षेपे (भ्वादि:)। गार्हपत्य का अभिप्राय है, (१) घर का होना; (२) उस के पति अर्थात् स्वामी का होना; (३) पति सम्बन्धी पत्नी का होना। इस द्वारा यह सूचित हुआ है कि गार्हपत्य-व्यवस्था से पूर्व मनुष्य जाति में न तो गृहनिर्माण की व्यवस्था थी, गृह नहीं तो उस का अधिपति भी न था, और न पति-पत्नी भाव को

व्यवस्था थी । लगभग यह अवस्था जाङ्गलिक थी, मनुष्य भी लगभग पशु-जीवन के सदृश जीवनचर्या करते थे । मन्त्रों में उदक्रामत् तथा न्यक्रामत् पद भूतकाल के हैं, अतः तदनुसार अर्थ दर्शाए हैं, वस्तुतः अभिप्राय सार्वत्रिक सिद्धान्तरूप है । क्योंकि वेदों में लुङ्, लङ्, लिट् वर्तमान में भी प्रयुक्त होते हैं । छन्दसि लुङ्लङ्लिटः (अष्टा० ३।४।६)] ।

गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥३॥

(यः) जो व्यक्ति (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है वह (गृह-मेधी) गृह-यज्ञ का करने वाला और (गृहपतिः) गृह का पति (भवति) हो जाता है ।

[मनुष्यसमाज की दुरवस्था को जान कर जिस ज्ञानी ने इस दुरवस्था को हटाना चाहा, उसने पहिले स्वयं गृहमेध किया, गृहयज्ञ का संगम किया, गृहरचना की, और गृहपति बना, उसने पति-पत्नीभाव को भी व्यवस्थित किया । मेधः यज्ञनाम (निघं० ३।१७), तथा मेध संगमे (भ्वादिः)] ।

सोदक्रामत् साहवनीये न्यऽक्रामत् ॥४॥

(सा) वह [गृहमेधरूप में उत्क्रान्त] गार्हपत्य व्यवस्थारूपी विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई (सा) वह (आहवनीये) आहवनीय में (न्यक्रामत्) अवतीर्ण हुई।

[अभी तक गार्हपत्य व्यवस्था उस ज्ञानी व्यक्ति के जीवन के साथ सीमित थी । उस ने अन्यों का आह्वान किया, आस-पास रहने वालों को बुलाया, और उन्हें भी गार्हपत्य-व्यवस्था के लाभ समझाए और आहवनीय व्यवस्था की चर्चा की] ।

यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति य एवं वेद ॥५॥

(अस्य) इस आह्वान करने वाले के (देवहूतिम्) दिव्य-आह्वान में, (देवाः) उस समय के देव (यन्ति) प्राप्त होते हैं, और वह (देवानाम्) उन देवों का (प्रियः) प्यारा (भवति) हो जाता है (यः) जो (एवम्) इस प्रकार की आहवनीय व्यवस्था को (वेद) जानता है ।

[यह आहवनीय व्यवस्था है, साथ के समझदार व्यक्तियों [देवों] को एकत्रित कर, निज पारस्परिक जीवनों को सुखी बनाने के लिये, आहवनीय

व्यवस्था को स्थापित करना । यह आह्वानकर्त्ता उन आहूत देवों का प्रिय बन जाता है, और वे आहूत देव इसे आहवनीय व्यवस्था का मुखिया चुन लेते हैं, यह भावना मन्त्र में निहित है । यह भावना अगले मन्त्रों द्वारा अनुमित होती है ।

आहवनीय व्यवस्था की स्थिति से पहिले जिन व्यक्तियों ने गार्हपत्य जीवन को अपनाया और जाङ्गलिक जीवन को त्याग कर पति-पत्नी व्यवस्था को स्वीकार कर लिया, उन्हें मन्त्र में "देवाः" कहा है, क्योंकि ये व्यक्ति गार्हपत्य व्यवस्था के अनुसार अब दिव्यगुणों वाले और दिव्य जीवनों वाले हो गये हैं । यह आहवनीय "ग्रामसंस्था" का पूर्वरूप है । जो कि समय पाकर एक संगठित "ग्रामसभा" बन जाती है, और इस का अध्यक्ष "ग्रामणीः" कहलाता है । यथा "ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये" (अथर्व० ३।५।७) । इस "ग्रामसभा" के नियमों तथा आज्ञाओं को उद्घोषित करने के लिये एक कर्मचारी रख लिया जाता है, जिसे कि "ग्रामघोषी" कहा है (अथर्व० ५।२०।६) ।

सोदक्रामत् सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत् ॥६॥

(सा) वह आहवनीय अवस्था की विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई (सा) वह (दक्षिणाग्नौ) दक्षिणाग्नि में (न्यक्रामत्) अवतीर्ण हुई ।

[उदक्रामत् = उत् + क्रामत् (क्रमु पादविक्षेपे) । न्यक्रामत् = नि (नीचे की ओर) क्रामत् (क्रमु पादविक्षेपे) । दक्षिणाग्नि = दक्षिण (Able, skilful, competent, आप्टे) + अग्निः = अग्रणीर्भवति (निरुक्त ७।४।१४) । अतः दक्षिणाग्नि = योग्य होशियार नेता । ग्रामणियों के योग्य अग्रणी । इन की संस्था को दक्षिणाग्नि संस्था कहा है । अर्थात् ग्रामणियों के योग्य व्यक्तियों के परस्पर मेल द्वारा रचितसंस्था । यह जिला-संस्था का रूप है] ।

यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद ॥७॥

(यः) जो (एवम्) इस प्रकार (दक्षिणीयः) दक्षिणाग्नि संस्था के महत्त्व को (वेद) जानता है वह (यज्ञर्तः) इस संस्थारूपी-यज्ञ में जाने योग्य हो जाता है, और (वासतेयः) वसती का शुभकारी (भवति) होता है ।

[यह दक्षिणाग्नि संस्था है। दक्षिणाग्नि संस्था को यज्ञ कहा है। इस में देवकोटि के ग्रामणी ही होते तथा इनमें परस्पर सगम होता है, समग्र जिला के निवासियों के हितकर कार्यों के लिये।

[आगामी मन्त्रों में उक्त तीन संस्थाओं का वर्णन हुआ है]।

सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् ॥८॥

(सा) वह दक्षिणाग्नि-संस्था अर्थात् जिला प्रबन्धकारिणी संस्था (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, (सा) वह (सभायाम्) सभा संस्था में (न्यक्रामत्) अवतीर्ण हुई।

यन्त्यस्य सभां सभ्यों भवति य एवं वेद ॥९॥

(यः) जो (एवम्) एस प्रकार (वेद) सभा-संस्था के महत्त्व को जानता है (अस्य) इसकी (सभाम्) सभा में [दक्षिणाग्नि संस्था के सदस्य] (यन्ति) जाते हैं, प्राप्त होते हैं, और वह सभा के महत्त्व को जानने वाला (सभ्यः) सभासद् होकर सभा का सभापति हो जाता है।

[यह सभा, लोकसभा अर्थात् असेम्बली है (अथर्व० ७।१३।१)—

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु ॥

(सभा च समितिः च) सभा और समिति (मा) मुझ सभापति की (अवताम्) रक्षा करें (प्रजापतेः) प्रजाओं के पति अर्थात् राजा की (दुहितरौ) तुम दोनों [सभा, समिति] दुहिता के सदृश कामनाओं का दोहन करने वाली हो, (संविदाने) तुम दोनों सम्यक् ज्ञानी हो, परस्पर ऐकमत्य होकर कामनाओं का दोहन करो। (येन) तुम में से जिस किसी के साथ (संगच्छै) मैं [सभा-समिति का पति] संग करूं। (सः) वह (मा) मुझे (उपशिक्षात्) मेरे समीप आकर परामर्श प्रदान करे। (पितरः) हे पिता के समान सभासदो! (संगतेषु) तुम्हारे इन सम्मेलनों में (चारु) सुचारुवाणी (वदानि) मैं बोलूं।

[समिति का वर्णन मन्त्र (१०; ११) में होगा। यह समिति राजसभा है। "सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः" (अथर्व० १९।५५।५), प्रजापति राजा कहता है कि "हे सभ्य! अर्थात् सभापति! तथा हे सभा में उपस्थित सभासदों! तुम मिलकर मेरी सभा की रक्षा करो। यह सभा-

पति सभा का संचालक है, जो कि प्रजापति द्वारा नियत किया जाता है। संगतेषु=सभा और समिति के संयुक्त अधिवेशनों को "संगत" कहा है]।

सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥१०॥

(सा) वह सभासंस्था (उदक्रामत्) राज्य या राष्ट्र की व्यवस्था से और उत्क्रान्त हुई (सा) वह (समितौ) समिति में (न्यक्रामत्) अवतीर्ण हुई।

यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥११॥

(यः) जो (एवम्) इस प्रकार (समितिम्) समिति-संस्था के महत्त्व को (वेद) जानता है वह (सामित्यः) समिति का समितिपति (भवति) हो जाता है, (अस्य) और इस की (समितिम्) समिति में (यन्ति) राजा लोग जाते हैं।

[समिति है राजसभा, राजाओं की सभा। यथा "यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव। विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः॥ (यजु० १२।८०), अर्थात् जिस में ओषधियों का संगम होता है, जैसे कि राजाओं का समिति में, वह विप्र, भिषक् अर्थात् चिकित्सक कहा जाता है, जो कि रोगोत्पादक क्रिमिरूपराक्षसों का हनन करता है, और अमीवाओं का विनाश करता है। अमीवा=अम रोगे (चुरादिः)।

इस प्रकार यजुर्वेद में भिषक् के लक्षण में, समिति में राजाओं का संगम दर्शाया है। समिति में राष्ट्रों के राजा एकत्रित होते हैं। यह है "राजसभा"। वेदानुसार राष्ट्रों के राजा वंशानुगत नहीं हैं, अपितु प्रादेशिक प्रजाओं द्वारा चुने गए होते हैं। (अथर्व० ६।८७।१; ४।८।४)। यजुर्वेद के मन्त्र में "रक्षोहा" पद में रक्षः का अर्थ राष्ट्रशत्रु जान कर "समिति" द्वारा "युद्धसमिति" अर्थ प्रायः किया जाता है। यह ठीक नहीं प्रतीत होता।

राष्ट्रों के राजाओं की "राजसमिति"[२] साम्राज्य के प्रजापति अर्थात्

१. "विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्" (अथर्व० ६।८७।१)। तथा "विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु" (अथर्व० ४।८।४)।

२. सभा संगठन है राष्ट्रसभा अर्थात् प्रत्येक राष्ट्र तक सीमित सभा। और जब राजसमिति का निर्माण हो जाता है, तब राष्ट्र-सभा और राज-समिति मिल कर साम्राज्य कहलाता है, साम्राज्य=संयुक्त-राज्य। और इस का अधिपति सम्राट्

"सम्राट्" का चुनाव करती है। इसलिये कहा है "ये राजानो राजकृतः" (अथर्व० ३।५।७), अर्थात् जो राजा, मुख्य राजा अर्थात् सम्राट् को नियत करते हैं, "राजानं कुर्वन्तीति राजकृतः"]।

सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् ॥१२॥

(सा) वह समिति संस्था द्वारा निर्वाचित सम्राट्-संस्था (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई (सा) वह (आमन्त्रणे) आमन्त्रण में (न्यक्रामत्) अवतीर्ण हुई।

यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद ॥१३॥

(यः) जो सम्राट् (एवम्) इस प्रकार (आमन्त्रणम्) आमन्त्रण के महत्त्व को (वेद) जानता है वह (आमन्त्रणीयः) आमन्त्रण-संस्था का अधिपति (भवति) हो जाता है, और (अस्य) इसकी (आमन्त्रणम्) आमन्त्रण-संस्था में (यन्ति) अन्य सम्राट् जाते हैं।

[सम्राट्=सम् (संगत हुए)+राट् (राजाओं) की संस्था। आमन्त्रण=साम्राज्यों के मुखिया-सम्राटों या उनके प्रतिनिधियों की संस्था। ये अधिपति-सम्राट् के आमन्त्रण पर आकर परस्पर मन्त्रणा करते हैं, जिस से कि भूमण्डलव्यापी उन्नति हो सके, और पारस्परिक युद्ध न होने पाएं।

विशेष—(मन्त्र २) से "सोदक्रामत्" में "सा" द्वारा गार्हपत्य आदि संस्थाओं में उत्क्रान्त हुई विराट् की उत्तरोत्तर उत्क्रान्तियों का वर्णन हुआ है, मन्त्र (१) सम्बन्धी भयावह-विराट् का नहीं। इन उत्क्रान्त हुई विराटों को भी विराट् कहा है, क्योंकि इन उत्क्रान्त विराटों में भी यत्-किञ्चित् (मन्त्र १) का अंश भी सम्भावित विद्यमान रहता है]।

कहलाता है। सम्राट्=संगत हुए राजाओं की संस्था। यजुर्वेद में कहा है कि "इन्द्रश्च सम्राट् वरुणश्च राजा" (८।३७)। सम्राट्=इन्द्र तथा इन्द्र=सम्राट्। अथर्व० ७।१३।१ में सम्राट् को प्रजापति भी कहा है, अर्थात् नाना राष्ट्रों की नानाविध प्रजाओं का पति। "वरुणश्च राजा" में राजा को वरुण कहा है, यतः राजा सम्राट् का वरण अर्थात् चुनाव करते हैं।

पर्याय २

(१-१०) १ त्रिपदा साम्नी, अनुष्टुप्; २ उष्णिग्गर्भा चतुष्पदोपरिष्टाद् विराड्बृहती; ३ एकपदा याजुषी गायत्री; ४ एकपदा साम्नी पंक्तिः; ५ विराड् गायत्री; ६ आर्च्यनुष्टुप्; ७ साम्नी पंक्तिः; ८ आसुरी गायत्री; ९ साम्नी अनुष्टुप्; १० साम्नी बृहती।

[चतुर्धा विराट्=ऊर्जा, स्वधा, सूनृता, इरावती]

सोदक्रामत् सान्तरिक्षे चतुर्धा विक्रान्तातिष्ठत् ॥१॥

(सा) वह विराट् (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, (सा) वह (चतुर्धा) चार प्रकार से (विक्रान्ता) विक्रम अर्थात् पराक्रम वाली हुई (अतिष्ठत्) स्थित हुई।

[अभिप्राय यह कि आमन्त्रण-संस्था वाली विराट् भूमण्डल में चारों दिशाओं में व्याप्त हो गई]।

तां देवमनुष्या अब्रुवन्नियमेव तद् वेद यदुभय उपजीवेमेमामुप ह्वयामहा इति ॥२॥

(ताम्) उस चतुर्धा विभक्त विराट् के सम्बन्ध में (देवमनुष्याः) देव और मनुष्य (इति अब्रुवन्) यह बोले कि (इयम् एव) यह ही [चतुर्धा विक्रान्त] विराट् निश्चयपूर्वक (तद्) उसे (वेद) जानती है, (यद्) जिस के आश्रय पर (उभये) हम दोनों [देव, मनुष्य] (उप जीवेम) जीवित हो सकते हैं। अतः (इमाम्) इसे (उप) समीप (ह्वयामहे) हम बुलाते हैं। देवाः=विद्वांसो वै देवाः। मनुष्य[1]=मननशील सर्वसाधारण मनुष्य।

तामुपाह्वयन्त ॥३॥

(ताम्) उस विराट् को (उप[2]) समीप (अह्वयन्त) उन्होंने बुलाया।

ऊर्ज एहि स्वध एहि सूनृत एहीरावत्येहीति ॥४॥

(ऊर्जे) हे बल और प्राण-प्रद अन्नरूप-विराट्, (एहि) तू आ, (स्वधे)

---

१. मनुष्याः=मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति (निरुक्त ३।२।७)।
२. उपाह्वयन्त=अथवा समादर पूर्वक बुलाया।

हे स्वधारण-पोषण की शक्ति देने वाली विराट् (एहि) तू आ, (सूनृते) हे सत्य और प्रिय-वाक्-रूप-विराट् (एहि) तू आ, (इरावति) हे विविधान्नोत्पादक जलों वाली विराट् (एहि इति) तू आ।

[उत्क्रान्त-विराट् जब भूमण्डल में चहुंदिशि फैल गई (मन्त्र १), तब देवों और मनुष्यों ने अनुभव किया कि हम दोनों के जीवन इसी विराट् पर आश्रित हैं, अतः इस का उन दोनों ने स्वागत करते हुए कहा (मन्त्र ४) कि "ऊर्जे एहि" इत्यादि। अभिप्राय यह कि उत्क्रान्त-विराट् की स्थिर-स्थिति [अतिष्ठत] में चहुंदिशि रहने वाली प्रजाओं में "ऊर्जा" आदि की प्राप्ति हो जाती, न ऊर्जा का अभाव होता, न प्रजाओं पर किसी शत्रु का आक्रमण होता, सब प्रजाएं स्वयं निजधारण-पोषण में स्वतन्त्र होतीं, सर्वत्र प्रिय और सत्य वाक् का प्रसार होता तथा अन्न और जल भी प्रभूत मात्रा में सब को प्राप्त होता है। इरावती = इरा अन्ननाम (निघं० २।७); इरा जलनाम यथा "इरावान् समुद्रः" (उणा० २।२९, महर्षि दयानन्द), तथा इरा = water (आप्टे) + वती (मतुप्) "भूमा" अर्थ में]।

तस्या इन्द्रो वत्स आसीद् गायत्र्यभिधान्यभ्रमूधः ॥५॥

(तस्याः) उस [चतुर्धा अन्तरिक्षव्यापिनी विराट् ?] का (वत्सः) वत्स (इन्द्रः आसीत्) इन्द्र था, (गायत्री) गायत्री (अभिधानी) बन्धन-रज्जु और (अभ्रम्) मेघ (ऊधः) दुग्धाशय था।

[मन्त्र (५) में अन्तरिक्षव्यापिनी विराट् को, गोरूप में रूपित किया है। वत्सरूपी इन्द्र है विद्युत् और विद्युत् में आविष्ट मेघ है ऊधस्[1] दुग्धाशय। गायत्री को अभिधानी अर्थात् बन्धनरज्जु कहा है। गौ को रज्जु द्वारा बान्धकर दोहा जाता है, ताकि वह इधर-उधर विचलित न हो सके। गौ, विना वत्स के दूध नहीं देती। विराट् गौ का वत्स है विद्युत्। विद्युत् द्वारा आविष्ट अभ्र से वर्षा द्वारा जलदुग्ध प्राप्त होता है, अतः विद्युत् वत्सरूप है। अभ्र से जलदुग्ध प्राप्त होता है अतः अभ्र को ऊधः कहा है। गायत्री द्वारा गायत्री का अधिपति परमेश्वर अभिप्रेत है। यथा "यो गायत्र्याः अधिपतिर्बभूव" (अथर्व० ४।३५।६)। वह परमेश्वर अभिधानी रूप है। उस के नियम द्वारा अन्तरिक्ष में बन्धे अभ्र आदि जलदुग्ध प्रदान करते हैं]।

१. ऊधः = ऊधस् = udder।

बृहच्चं रथंतरं च द्वौ स्तनावास्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च द्वौ ॥६॥

(बृहत् च रथंतरम् च) बृहत् और रथन्तर (द्वौ) दो (स्तनौ आस्ताम्) स्तन थे, (यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च) यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य (द्वौ) दो स्तन थे।

[गौ के चार स्तन होते हैं। बृहत् आदि चार को विराट्-गौ के चार स्तन कहा है]।

ओषधीरेव रथन्तरेण देवा अदुह्रन् व्यचो बृहता ॥७॥

(देवाः) देवों ने (रथंतरेण) रथंतर द्वारा (ओषधीः एव) ओषधियों का ही (अदुह्रन्) दोहन किया, (बृहता) और बृहत् द्वारा (व्यचः) विस्तार का दोहन किया।

अपो वामदेव्येन यज्ञं यज्ञायज्ञियेन ॥८॥

(अपः) जल का (वामदेव्येन) वामदेव्य द्वारा, (यज्ञम्) और यज्ञ का (यज्ञायज्ञियेन) यज्ञायज्ञिय द्वारा [दोहन किया]।

[मन्त्र ७,८ में ओषधीः, व्यचः, अपः, और यज्ञ इन चार का दोहन, चार स्तनों से हुआ कहा है। सम्भवतः एक-एक स्तन से एक-एक ओषधि आदि का दोहन। ये चार फल हैं "विराट् रूपी गौ" से प्राप्त।

रथंतर है पृथिवी, जिसमें रथों द्वारा मार्गरूपी समुद्र तैरा जाता है। इस पृथिवी से ओषधियां पैदा होती हैं। बृहत् द्वारा विस्तृत अन्तरिक्ष का कथन हुआ है, जो कि बृहत् है। यथा "अन्तरिक्षं व्यचो हितम्[1]" (अथर्व० ९।३।१५)। वामदेव्य का अभिप्राय है "प्राण" अर्थात् वायु। यथा "प्राणो वै वामदेव्यम्, वायुरु प्राणः" (शत० ब्रा० ९।१।२।३८)। वायुमण्डल से वृष्टि द्वारा "अपः" की प्राप्ति होती है। यज्ञायज्ञिय है, चन्द्रमा। यथा "यज्ञायज्ञियः चन्द्रमा। यो हि कश्च यज्ञः संतिष्ठत एतमेव तस्याहुतीनां रसोऽप्येति। तद् यदेतं यज्ञोयज्ञः [प्रत्येक यज्ञ का रस] अप्येति, तस्मात् चन्द्रमा यज्ञायज्ञियः" (शत० ब्रा० ९।१।२।३९)। यज्ञ "चन्द्रमा की पूर्णिमा, अमा-

१. अन्तरिक्ष बृहत् है, महाविस्तार वाला है। इस द्वारा व्यचस् अर्थात् विस्तार प्राप्त होता है, खुला स्थान प्राप्त होता है।

वास्या [दर्श], तथा अष्टमियों में किये जाते हैं" अतः यज्ञ का सम्बन्ध, यज्ञायज्ञिय अर्थात् चन्द्रमा के साथ दर्शाया है। इस प्रकार विराट्-गौ के चार स्तनों से चार प्रकार के जीवन साधन प्राप्त होते हैं; (१) बृहत् द्वारा व्यचः अर्थात् विस्तार, अन्तरिक्षीय विस्तार, जिसके होते प्राणी चल फिर सकते हैं; (२) रथंतर अर्थात् पृथिवी द्वारा ओषधियां, जिनमें मुख्य व्रीहि और यव हैं, जिनके भक्षण से पुष्टि प्राप्त होती है; (३) यज्ञायज्ञिय अर्थात् चन्द्रमा द्वारा दर्शयज्ञ पौर्णमासयज्ञ, तथा अष्टमी के यज्ञ होते हैं, जिन द्वारा जल-वायु की शुद्धि तथा स्वास्थ्य प्राप्त होता है; (४) और वामदेव्य द्वारा प्राणवायु, और प्राणवायु द्वारा वर्षा से पेयजल प्राप्त होता है। ये चार जीवन साधन, विराट्-गौ के दुग्धरूप हैं।

ओषधीरेवास्मै रथंतरं दुहे व्यचो बृहत् ॥९॥
अपो वामदेव्यं यज्ञं यज्ञायज्ञियं य एवं वेद ॥१०॥

(अस्मै) इसके लिये (रथंतरम्) रथंतर स्तन [पृथिवी] (ओषधीः एव) ओषधियों का ही (दुहे) दोहन करती है (बृहत्) बृहत् स्तन (व्यचः[1]) विस्तार [अन्तरिक्षरूपी] का [दोहन करता है] (वामदेव्यम्) वामदेव्य स्तन (अपः) जल का [दोहन करता है], (यज्ञायज्ञियं) और यज्ञायज्ञिय स्तन (यज्ञम) यज्ञ का [दोहन करता है], (यः) जो कि (एवम्) इस प्रकार [ओषधि आदि का जीवन के साधन] (वेद) जानता है।

[रथंतर, बृहत्, वामदेव्य और यज्ञायज्ञिय—चार स्तन हैं, विराट् रूपी गौ के। और ओषधि आदि चार दुग्धरूप हैं, विराट्रूपी गौ के। जो व्यक्ति इस तत्त्व को जानता है वह स्वयं इन ओषधि आदि को प्राप्त करने में यत्नवान् होता है। वैदिक सिद्धान्तानुसार ज्ञान का पर्यवसान कर्म में होता है। यथा 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (उत्तरमीमांसा) अर्थात् वैदिक फलश्रुतियां क्रियार्थक हैं, जीवनचर्या के लिये हैं, जीवनचर्या के अभाव में, फलश्रुतियां व्यर्थ अर्थात् निष्प्रयोजन हो जायेंगी]।

---

१. व्यचः का अर्थ है, विस्तार। "व्यचः" पद विस्तृत अन्तरिक्ष का उपलक्षक है। "अन्तरिक्षं व्यचोहितम्" (अथर्व० १०।२।२५)।

पर्याय ३

(१-८)। १ चतुष्पदा विराडनुष्टुप्; २ आर्ची त्रिष्टुप्; ३, ५, ७ चतुष्पदा प्राजापत्या पंक्तिः; ४,६,८ आर्ची बृहती।

सोदक्रामत् सा वनस्पतीनागच्छत् तां वनस्पतयोऽघ्नत सा संवत्सरे समभवत् ॥१॥

(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, समुन्नत हुई, (सा) वह (वनस्पतीन्) वनस्पतियों की ओर (आगच्छत्) आई, (ताम्) उसे (वनस्पतयः) वनस्पतियों ने (अघ्नत[1]) प्राप्त किया, (सा) वह (संवत्सरे) संवत्सर में (सम् अभवत्) प्रकट हुई।

विराट् वनस्पतियों को प्राप्त हुई, और इस का प्रकट होना, संवत्सर में हुआ। यथा—

तस्माद् वनस्पतीनां संवत्सरे वृक्णमपि रोहति वृश्चतेस्याप्रियो भ्रातृव्यो य एवं वेद ॥२॥

(तस्मात्) इसलिये (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों का (वृक्णम्) कटा अंश (अपि) भी (संवत्सरे) नया संवत्सरकाल प्राप्त होने पर (रोहति) प्ररोहित हो जाता है। (यः) जो (एवम्) इस तथ्य को (वेद) जानता है (अस्य) इसका (अप्रियः) अप्रिय (भ्रातृव्यः) भ्रातृव्य (वृश्चते) कट जाता है, नष्ट हो जाता है।

[जो व्यक्ति यह जानता है कि संवत्सर-काल प्राप्त होने पर वनस्पतियों के कटे अंश भी प्ररोहित हो जाते हैं तो वह भी निज मनोभावनाओं के कटु अंशों में सुधार करता है, और उस के मन का मालिन्य अर्थात् पाप भी कट जाता है। "भ्रातृव्य" पद मनोगत "पाप" को सूचित करता है। यथा "पाप्मना भ्रातृव्येण" में पाप को भ्रातृव्य कहा है। "पाप्मना भ्रातृव्ये-

---

१. अघ्नत="हन् हिंसागत्योः" (अदादिः), "हन्" का अर्थ "गति" अभिप्रेत है। गतेस्त्रयोऽर्थाः—ज्ञानम्, गतिः, प्राप्तिश्च। अतः अघ्नत=प्राप्त किया।

णेति तूपचारात्" (भट्टोजदीक्षित कौमुदी, अष्टा० ४।१।१४५)। अभिप्राय यह कि ज्ञानी व्यक्ति प्राकृतिक घटनाओं से भी शिक्षा प्राप्त कर निज जीवन को समुन्नत करता रहता है]।

सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितरोऽघ्नत
सा मासि समभवत् ॥३॥

(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, समुन्नत हुई, (सा) वह (पितॄन्) ऋतुओं[1] की ओर (आगच्छत्) आई (ताम्) उसे (पितरः) ऋतुओं ने (अघ्नत) प्राप्त किया। (सा) वह समुन्नत विराट् (मासि) मास में (सम् अभवत्) प्रकट हुई।

[यद्यपि दो मासों की एक ऋतु होती है। तो भी ऋतु के दो मासों[2] में से प्रत्येक मास में विराट् प्रकट होती है]।

तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददति प्र पितृयाणं पन्थां जानाति
य एवं वेद ॥४॥

(तस्मात्) इसलिये (पितृभ्यः) ऋतुओं के प्रति (मासि) प्रतिमास (मास्यम्) मास में देय हविः (उप ददति) उपहाररूप में देते हैं, वह (पितृयाणम् पन्थाम्) 'पितृयाण' नामक मार्ग को (प्रजानाति) जानता है (यः) जो (एवम्) इस प्रकार [ऋतुओं के स्वरूप को] (वेद) जानता है।

सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा अघ्नत सार्धमासे
समभवत् ॥५॥

---

१. ऋतवो वै पितरः (शतपथ २।६।१।३२)।

२. वैदिक साहित्य में प्रत्येक मास को भी ऋतु कहा है। यथा "मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू" (यजु० १३।२५); "शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू" (यजु० १४।६); "नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू" (यजु० १४।१५) इत्यादि। मधु=चैत्र, माधव=वैशाख ये दो मास "ऋतू" दो ऋतुएं हैं। इसी प्रकार शुक्र=ज्येष्ठ, शुचि=आषाढ ये दो मास "ऋतू" दो ऋतुएं हैं। तथा नभः=श्रावण, नभस्य=भाद्रपद ये दो मास "ऋतू" दो ऋतुएं हैं। इन तीन प्रमाणों में "ऋतू" पद द्विवचनान्त हैं, अतः दो मास को सूचित करते हैं। इसी प्रकार देखो (यजु० १४।१६; १४।२७)।

(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, समुन्नत हुई, (सा) वह (देवान्) द्युतिसम्पन्न चान्द्र कलाओं में (आगच्छत्) आई, (ताम्) उसे (देवाः) द्युतिसम्पन्न चान्द्र कलाओं ने (अघ्नत) प्राप्त किया। (सा) वह (अर्धमासे) अर्धमास में (सम्, अभवत्) प्रकट हुई।

[अर्धमास का अभिप्राय चन्द्रमा के दो पक्ष प्रतीत होते हैं। ये दोनों अर्धमास हैं। चन्द्रमा देव है यथा "अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता······" (यजु० १४।२०)। अतः चन्द्रमा की कलाएं भी, देवता की कलाएं होती हुई, देवता या देव हैं]।

तस्माद् देवेभ्योऽर्धमासे वषट्कुर्वन्ति प्र देवयानं पन्थां जानाति
य एवं वेद ॥६॥

(तस्मात्) इसलिये (देवेभ्यः) देवों के प्रति (अर्धमासे) अर्धमास में (वषट्) वषट् शब्द के उच्चारणपूर्वक (कुर्वन्ति) हविःप्रदान करते हैं, वह (देवयानं पन्थाम्) "देवयान" नामक मार्ग को (प्रजानाति) जानता है (यः) जो कि (एवम्) इस प्रकार के तत्त्व को (वेद) जानता है।

[अर्धमास में हविःप्रदान द्वारा दर्शपौर्णमास यज्ञों को सूचित किया है]।

सोदक्रामत् सा मनुष्याँ३नागच्छत् तां मनुष्या अघ्नत
सा सद्यः समभवत् ॥७॥

(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, समुन्नत हुई (सा) वह (मनुष्यान्) मनुष्यों को (आगच्छत्) प्राप्त हुई, (ताम्) उसे (मनुष्याः) मनुष्यों ने (अघ्नत) प्राप्त किया, (सा) वह (सद्यः) प्रतिदिन (सम्, अभवत्) प्रकट हुई।

तस्मान्मनुष्येभ्य उभयद्युरुप हरन्त्युपास्य गृहे हरन्ति य एवं
वेद ॥८॥

(तस्मात्) इसलिये (मनुष्येभ्यः) मनुष्यों के प्रति (उभयद्युः) दोनों दिन (उप हरन्ति) उपहाररूप में [अन्न] लाते हैं, (अस्य) इसके (गृहे) घर में (उप हरन्ति) उपहाररूप में [अन्न] लाते हैं (यः) जो (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है।

[विराट् है, संस्था, नियम व्यवस्था । मनुष्यों के जीवन के सम्बन्ध में यह व्यवस्था है कि उन्हें प्रतिदिन भोजन मिले । सम्भवतः मन्त्र में मनुष्य के लिये दिन में एक बार भोजन करने का निर्देश हुआ है । एकवार प्रतिदिन भोजन करने पर सुपच होकर अगले दिन भूख चमक उठती है, तब पुनः भोजन करने पर कोष्ठबद्धता आदि की शिकायत नहीं रहती, शरीर हल्का रहता और स्वस्थ रहता है । पैप्पलाद शाखा में "उभयद्युः"[1] के स्थान में "अहरहः"[1] पाठ है, जिस का अर्थ है दिन-प्रतिदिन । मन्त्र ४ और ६ में मास और अर्धमास में हविः देने का विधान, और मन्त्र में प्रतिदिन एक वार मनुष्य को भोजनाहुति देने का संकेत हुआ है । "उभयद्युः" का अभिप्राय है दो लगातार दिन । अर्थात् एक दिन भोजन लेकर उसके अगले दिन भी भोजन लेना चाहिये, बीच के व्यवधान न होना चाहिये, अन्यथा निर्बलता की सम्भावना है] ।

पर्याय ४

(असुरराज्य)

सोद॑क्रामत् सासु॑रा॒नाग॑च्छ॒त् ताम॑सु॒रा उपा॑ह्वयन्त॒ माय॒ एहीति॑ ॥१॥

(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई (सा) वह (असुरान्) असुरों को (आ गच्छत्) प्राप्त हुई, (ताम्) उस विराट् को (असुराः) असुरों ने (उपाह्वयन्त) अपने समीप बुलाया कि (माये) हे माया ! (एहि) आ, (इति) इस प्रकार ।

---

१. "उभयद्युः" का भाव अस्पष्ट है, और "अहरहः" स्पष्टार्थक है । अतः प्रतीत होता है कि पैप्पलाद ने 'उभयद्यु' की व्याख्या "अहरहः" द्वारा की है । "उभयद्युः" और "अहरहः" भाषाशास्त्र की दृष्टि से एक दूसरे के अपभ्रंश नहीं हो सकते । अपितु प्रतीत यह होता है कि "उभयद्युः" की व्याख्या ही "अहरहः" है । अतः महर्षि दयानन्द का यह विचार कि शाखाएं मूल वेदों की व्याख्यारूप हैं, वस्तुतः यथार्थ है ।

[असुर हैं प्राण[1] के और धन[1] के अनुयायी, जो कि निज प्राणों के पोषण और धनार्जन को जीवन का ध्येय समझते हैं । उन्होंने विराट् को अपने पास बुलाया, और वह मायारूप में उनके पास आई । माया है प्रकृति "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्"(श्वेता० अ० ४। खं० १०) । प्रकृति के उपासकों को "असुराः" कहा है, ये प्राकृतिक उन्नति को निज ध्येय जानते हैं । आसुर-जीवन के सम्बन्ध में छान्दोग्य उप० (अध्याय ८ । खण्ड ७-१२) द्रष्टव्य है] ।

तस्या॑ वि॒रोच॑नः प्राह्ला॒दिर्व॒त्स आसी॑दयस्पा॒त्रं पात्र॑म् ॥२॥

(तस्याः) [असुरों में प्राप्त हुई उस] विराट्-रूपी गौ का (वत्सः) बछड़ा (आसीत्) था (प्राह्लादिः) प्रह्लाद का पुत्र (विरोचनः) विरोचन । और (अयस्पात्रम्) उन का रक्षक और पालक लोहा था, (पात्रम्) यही था रक्षक और पालक ।

[मन्त्र में आसुर-राज्य का वर्णन हुआ है । "प्रह्लाद" है ऐन्द्रियिकमुख "ह्लादी सुखे च" (भ्वादिः)। "सुख" का अर्थ है "सुप्रसन्न ख" (इन्द्रियां) । इन इन्द्रियों को "खानि" कहते हैं, यथा "पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः"(कठ० २।४।१) । प्राह्लादि अर्थात् ऐन्द्रियिक-सुख का पुत्र है विरोचन चमकते-दमकते कपड़े पहनने वाला और इस प्रकार विविध-रुचियों वाला व्यक्ति [छान्दो० उप० अध्याय ८ । खण्ड ७] में विरोचम को असुरों का प्रतिनिधि कहा है । इसे मन्त्र में ऐन्द्रियिक-सुख का पुत्र कहा है । असुरों का राज्य सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिये है । इस राज्य में रक्षक और पालक है "अयः" अर्थात् लोहा । लोहा तमोगुण है, प्रकृति का तामसिक-रूप । लोहा भी काला होता है, और तमस् भी काला । मन्त्र में विराट्-गौ के दोहने के लिये "विरोचन" को वत्स कहा है । वत्स के विना गौ दुही नहीं जा सकती । इसी प्रकार विरोचन स्वभाव वाले नेता के विना आसुरी-सम्पत्ति, विराट् गौ से दोही नहीं जा सकती ।

---

१. असुरः=प्राणवान् "अपि वा असुरिति प्राणनाम" (निरुक्त ३।२।८) । तथा "असुरत्वमादिलुप्तम्" (निरुक्त १०।३।३४) असुरः=वसुरः धनरतः । वसुरः के आदिभूत "व्" का लोप ।

तथा

"अयस्पात्रम्" का अभिप्राय यह भी है "लोहनिर्मित रक्षा और पालन के साधनभूत शस्त्रास्त्र, असुरों के रक्षक और पालक हैं। आसुर-स्वभाव वाले राज्य, युद्धों के लिये, शस्त्रास्त्रों का संग्रह करते हैं]।

तां द्विमूर्धार्त्व्यो॑ऽधोक् तां मायामे॒वाधो॑क् ॥३॥

(ताम्) उस विराट् को (द्विमूर्धा) दो सिरों वाले (अर्त्व्यः) ऋतुओं के पुत्र ने (अधोक्) दुहा, (ताम्) उस से (मायाम् एव) माया को ही (अधोक्) दुहा है।

[विरोचन को दो सिरों वाला कहा है, वह एक सिर से तो सोचता है, और दूसरे सिर से वाणी बोलता है, अर्थात् मन में कुछ और वाणी में कुछ। "मनस्यन्यत्, वचस्यन्यत्" का वह अनुयायी है। वह ऋतुओं का मानो पुत्र है, ऋतुओं के सदृश परिवर्तनशील है, अस्थिरमति है। उसने विराट्-गौ से माया अर्थात् प्राकृतिक धन-सम्पत् रूपी दूध को ही दोहा]।

तां मायामसु॑रा उप॑ जीवन्त्युपजीव॒नीयो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥४॥

(ताम् मायाम्) उस माया अर्थात् प्रकृति के आश्रय (असुराः) असुर (उपजीवन्ति) जीवित होते हैं। (यः) जो व्यक्ति (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है, वह भी (उपजीवनीयः) अन्यों के लिये जीवन का आश्रय (भवति) हो जाता है, अन्यों को जीवन प्रदान करता है। मन्त्र १-४ में "असुर-राज्य" का वर्णन हुआ है।

सोद॑क्राम॒त् सा पि॒तॄनागच्छ॒त् तां पि॒तर॒ उपा॑ह्वयन्त॒ स्वध॒ एही॑ति॑ ॥५॥

(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, समुन्नत हुई, (सा) वह (पितॄन्) पितरों को (आगच्छत्) प्राप्त हुई (ताम्) उस को (पितरः) पितरों ने (उप अह्वयन्त) अपने समीप बुलाया कि (स्वधे) "हे स्वधा ! (एहि) आ" (इति) इस प्रकार।

[पितरः हैं सभा और समिति के सदस्य। सभा है लोकसभा, और समिति है राजसभा (अथर्व० ८।१०।८-११)। सभा और समिति के संयुक्त अधिवेशन में स्थित सभ्यों और सामित्यों को "पितरः" कहा है। यथा—

"सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु ॥
(अथर्व० ७।१३(१२)।१)

मन्त्र के चतुर्थ पाद में "पितरः" का कथन हुआ है। स्वधा=स्व+धा (धारण-पोषण), अर्थात् स्वयम् अपने-आप का धारण-पोषण करना, इस के लिये पराश्रित या पराधीन न होना]।

तस्या॑ य॒मो राजा॑ व॒त्स आसी॑द् रजतपा॒त्रं पात्र॑म् ॥६॥

(तस्याः) उस विराट् गौ का (वत्सः) वत्स (आसीत्) था (यमः) नियमन करने वाला (राजा) राजा, (रजतपात्रम्) रक्षक और पालक रजत अर्थात् चान्दी[1]-सुवर्ण आदि थे (पात्रम्) ये ही रक्षक और पालक थे।

[पितरों अर्थात् सभासदों और समिति के सदस्यों को विराट्-गौ के रूप में प्राप्त हुई विराट् संस्था का राजा था यम; अर्थात् इन दोनों का नियन्ता प्रजापति (अथर्व० ७।१३(१२)।१)। पात्रम्=पा (रक्षणे)+त्रम् (त्रैङ् पालने)।

तामन्त॑को मार्त्य॒वो॑ऽधोक् तां स्व॒धामे॒वाधो॑क् ॥७॥

(ताम्) उस विराट्-गौ को (अन्तकः) पराधीनता के अन्तकारी, (मार्त्यवः) मृत्यु के पुत्र मर्त्य-सेनापति ने (अधोक्) दोहा (ताम्) उस विराट्-गौ से उस ने (स्वधाम्) स्वधा को (एव) ही (अधोक्) दोहा। अन्तकः=अन्तम् [पराधीनतायाः] करोतीति। स्वधा=अपने आप को स्वयं धारण-पोषण करने की शक्ति, स्वतन्त्रता, अपराधीनता।

[अभिप्राय यह कि सेनापति अन्तक भी है, और मृत्यु का पुत्र भी, चूंकि सैन्य विभाग है "मरने और मारने के लिये"। अतः यह समग्र विभाग मृत्यु का पुत्र है, और सेनापति भी। अतः सेनापति को मार्तव्य कहा है। परन्तु सैन्यविभाग है "स्वधा" की रक्षा के लिये। स्वधा ही विराट्-गौ का दुग्ध है]।

तां स्व॒धां पि॒तर॒ उप॑ जीवन्त्युपजीव॒नीयो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥८॥

---

१. रजत उपलक्षक है आर्थिक सम्पत्ति का। विना आर्थिक सम्पत्ति के राज्य-शासन तथा राज्यरक्षा नहीं हो सकती।

(ताम्, स्वधाम् उप) उस स्वधा अर्थात् स्व-धारण-पोषण के आश्रय (पितरः) सभा-समिति के सदस्य (जीवन्ति) जीवित होते हैं, वह भी (उप जीवनीयः) अन्यों के जीवित रहने का आश्रय (भवति) हो जाता है (यः) जो कि (एवम्) इस प्रकार अर्थात् स्वधा जीवन का आश्रय है, (वेद) यह जानता है।

[मन्त्र ५-८ तक पितृराज्य तथा स्वधा के स्वरूपों का वर्णन किया है। पितृराज्य को प्राजापत्यराज्य, सभा-समितिराज्य तथा पौरराज्य कह सकते हैं]।

सोदक्रामत् सा मनुष्या३ँनागच्छत् तां मनुष्या३ उपाह्वयन्तेरावत्येहीति ॥९॥

(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, (सा) वह (मनुष्यान्) मनुष्यों को (आगच्छत्) प्राप्त हुई, (ताम्) उस को (मनुष्याः) मनुष्यों ने (उप अह्वयन्त) अपने समीप बुलाया [और कहा कि] (इरावति) हे अन्न और जलवाली ! (एहि) आ (इति) इस प्रकार।

[मन्त्र (५) में विराट् को पितरों ने बुलाया और मन्त्र (९) में मनुष्यों ने। पितरः पुरनिवासी हैं; और मनुष्याः, जनपद अर्थात् ग्रामनिवासी हैं]।

तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम् ॥१०॥

(मनुः वैवस्वतः) विवस्वान् का पुत्र मनु, (तस्याः) उस विराट्-गौ का (वत्सः) बछड़ा (आसीत्) था। (पृथिवी) और पृथिवी (पात्रम्) रक्षा-पालन का साधन थी। पात्रम् =पा+त्रेङ् (पालने)।

[मनु का अभिप्राय है मननशील मनुष्य और विवस्वान् का अभिप्राय है अन्धकारविनाशक सूर्य। यथा "जाया विवस्वतो ननाश, रात्रिरादित्यस्योदयेऽन्तर्धीयते" (निरुक्त १२।१।११)। सभी सौर-परिवार अर्थात् ग्रह, उपग्रह, वृक्ष, वनस्पति, प्राणी ये सब सूर्य से उत्पन्न हुए, सूर्य के पुत्र हैं; परन्तु विशेषाभिप्राय[1] से "मनु" को विवस्वान् अर्थात् सूर्य का पुत्र कहा है।

१. प्रकरणानुसार "मनु" है किसान-मनुष्य। इस का आश्रय है "विवस्वान्" अर्थात् अन्धकार विनाशक-सूर्य। सूर्य के आश्रय कृषिकर्म है।"सस्य" को ताप, प्रकाश और जल का मिलना सूर्याश्रित है। इसी के आश्रय से खेती फलती है। खेती के फलने पर किसानवर्ग से निराशा का अन्धकार दूर होता है।

यह "मनु" है जनपद निवासी किसान-वर्ग (मन्त्र ११,१२)। इस वर्ग ने "वत्स" बनकर विराट्-गौ का दोहन किया। दोहन का फल हुआ "कृषि और सस्य" (मन्त्र १२)। इस वर्ग के रक्षा-पालन का साधन है पृथिवी, क्योंकि कृषि-सस्य, पृथिवी से ही प्राप्त होते हैं, जो कि किसान-वर्ग की रक्षा और पालन करते हैं]।

तां पृथी वैन्योऽधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक् ॥११॥

(ताम्) उस विराट्-गौ को (पृथी) कृषिविस्तार करने वाले, (वैन्यः) कृषि-मेधावी कृषकों की वंशपरम्परा में उत्पन्न किसान ने (अधोक्) दोहा, (ताम्) उस से (कृषिम् च सस्यं च) कृषिकर्म को तथा सस्य को (अधोक्) दुग्धरूप में दोहा।

[पृथी[1]=जैसे पृथिवी विस्तृत है उसी प्रकार कृषिकर्म का विस्तार करने वाला कृषिकर्म में प्रख्यात कृषक। वैन्यः=वेनः मेधाविनाम (निघं० ३।१५)। वैन्यः=मेधावी कृषकवंश में उत्पन्न, जिस की वंशपरम्परा में कृषिकर्म रहा है, वह कृषि का विशेषज्ञ सम्भावित है। वैन्यः=वेनृ गति-ज्ञानचिन्तानिशामनवादित्रग्रहणेषु (भ्वादिः)+ण्यत्]।

ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या३ उप जीवन्ति कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥१२॥

(ते मनुष्याः) वे मनुष्य (कृषिम् च सस्यम् च) कृषि और सस्य के (उप जीवन्ति) आश्रय जीवित होते हैं, वह (कृष्टिराधिः) कृषिजन्य धनवाला हो जाता है और (उपजीवनीयः) औरों के जीवनों का आश्रय (भवति) हो जाता है (यः) जो कि (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता है।

[सस्यम्=धान आदि। कृष्टिराधिः=कृष्टि+राधः (धननाम, निघं० २।१०)+किः। शासन की दृष्टि से राष्ट्र के दो विभाग हैं, नागरिक और ग्राम्य। ये दोनों परस्पर की आवश्यकताओं को पूरित करते हैं। नागरिक शासन [सभा-समिति का शासन] ग्रामवासियों की रजत आदि की आव-

१. पृथी=(प्रथ-प्रख्याने, भ्वादिः, चुरादिः), प्रथ के "रकार" को "ऋकार" सम्प्रसारण द्वारा हुआ है।

श्यकता को पूरित करता तथा उन की स्वधावस्था को सुरक्षित करता है, और ग्राम्यशासन [दक्षिणाग्नि शासन, (अथर्व० १०। पर्याय १। मन्त्र ६)] नगरवासियों की कृषि और सस्य की आवश्यकता को पूरित करता है। इस प्रकार राष्ट्र के ये दो विभाग एक दूसरे के पूरक होकर एक राष्ट्ररूप हैं। इसे "पितर-मनुष्य राज्य" कह सकते हैं]।

सोद॑क्रामत् सा स॒प्तऋ॑षी॒नाग॑च्छ॒त् तां स॒प्तऋ॑षय॒ उपा॑ह्वयन्त ब्रह्म॑ण्वत्ये॒हीति॑ ॥१३॥

(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई (सा) वह (सप्तऋषीन्) सात ऋषियों को (आगच्छत्) प्राप्त हुई, (ताम्) उस को (सप्त ऋषयः) सात ऋषियों ने (उप अह्वयन्त) अपने समीप बुलाया कि (ब्रह्मण्वति[1]) हे ब्रह्मवाली ! (एहि) तू आ (इति) इस प्रकार।

[सप्तऋषयः=सात ऋषि हैं, शरीरस्थ। यथा "सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे" (यजु० ३४।५५)। ये सात ऋषि हैं "षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी" (निरुक्त १२।४।३७), अर्थात् ५ ज्ञानेन्द्रियां, १ मन, और विद्या अर्थात् बुद्धि। मनुष्य के निःश्रेयस के लिये ये सात "ऋषिकोटि" के होने चाहियें। इस भावना को अभिव्यक्त करने के लिये इन सात को ऋषि कहा है। वैदिक साहित्य में आध्यात्मिक और आधिभौतिक तथा आधिदैविक तत्वों में समता कही है। इसलिये आधिभौतिक शासन में भी सात ऋषियों[2] द्वारा शासन का कथन हुआ है। शासन में राजा तो क्षात्रशक्ति सम्पन्न होना चाहिये, परन्तु "ब्राह्मजीवन" के उद्देश्य से मन्त्रिवर्ग सात ऋषियों का होना चाहिये। इसी प्रकार आधिदैविक अर्थ में सात ऋषि स्थानापन्न सूर्य की सात रश्मियां हैं (निरुक्त १२।४।३७)]।

तस्याः॒ सोमो॒ राजा॑ व॒त्स आसी॒च्छन्दः॒ पात्र॑म् ॥१४॥

(तस्याः) उस विराट्-गौ का (वत्सः) बछड़ा (आसीत्) था (सोमः राजा) सौम्य स्वभाव का राजा और (छन्दः) वैदिक छन्द-समूह अर्थात् वेदमन्त्र समूह था (पात्रम्) रक्षा और पालन का साधन।

१. ऋषियों ने विराट् को ब्रह्मज्ञानप्रदात्रीरूप में बुलाया। (मन्त्र १५) में इस का स्पष्टीकरण हुआ है।

२. मनु ने भी सात या आठ सचिवों का कथन किया है। यथा "सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्" (मनु ७।५४)।

[यद्यपि वैदिक साहित्यानुसार राजा क्षत्रिय होना चाहिये। परन्तु प्रजा के शासन में उसे सौम्य स्वभाववाला होकर, शासक होना चाहिये, और युद्धावस्था में उसे क्षात्रस्वभाववाला होकर युद्ध करना चाहिये। शासन, वैदिकमन्त्रप्रतिपादित विधि द्वारा होना चाहिये (देखो यजु० २०।५-६)]।

तां बृह॒स्पति॒राङ्गि॑र॒सोऽधो॑क् तां ब्रह्म॑ च॒ तप॑श्चाधोक् ॥१५॥

(ताम्) उस विराट् को (आङ्गिरसः) प्राणविद्या के जानने वाले (बृहस्पतिः) बृहती वेदवाणी के पति ने (अधोक्) दोहा (ताम्) उस विराट् से (ब्रह्म च, तपः च) ब्रह्म को और तप को (अधोक्) दोहा।

[अङ्गिराः=प्राण। प्राण है शरीराङ्गों और शरीर के अङ्गों का रस, "सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानां हि रसः, प्राणो वा अङ्गानां रसः, प्राणो हि वा अङ्गानां रसः" (बृहद् उप० अध्याय १। ब्रा० ३। खण्ड १९)। अतः प्राणविद्या का ज्ञाता है "आङ्गिरस"। बृहस्पतिः="वाग् वै बृहती, तस्या एष पतिः, तस्माद् बृहस्पतिः" (बृहद्० उप, अध्याय १। ब्रा० ३। खण्ड २०)। आङ्गिरस-बृहस्पति सप्त ऋषियों का मुख्य है। इस ने विराट् से ब्रह्म और तप का दोहन किया। सप्त ऋषियों के मन्त्रित्व में राज्य में ब्रह्म और तप का प्रसार होता है—यह अभिप्राय है। मन्त्र (१४) में 'छन्दः' द्वारा वेदमन्त्रों का निर्देश हुआ है और मन्त्र (१५) में बृहस्पति द्वारा वेद-वाणी का निर्देश हुआ है]।

तद् ब्रह्म॑ च॒ तप॑श्च सप्तऋ॒षय॒ उप॑ जीवन्ति ब्रह्मवर्च॒स्यु॑पजीव॒नीयो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥१६॥

(तत्) उस (ब्रह्म च, तपः च) ब्रह्म और तप के (उप) आश्रय (सप्त ऋषयः) सात ऋषि (जीवन्ति) जीवित रहते हैं, (यः) जो (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता है, वह (ब्रह्मवर्चसी) ब्रह्मवर्चसवाला और (उपजीवनीयः) अन्यों के जीवन का आश्रय (भवति) हो जाता है।

[ब्रह्मवर्चसी, अन्यों को ब्रह्मज्ञान और तपोमय जीवन का सदुपदेश दे कर उनके ब्राह्मजीवन का आश्रय बन जाता है। सप्त ऋषि शरीरस्थ भी हैं, पांच ज्ञानेन्द्रियां, मन, और बुद्धि, इन्हें भी ब्राह्मजीवन और तपोमय जीवन में ढालने का निर्देश मन्त्र द्वारा हुआ है]।

पर्याय ५

इन्द्रादिदेवताकराज्य (आधिदैविकार्थ)

सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा उपाह्वयन्तोर्ज एहीति ॥१॥

(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, ऊपर की ओर गतिवाली हुई, (सा) वह (देवान्) द्युतिवाले तत्त्वों को (आगच्छत्) प्राप्त हुई (ताम्) उस को (देवाः) द्युतिवाले तत्त्वों ने (उप अह्वयन्त) अपने पास बुलाया कि (ऊर्ज) हे ऊर्जा ! बल और प्राणप्रद अन्नरूपिणी ! (एहि) आ (इति) इस प्रकार।

[ऊर्जा = ऊर्क्, अन्ननाम (निघ० २।७) + टाप् (टापं चैव हलन्तानाम्)]।

तस्या इन्द्रो वत्स आसीच्चमसः पात्रम् ॥२॥

(तस्याः) उस विराट्-गौ का (वत्सः) बछड़ा (आसीत्) था (इन्द्रः) इन्द्र (चमसः) और मेघ था (पात्रम्) रक्षा और पालन का साधन।

[इन्द्रः = विद्युत् "वायुर्वेन्द्रो वा मध्यस्थानः" (निरुक्त), मध्यस्थानः = अन्तरिक्षस्थानः। "चमसः मेघनाम" (निघं० १।१०)। मेघ खाद्यपदार्थों की उत्पत्ति का कारण है, अतः "चमस" है। यह "चमस" है पात्र अर्थात् रक्षा और पालन का साधन, पा (रक्षणे) + त्रैङ् पालने। चमस = चमु अदने (भ्वादिः); चमु भक्षणे (स्वादिः)]।

तां देवः सविताधोक् तामूर्जामेवाधोक् ॥३॥

(ताम्) उस विराट्-गौ को (देवः) द्युतिसम्पन्न (सविता) सूर्य ने (अधोक्) दोहा, (ताम्) उससे (ऊर्जाम्) बल और प्राणदायक अन्न को (एव) ही उस ने (अधोक्) दोहा।

[मन्त्र (२) में इन्द्र अर्थात विद्युत् को विराट्-गौ का वत्स अर्थात् बछड़ा कहा है। बछड़े के विना गौ दूध नहीं देती और दोहने वाला ग्वाला है सविता, द्युतिसम्पन्न सूर्य। सविता की प्रखर रश्मियों के द्वारा मेघ का निर्माण होता है, और मेघीय-विद्युत् के ताड़न द्वारा मेघ से जल बरसता है, और वर्षा द्वारा ऊर्क् अर्थात् अन्न पैदा होता है, यह है ऊर्जा का दोहन। इस प्रकार इन्द्र और सविता के द्वारा ऊर्जा का दोहन मन्त्र में दर्शाया है]।

तामूर्जां देवा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥४॥

(ताम्, ऊर्जाम् उप) उस ऊर्जा के आश्रय (देवाः) देव (जीवन्ति) जीवित होते हैं (यः) जो (एवम्) इस प्रकार इस तथ्य को (वेद) जानता है, वह भी (उपजीवनीयः) आश्रितों के जीवनों का साधक (भवति) हो जाता है।

[देवाः = प्राकृतिक देव। उप = उपाश्रित्य। प्राकृतिक देव = वायु, विद्युत्, वृक्ष, वनस्पति आदि, ये भी देव हैं। आधिदैविक देवों के स्वरूप-परिज्ञान के लिये देखो (यजु० १४।२०)]।

तथा

वैश्यप्रकृतिक राज्य (आधिभौतिकार्थ)

सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा उपाह्वयन्तोर्ज एहीति ॥१॥

(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, (सा) वह (देवान्) व्यवहारकुशल अर्थात् व्यापारी-वैश्यों को (आगच्छत्) प्राप्त हुई, (ताम्) उस को (देवाः) व्यापारी-वैश्यों ने (उप अह्वयन्त) अपने समीप बुलाया कि (ऊर्जे) हे बल और प्राण देने वाले अन्नरूपिणी ! (एहि) आ; (इति) इस प्रकार।

[देवाः = दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहार ..... (दिवादिः)। मन्त्र में वाणिज्यव्यवहार अभिप्रेत है। ऊर्जा = ऊर्क्, अन्ननाम (निघं० २।७)। ऊर्क् + टाप् (टापं चैव हलन्तानाम्)]।

तस्या इन्द्रो वत्स आसीच्चमसः पात्रम् ॥२॥

(तस्याः) उस विराट्रूपी गौ का (वत्सः) बछड़ा (आसीत्) था (इन्द्रः) वाणिज्य-प्रवृत्ति वाला राजा, (चमसः) और मेघ था (पात्रम्) रक्षा पालन का साधन।

[इन्द्रः = यद्यपि इन्द्र का अर्थ है ऐश्वर्य वाला राजा। परन्तु मन्त्र में वैश्यप्रवृत्ति वाला राजा अभिप्रेत है। क्योंकि मन्त्र (१) में "ऊर्जा" पद द्वारा विराट् का आह्वान किया है। तथा "इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि" (अथर्व० ३।१५।१) में इन्द्र को वणिक् कहा भी है। "चमसः मेघनाम" (निघं० १।१०)। चमसः = चमु अदने (भ्वादिः); मेघ अन्नोत्पादन द्वारा

सहायक है, अतः उसे "चमस" कहा है। इस प्रकार "मेघ" रक्षा पालन का साधन है। पात्रम्=पा (रक्षणे)+त्रम् (त्रैङ् पालने)]।

तां देवः सविताऽधोक् तामूर्जामेवाधोक् ॥३॥

(ताम्) उस विराट्रूपी गौ को, (सविता) प्रेरक(देवः) तथा व्यवहार-प्रवृत्ति वाले राजा ने (अधोक्) दोहा, (ताम्) उस से (ऊर्जाम् एव) अन्न को ही (अधोक्) दोहा।

तामूर्जां देवा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥४॥

देवाः=व्यापारी वैश्य (ताम्, ऊर्जाम्) उस अन्न के (उप) आश्रय (जीवन्ति) जीवित होते हैं, (यः) जो (एवम्) इस प्रकार [इस तथ्य को] (वेद) जानता है, वह (उपजीवनीयः) अन्यों के जीवनों का आश्रय(भवति) हो जाता है।

[ऊर्जाम्, उप, जीवन्ति=ऊर्जाम्, उपाश्रित्य, जीवन्ति]।

गन्धर्वाप्सरस राज्य (आधिदैविकार्थ[1])

सोदक्रामत् सा गन्धर्वाप्सरस आगच्छत् तां गन्धर्वाप्सरस उपाह्वयन्त पुण्यगन्ध एहीति ॥५॥

(सा) वह विराट्-गौ (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, (सा) वह (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्वों और अप्सराओं को (आगच्छत्) प्राप्त हुई, (ताम्) उस को (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्वों और अप्सराओं ने (उप अह्वयन्त) अपने समीप बुलाया कि (पुण्यगन्धे) हे पवित्रगन्धवालो! (एहि) तू आ (इति) इस प्रकार।

[मन्त्र १-४ तक की भावनाओं को, मन्त्र ५-८ की भावनाओं में, भिन्न शब्दों में पुनरावृत्त किया है। गन्धर्व और अप्सराएं निम्नलिखित हैं। यथा "अग्निः, गन्धर्वः, ओषधयोऽप्सरसः"; सूर्यो गन्धर्वः, मरीचयोऽप्सरसः, चन्द्रमा गन्धर्वः, नक्षत्राण्यप्सरसः, वातो गन्धर्वः आपः अप्सरसः; यज्ञः गन्धर्वः, दक्षिणा अप्सरसः। (यजु० १८।३८-४२)। मन्त्र ५-८ तक में पुनः "आपः" द्वारा "मेघ" का वर्णन हुआ है। तथा यजुर्वेद से जिन मन्त्रों के

१. देवो दानाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा (निरुक्त)। "देवः" द्वारा द्योतन अर्थ अभिप्रेत है। तथा द्युस्थानवासी भी।

अंशों को उद्धृत किया है वे सब भी मेघ के उत्पादक हैं। अग्नि [यज्ञियाग्नि और वृक्ष आदि मेघोत्पादन में सहायक हैं। सूर्य और मरीचियां, चन्द्रमा और नक्षत्र, वायु और आपः, तथा यज्ञ, ये सब भी मेघोत्पादन में सहायक हैं। इस भावना को ६-८ मन्त्रों में दर्शाया है]। यथा:—

तस्याश्चित्ररथः सौर्यवर्चसो वत्स आसीत् पुष्करपर्णं पात्रम् ॥६॥

(सौर्यवर्चसः) सूर्य की दीप्ति से उत्पन्न (चित्ररथः) चित्र-विचित्र और रमणीय गति करने वाला मेघ (तस्याः) उस विराट्-गौ का (वत्सः) बछड़ा (आसीत्) था, और (पुष्करपर्णम्) कमलपत्र (पात्रम्) रक्षा और पालन का साधन था।

[चित्ररथः= मेघ। वर्षाऋतु में मेघ नानाकृतियों में दृष्टिगोचर होता, और मेघीय विद्युत्, तथा इन्द्रधनुष द्वारा चित्रित होता है। यह नानाविध गतियों में अन्तरिक्ष में विचरता है। रथः "रंहतेर्गतिकर्मणः" (निरुक्त ९।२।११) तथा अन्तरिक्षीय इन्द्र [विद्युत्] इस मेघ-रथ में स्थित हुआ और चमकता हुआ अन्तरिक्ष के पक्षों में गति करता है। रथः "रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा" (निरुक्त ९।२।१२)।

सौर्यवर्चसः=मेघ, सूर्य के वर्चस् अर्थात् दीप्ति से उत्पन्न होता है। सूर्य की दीप्ति है, सूर्य की रश्मियां। यद्यपि मेघ की उत्पत्ति में अन्य भी कारण हैं, अग्नि आदि (मन्त्र ५), परन्तु मेघ की उत्पत्ति के मुख्य कारण हैं, सूर्य और उसकी रश्मियां। इसलिये चित्ररथ अर्थात् मेघ की उत्पत्ति में सूर्य और रश्मियों को विशेषरूप से कारण कहा है।

पुण्यगन्धे (मन्त्र ५)। विराट् व्यवस्था रूप है, जिस व्यवस्था के अनुसार पुष्कर अर्थात् कमल उत्पन्न होते और विकसित होते हैं। इन पुष्करों के पराग आदि से जो सुगन्ध आती है उसे पुण्यगन्धा कहा है। यह सुगन्ध है, दुर्गन्ध नहीं। अतः इसे पुण्य अर्थात् पवित्र कहा है। विराट्-व्यवस्था को मन्त्रों में गोरूप में भी दर्शाया है, क्योंकि इस से दोहा भी जाता है यथा "अधोक्"। चित्ररथ अर्थात् मेघ बछड़ा बन कर विराट्-गौ से जल का दोहन करता है, जिस से वर्षा होती, और "पुष्करपर्ण" आदि पैदा होते हैं। पर्ण का अभिप्राय है पुष्कर की पंखुड़ियां। एकवचन जात्येकवचन है। इस द्वारा पुष्करों का विकसितरूप दर्शाया है। ये विकसित-पुष्कर भ्रमरों, मधुकरों के पात्र हैं, रक्षक-और-पालक हैं। इन के साथ सूर्य का भी वर्णन

हुआ है, सूर्य के होते ही पुष्कर विकसित होते हैं, और सूर्यास्त पर मुकुलित हो जाते हैं। इस प्रकार इन मन्त्रों में नानागूढ अर्थ विद्यमान हैं]।

तां वसुरुचिः सौर्यवर्चसोऽधोक् तां पुण्यमेव गन्धमधोक् ॥७॥

(ताम्) उस विराट्-गौ को (सौर्यवर्चसः) सूर्य की दीप्ति से उत्पन्न, (वसुरुचिः) वसुओं के उत्पादन में रुचिवाले मेघ ने, (अधोक्) दोहा (ताम्) उस से (पुण्यम् एव गन्धम्) पवित्रतारूपी गन्ध को ही (अधोक्) दोहा।

[मन्त्र (६) का चित्ररथः, और मन्त्र (७) का वसुरुचिः मेघ ही है। मेघ जलप्रदान द्वारा वस्तुओं के मल को धोकर उन्हें पवित्र करता है। मेघ अचेतन है, उसमें "रुचि" सम्भव नहीं क्योंकि रुचि चेतन का धर्म है। तो भी कविसम्प्रदायानुसार अचेतन में भी चेतनधर्मों का आरोप हुआ करता है। निरुक्त में भी कहा है कि 'अचेतनान्यप्येवं स्तूयन्ते, यथा अक्षप्रभृतीन्योषधिपर्यन्तानि" (निरुक्त ७।२।७)]।

तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरस उप जीवन्ति पुण्यगन्धिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥८॥

(तं पुण्यं गन्धम) उस पुण्यगन्ध के आश्रय (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्वाप्सरस (उपजीवन्ति) जीवित होते हैं, वह (पुण्यगन्धिः) पुण्यगन्ध वाला भी (उपजीवनीयः) अन्यों के लिये जीवन का आश्रय (भवति) हो जाता है, (यः) जो कि (एवम्) इस प्रकार (वेद) इस तथ्य को जानता है।

तथा

गन्धर्वाप्सरसराज्य (आधिभौतिकार्थ)

सोदक्रामत् सा गन्धर्वाप्सरस आगच्छत् तां गन्धर्वाप्सरस उपाह्वयन्त पुण्यगन्ध एहीति ॥५॥

(सा) वह विराट् (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई, (सा) वह (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्वों और अप्सराओं को (आगच्छत्) प्राप्त हुई, (ताम्) उस को (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्वों और अप्सराओं ने (उप अह्वयन्त) अपने समीप बुलाया कि (पुण्यगन्धे) हे पुण्यकर्मों की गन्ध वाली (एहि) आ; (इति) इस प्रकार।

[गन्धर्वाः=गौः (पृथिवी)+धर्वाः (धारण करने वाले पार्थिव अर्थात् राजा लोग। गौः पृथिवीनाम (निघं १।१)+धृञ् (धारणे)। अप्सरसः ="अप्सराः" अप्सारिणी। अप्सु सारिणी। आपोऽन्तरिक्षनाम (निघं० १।३)। अर्थात् [सामुद्रिक] जलों में तथा अन्तरिक्ष में सरण करनी वाली सेनाएं। यतः गन्धर्वाः हैं राजानः, अतः तत्सम्बन्धी अप्सरसः हैं सेनाएं। पुण्यगन्धे=पुण्यकर्मों के सुगन्ध वाली विराट् व्यवस्था, अर्थात् ऐसा व्यवस्थित राज्य जिसमें पुण्यकर्मों की सुगन्ध का प्रसार हो। यथा-"यथा वृक्षस्य सम्पुष्पितस्य दूराद् गन्धो वाति, एवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद् गन्धो वाति" (तैत्तिरीय आरण्यक १०।९)। इस भावना को सूचित करने के लिये मन्त्र (६) में "पुष्करपर्णम्" पद पठित हुआ है। "पुष्करपर्णम्" का अभिप्राय है "पुष्कर की पंखुड़ियां"। विकसित पुष्कर अर्थात् कमल पर भ्रमर अर्थात् मधुकर मंडराते हैं, पुष्कर की सुगन्ध से आकृष्ट होकर]।

तस्याश्चित्ररथः सौर्यवर्चसो वत्स आसीत् पुष्करपर्णं पात्रम् ॥६॥

(तस्याः) उस विराट्-व्यवस्थारूपी गौ का (वत्सः) बछड़ा (आसीत्) था (सौर्यवर्चसः) सूर्यसदृशवर्चस्वी (चित्ररथः) चित्रित अर्थात् शस्त्रास्त्रों द्वारा सुसज्जित रथों वाला सैन्यवर्ग। (पुष्करपर्णम्) विकसित पंखुड़ियों वाला कमल था (पात्रम्) रक्षा और पालन का साधन।

[चित्ररथः[1]=चित्राः रथाः यस्य सः; सैन्यवर्गः। अर्थात् जिस सैन्यवर्ग के रथ शस्त्रास्त्रों तथा पुष्पमालाओं आदि द्वारा सुसज्जित हैं। इस सैन्यवर्ग को विराट्-व्यवस्थारूपी गौ का वत्स कहा है तथा इस चित्ररथ की रक्षा और पालन [पात्रम्] का साधन था विकसित कमल। अभिप्राय यह कि यह राज्य और सैन्यवर्ग है तो शस्त्रास्त्रों द्वारा सुसज्जित, ताकि कोई अन्य राष्ट्र इस पर आक्रमण करने का दुःसाहस न कर सके परन्तु यह

१. चित्ररथ अर्थात् सैन्यवर्ग था बछड़ा और वसुरुचि अर्थात् वसु में रुचि वाला वैश्य था दोग्धा। बछड़े की सहायता द्वारा दोग्धा दूध दोह सकता है। अभिप्राय यह कि सैन्यवर्ग द्वारा राज्य में शान्ति का वातावरण होने पर ही वैश्य, व्यापार द्वारा, विराट्-व्यवस्था से धन-सम्पत् दोह सकता है।

"गन्धर्वाप्सरस" राज्य है विकसित-कमलों आदि प्राकृतिक-विभूतियों को चाहने वाला, यह प्राकृतिक विभूतियों को निज रक्षक तथा पालक समझता है] ।

तां वसुरुचिः सौर्यवर्चसोऽधोक् तां पुण्यमेव गन्धमधोक् ॥७॥

(सौर्यवर्चसः) सूर्य सदृश तेजस्वी, (वसुरुचिः) धन-सम्पत् में रुचि वाले वैश्यवर्ग ने (ताम्) उस विराट्-व्यवस्था को (अधोक्) दोहा, (ताम्) उस से (पुण्यम्) पुण्यकर्मरूपी (गन्धम्) सुगन्ध को (एव) ही (अधोक्) दोहा।

[वसुरुचिः=वसुओं के उपार्जन में रुचिवाला वैश्यवर्ग । यह भी गन्धर्वों और अप्सराओं के राज्य में उपार्जित धन-सम्पत् को, राष्ट्र की वृद्धि निमित्त समर्पित करता रहता है, इस प्रकार पुण्यकर्मों की सुगन्ध को राष्ट्र में प्रसारित करता रहता है] ।

तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरस उप जीवन्ति पुण्यगन्धिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥८॥

(तम्) उस (पुण्यम्) पुण्यकर्मों की (गन्धम्) सुगन्ध के (उप) आश्रय (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्व और अप्सराएं (जीवन्ति) जीवित रहती हैं, (यः) जो (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता है, वह भी (पुण्यगन्धिः) पुण्यकर्मों की सुगन्धवाला और (उपजीवनीयः) अन्यों के जीवनों का आश्रय (भवति) हो जाता है ।

(इतरजन राज्य)

सोदक्रामत् सेतरजनानागच्छत् तामितरजना उपाह्वयन्त तिरोध एहीति ॥९॥

(सा) वह विराट्-व्यवस्था (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई (सा) वह (इतर-जनान्) गन्धर्वाप्सराओं से भिन्न जनों को (आगच्छत्) प्राप्त हुई, (ताम्) उस को (इतरजनाः) इतरजनों ने (उप) अपने समीप (आह्वयन्त) बुलाया कि (तिरोधे) हे अन्तर्धानरूपिणी ! या कुटिलता का धारण-पोषण करने वाली ! (एहि) आ, (इति) इस प्रकार ।

[इस विराट्-व्यवस्था को "इतरजन व्यवस्था" कहा है । इतरजन का अर्थ है भिन्न प्रकार के जन । इस से पूर्व गन्धर्वों और अप्सराओं का आधिभौतिक वर्णन हुआ है । इतरजन उन से भिन्न प्रकार के हैं । जैसी राज्यव्यवस्था गन्धर्वों और अप्सराओं की है, उस से भिन्न प्रकार की राज्य-व्यवस्था इतरजनों की है । पूर्वकथित राज्य-व्यवस्था तो पुण्यकर्मों की है, परन्तु इतरजनों की राज्यव्यवस्था पापकर्मों की है (मन्त्र १२) ।

तिरोधे !=इतरजनों की विराट्-व्यवस्था 'तिरोधा' रूप है । 'तिरोधा' का अर्थ है तिरोधान अर्थात् गुप्तरूप से कार्य करना । पापकर्म गुप्तरूप में ही किये जाते हैं (मन्त्र (१२), तथा तिरोधा का अर्थ यह भी है कि कुटिलता का धारण-पोषण करने वाली व्यवस्था । यह भी पापमयी व्यवस्था है, जिसे कि "इतरजन" अपनाते हैं । तिरः (कुटिलता, टेढ़ापन+धा (धारण-पोषण)] ।

तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम् ॥१०॥

(तस्याः) उस [इतरजन विराट्-व्यवस्था] का (वत्सः) बछड़ा या पुत्र (आसीत्) था (वैश्रवणः) श्रवण-मनन से विहीनवंश में उत्पन्न (कुबेरः) तथा निज कर्मों का आच्छादक अर्थात् उन पर पर्दा डालने वाला [इतरजनों का] राजा । (आमपात्रम्) तथा उन की अपरिपक्वनीति के रक्षा-पालन के साधन थे (पात्रम्) उनके रक्षक-पालक । कुबेरः=कुबि (आच्छादने)+रः (वाला) (भ्वादिः चुरादिः) ।

तां रजतनाभिः काबेरकोऽधोक् तां तिरोधामेवाधोक् ॥११॥

(ताम्) उस [इतरजनव्यवस्थारूपी विराट्-गौ को, (रजतनाभिः) मानो नाभिनाल[1] द्वारा प्राप्त रजतादि सम्पत्ति वाले (काबेरकः=कावेरकः[1]) और कुत्सित वीरता वाले कुबेर ने (अधोक्) दोहा (ताम्) उस विराट् से (तिरोधाम्) तिरोधान अर्थात् गुप्तरूप से कार्य करना तथा कुटिलता को (एव) ही (अधोक्) उस ने दोहा ।

१. "कावेरकः" K^2, तथा BP^2 पाण्डुलिपियों के पाठ । कावेरकः, यथा "कापुरुषः" । तथा "रजतनाभिः" द्वारा यह सूचित किया है कि नाभिनाल द्वारा निजमाता के साथ सम्बन्ध होने से, पुत्र के नाते, पुत्र निज माता की रजतादि सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो जाता है ।

[कावेरक=का+वीर् (शूरवीर विक्रान्तौ; चुरादि:)+अच्+क:। कुत्सितवीर या कावीर: यथा "कापुरुष"। रजतनाभि=माता से जन्मलाभ करते ही जो प्रभूत रजत आदि का स्वामी बन गया है वह। "इतरजन" राज्य में कुबेर था बछड़ा, और रजतनाभि कुत्सितवीर था दोग्धा। इसे कुत्सितवीर इस लिये कहा है कि इसकी वीरता, तिरोधान को तथा कुटिल कर्मों को ही दोहरूप में प्राप्त करती है]।

तां तिरोधामितरजना उप जीवन्ति तिरो धत्ते सर्वं पाप्मानमुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥१२॥

(ताम्) उस विराट्-व्यवस्था को, (तिरोधाम्) तिरोधारूप में अर्थात् [पापकर्मों को] छिपाने रूप में (उप) आश्रय मान कर (इतरजना:) इतरजन (जीवन्ति) जीवित रहते हैं, (य:) जो (एवम्) इस प्रकार के तथ्य को (वेद) जानता है वह (सर्वं पाप्मानम्) सब पापों को (तिरोधत्ते) छिपाता रहता है, और [अन्य पापियों के लिये] (उपजीवनीय:) जीवनों का आश्रय (भवति) हो जाता है।

(सर्पराज्य)

सोदक्रामत् सा सर्पानागच्छत् तां सर्पा उपाह्वयन्त विषवत्येहीति १३

(सा) वह विराट्-व्यवस्था (उदक्रामत्) उत्क्रान्त हुई (सा) वह (सर्पान्) सर्पों को (आगच्छत्) प्राप्त हुई, (ताम्) उस को (सर्पा:) सर्पों ने (उप) अपने पास (अह्वयन्त) बुलाया कि (विषवति) हे विषवाली ! (एहि) आ (इति) इस प्रकार।

[सर्प द्वारा सांप-कृमि अभिप्रेत नहीं, अपितु वे मनुष्य अभिप्रेत हैं जो कि सर्प सदृश पर-छिद्रों में प्रवेश कर उन की हत्या के लिये, विष प्रयोग करते हैं। उन की राज्य-व्यवस्था विषप्रयोगाश्रित होती है।

तस्यास्तक्षको वैशालेयो वत्स आसीदलाबुपात्रं पात्रम् ॥१४॥

(तस्या:) उस विराट्-व्यवस्था का (वत्स:) बछड़ा (आसीत्) था (वैशालेय:) विशालकाय वाला (तक्षक:) तक्षक अर्थात् तक्षा के सदृश काटने वाला, सांपस्वभाव वाला, राजा। (अलाबुपात्रम्) और रक्षा-पालन का साधन तूम्बा था (पात्रम्) उस का रक्षक-पालक। पात्रम् =पा (रक्षणे)+त्रैङ् (पालने)।

[तक्षक:=तक्षम् (तक्षणम्) करोतीति। "तक्षू तनूकरणे" (भ्वादि:), जो कि काष्ठों को काट कर, उन्हें सूक्ष्म कर, वस्तुनिर्माण करता है, अर्थात् तर्खान्, बढ़ई। तत्सदृश काटने वाला व्यक्ति भी है, तक्षक सर्प। अलाबु है तूम्बा, परन्तु कड़वा तूम्बा, अर्थात् कड़वे तूम्बे के सदृश कटुविष वाला सांप। ऐसे सांपों के सहारे सर्पप्रकृतिक लोग जीवनचर्या करते हैं, ऐसे सर्प ही उन के जीवनों के रक्षक और पालक होते हैं]।

तां धृतराष्ट्र ऐरावतोऽधोक् तां विषमेवाधोक् ॥१५॥

(ताम्) उस विराट्-व्यवस्था रूपी गौ को (ऐरावत:) द्रवविषरूपी जलवाले, तथा (धृतराष्ट्र:) सांपप्रकृतिकों के राष्ट्र को धारण करने वाले व्यक्ति ने (अधोक्) दोहा, (ताम्) उस से (विषम् एव) विष को ही (अधोक्) उसने दोहा, दोहरूप में प्राप्त किया।

[ऐरावत:="इरा" (जल, अर्थात् द्रवविष)+मतुप्+अण्, अर्थात् द्रवविष का प्रयोक्ता, धृतराष्ट्र। मन्त्र में "राष्ट्र" शब्द का प्रयोग हुआ है। इस से ज्ञात होता है कि यह सर्पराज्य मानुषराज्य हैं कृमि-राज्य नहीं। नागपुर, नागालेण्ड पदों में "नाग" पद का अर्थ है, नाग जाति के मनुष्य न कि सांप।

तद् विषं सर्पा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥१६॥

(तत्) उस (विषम्, उप) विष के आश्रय (सर्पा:) सर्पप्रकृति वाले मनुष्य (जीवन्ति) जीवित रहते हैं (य:) जो (एवम्) इस प्रकार इस तथ्य को (वेद) जानता है, वह (उपजीवनीय:) अन्यों के अर्थात् अन्य विष प्रयोक्ताओं के जीवनों का आश्रय (भवति) हो जाता है।

पर्याय ६

(१-४); १ द्विपदा विराड् गायत्री; २ द्विपदा साम्नी त्रिष्टुप्; ३ द्विपदा प्राजापत्यानुष्टुप्; ४ त्रिपदार्च्यनुष्टुप्।

तद् यस्मा एवं विदुषेऽलाबुनाऽभिषिञ्चेत् प्रत्याहन्यात् ॥१॥

(तत्) तो (एवम्, विदुषे, यस्मै) इस प्रकार [विषविद्या] के जानने वाले जिस विद्वान् के [हन्तुम्] हनन के लिये उसे [विषप्रयोक्ता] (अलाबुना) कटु तूम्बे सदृश कटु[1] अर्थात् विषैले जल द्वारा (अभिषिञ्चत्) अभिषिक्त करे, उसे स्नान कराए [उस विषप्रयोक्ता को] (प्रति) प्रतिफलरूप में (आहन्यात्[2]) पूर्णतया मार डाले।

न च प्रत्याहन्यान्मनसा त्वा प्रत्याहन्मीति प्रत्याहन्यात् ॥२॥

(न च) अथवा न (प्रति) प्रतिफलरूप में (आहन्यात्) मारे। परन्तु (मनसा) मन द्वारा मनन करके (त्वा) हे विषप्रयोक्ता! तुझे (प्रति) प्रतिफलरूप में (आहन्मि) मैं मार डालता हूं, (इति) इस प्रकार संकल्प कर के (प्रति) प्रतिफलरूप में (आहन्यात्) मार डाले।

[विषप्रयोक्ता है मनुष्य, न कि सर्प-कृमि। विषप्रयोक्ता मनुष्य को मारे या न मारे यह सन्देहास्पद है। निर्णय यह है कि विषप्रयोक्ता को मार ही डाले, ताकि वह निर्भय होकर अन्यों पर भी विषप्रयोग न करता रहे।

यत् प्रत्याहन्ति विषमेव तत् प्रत्याहन्ति ॥३॥

(यत्) जो कि (प्रति आहन्ति) प्रतिफलरूप में मार डालता है (तत्) वह मानो (विषम्) विष को (एव) ही (प्रति आहन्ति) प्रतिफलरूप में मारता है।

१. कटुविष का अभिप्राय है परिणाम में कटु अर्थात् घातक, न कि आस्वाद में कटु। (क) यस्मै अभिषिञ्चेत् = यं हन्तुमभिषिञ्चेत्, तुमर्थे चतुर्थी।

२. मनु के अनुसार "शरद" अर्थात् विषदाता आततायी है और मनु ने कहा है कि "आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्"।

[अभिप्राय यह कि विषप्रयोक्ता को मारना विष को मारनामात्र है, न कि विषप्रयोक्ता को, —यह समझ कर उसे मार डाले। उसे मारने से समझना चाहिये कि विष को सदा के लिये मार दिया। जब विषप्रयोक्ता न रहा तो विष और विष का प्रयोग भी न रहा]।

विषमेवास्याप्रियं भ्रातृव्यमनुविषिच्यते य एवं वेद ॥४॥

(यः) जो (एवम्) इस प्रकार [इस तथ्य को] (वेद) जानता है (अस्य) इस ज्ञाता के (अप्रियम्) अप्रिय (भ्रातृव्यम् अनु) तथा भ्रातृसम्बन्ध के होते हुए भी सपत्न को (एव) ही (विषम्) विष (विषिच्यते) विशेषतया सींचा जाता है।

[एवं वेद = मन्त्र (३) में कथित समाधान को जो जान लेता है, वह उसे भी विष देने में शङ्कित नहीं होता, जो कि है तो भ्रातृव्य-सम्बन्ध वाला परन्तु शत्रु हो जाने पर वह प्रियरूप नहीं रहता, अपितु विष के प्रयोग करने में भी वह सकुचाता नहीं। अलाबुना = अथवा "अलम्+अम्बुना, जलेन। समाप्त कर देने वाले विषैले जल द्वारा]।

अनुवाक ५ सूक्त १० समाप्त

तथा

आठवां काण्ड सम्पूर्ण

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

प्रकाशित वा प्रसारित प्रामाणिक ग्रन्थ

वेद-विषयक ग्रन्थ

१. **ऋग्वेदभाष्य** (संस्कृत हिन्दी; ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित)—प्रति भाग सहस्राधिक टिप्पणियां, १०-११ प्रकार के परिशिष्ट व सूचियों सहित। प्रथम भाग ४०-००. द्वितीय भाग ३५-००, तृतीय भाग ४०-००।

२. **यजुर्वेदभाष्य-विवरण**—ऋषिदयानन्दकृत भाष्य पर पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत विवरण। प्रथम भाग ११०-००, द्वितीय भाग ५०-००।

३. **तैत्तिरीय-संहिता**—मूलमात्र, मन्त्र-सूची सहित। ५०-००

४. **तैत्तिरीय संहिता-पदपाठः**—५० वर्ष से दुर्लभ ग्रन्थ का पुनः प्रकाशन, बढ़िया सुन्दर जिल्द १००-००।

५. **अथर्ववेदभाष्य**—श्री पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय कृत। ६-१० काण्ड ४०-००; ११-१३ काण्ड ३५-००; १४-१७ काण्ड ३०-००; १८-१९ काण्ड २५-००; बीसवां काण्ड २५-००। काण्ड ७-८ छप रहा है।

६. **ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका**—पं० युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित एवं शतशः टिप्पणियों से युक्त। साधारण जिल्द ३०-००, पूरे कपड़े की ३५-००।

७. **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-परिशिष्ट**—भूमिका पर किए गये आक्षेपों के ग्रन्थकार द्वारा दिये उत्तर। मूल्य ४-००

८. **माध्यन्दिन (यजुर्वेद) पदपाठ**—शुद्ध संस्करण। ४०-००

९. **गोपथ-ब्राह्मण** (मूल)—सम्पादक श्री डा० विजयपाल जी विद्यावारिधि। सर्वाधिक शुद्ध संस्करण। मूल्य ५०-००

१०. **कात्यायनीय ऋक्सर्वानुक्रमणी**—(**ऋग्वेदीया**)—षड्गुरुशिष्य विरचित संस्कृत टीका सहित। टीका का पूरा पाठ प्रथम बार छापा गया है। विस्तृत भूमिका और अनेक परिशिष्टों से युक्त। मूल्य १००-००

११. **ऋग्वेदानुक्रमणी**—वेङ्कट माधवकृत। इस ग्रन्थ में स्वर छन्द आदि आठ वैदिक विषयों पर गम्भीर विचार किया है। व्याख्याकार—श्री डा० विजयपाल जी विद्यावारिधि। उत्तम संस्करण ३५-००; साधारण २५-००

१२. **वैदिक-साहित्य-सौदामिनी**—स्व० श्री पं० वागीश्वर वेदालंकार। काव्यप्रकाश साहित्यदर्पण आदि के समान वैदिक साहित्य पर शास्त्रीय विवेचनात्मक ग्रन्थ। साधारण जिल्द ४५-००, बढ़िया जिल्द ५०-००

१३. **ऋग्वेद की ऋक्संख्या**—युधिष्ठिर मीमांसक मूल्य ५-००

१४. **वेदसंज्ञा-मीमांसा**—युधिष्ठिर मीमांसक २-००

१५. **वैदिक-छन्दोमीमांसा**—यु० मी०। नया संस्करण २५-००

१६. **वैदिक-स्वर-मीमांसा**—यु० मी०। नया संस्करण ३०-००

१७. **वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कन-प्रकार**—यु० मी०। ६-००

१८. **वेदों का महत्त्व तथा उनके प्रचार के उपाय; वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा** (संस्कृत-हिन्दी)—यु० मी०। ६-००

१९. **देवापि और शन्तनु के आख्यान का वास्तविक स्वरूप**—लेखक—श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। मूल्य २-५०

२०. **वेद और निरुक्त**—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। २-५०

२१. **निरुक्तकार और वेद में इतिहास**—„ „ २-५०

२२. **त्वाष्ट्री सरण्यू की वैदिक कथा का वास्तविक स्वरूप**—लेखक—श्री पं० धर्मदेव जी निरुक्ताचार्य। मूल्य २-५०

२३. **वैदिक-जीवन**—श्री विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड द्वारा अथर्ववेद के आधार पर वैदिक-जीवन के सम्बन्ध में लिखा गया अत्यन्त उपयोगी स्वाध्याय-योग्य ग्रन्थ। अजिल्द १२-००, सजिल्द १६-००।

२४. **वैदिक-गृहस्थाश्रम**—श्री पं० विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड द्वारा अथर्ववेद के आधार पर लिखित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। सजिल्द ३०-००

२५. **शिवशङ्करीय-लघुग्रन्थ पञ्चक**—इसमें श्री पं० शिवशङ्कर जी काव्यतीर्थ लिखित वेदविषयक **चतुर्दश-भुवन, वसिष्ठ-नन्दिनी, वैदिक विज्ञान, वैदिक-सिद्धान्त और ईश्वरीय पुस्तक कौन?** मूल्य ८-००

२६. **यजुर्वेद का स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ-समीक्षा**—ले० पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय। बढ़िया जिल्द २५-००, साधारण २०-००।

२७. **शतपथ ब्राह्मणस्थ अग्निचयन समीक्षा**—लेखक—पं० विश्वनाथ जी वेदोपाध्याय। मूल्य ४५-००

२८. **ऋग्वेदपरिचय**—श्री पं० विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड। ऋग्वेद का परिचयात्मक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। अजिल्द १२-००; सजिल्द १६-००।

२९. **वैदिक-पीयूष-धारा**—लेखक—श्री देवेन्द्रकुमार जी कपूर। चुने हुए ५० मन्त्रों की प्रतिमन्त्र पदार्थपूर्वक विस्तृत व्याख्या, अन्त में भावपूर्ण गीतों से युक्त। उत्तम जिल्द १५-००; साधारण १०-००।

३०. **क्या वेद में आर्यों और आदिवासियों के युद्धों का वर्णन है ?** लेखक—श्री वैद्य रामगोपाल जी शास्त्री। मूल्य १२-००

३१. **उरु-ज्योति**—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखित वेदविषयक स्वाध्याय योग्य निबन्धों का संग्रह। सुन्दर छपाई। पक्की जिल्द १८-००।

३२. **वेदों की प्रामाणिकता**—डा० श्रीनिवास शास्त्री। १-५०

३३. **ANTHOLOGY OF VEDIC HYMNS**—Swami Bhumananda Sarasvati. ६०-००

कर्मकाण्ड-विषयक ग्रन्थ

३४. **बौधायन-श्रौत-सूत्रम्**—(दर्शपूर्णमास प्रकरण)—भवस्वामी तथा सायणकृत भाष्य सहित (संस्कृत)। ४५-००

३५. **बौधायन-श्रौत-सूत्रम्** (आधान-प्रकरण)—सुबोधिनी वृत्ति सहित। छप रहा है।

३६. **दर्शपूर्णमास-पद्धति**—पं० भीमसेन कृत, भाषार्थ सहित। २५-००

३७. **कात्यायनगृह्यसूत्रम्**—(मूलमात्र) अनेक हस्तलेखों के आधार पर हमने इसे प्रथम बार छापा है। २५-००

३८. **श्रौतपदार्थ-निर्वचनम्**—(संस्कृत) अग्न्याधान से अग्निष्टोम पर्यन्त आध्वर्यव पदार्थों का विवरणात्मक ग्रन्थ। सजिल्द ४०-००

३९ **संस्कार-विधि**—शताब्दी संस्करण, ४६० पृष्ठ, सहस्राधिक टिप्पणियां, १२ परिशिष्ट। मूल्य लागतमात्र १५-००, राज-संस्करण २०-००। सस्ता संस्करण ६-००, अच्छा कागज सजिल्द १०-००।

४०. **वेदोक्त-संस्कार-प्रकाश**—पं० बालाजी विट्ठल गांवस्कर द्वारा मूल मराठी में लिखे गये ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद। इसी का गुजराती अनुवाद संशोधित संस्कार-विधि का आधार बना। २०-००

४१. **अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त श्रौत यज्ञों का संक्षिप्त परिचय**—इस ग्रन्थ में अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, सुपर्णचिति सहित सोमयाग, चातुर्मास्य और वाजपेय आदि यागों का वर्णन है। (दोनों भाग एकत्र) मूल्य १२-००

४२. **संस्कार-विधि-मण्डनम्**—संस्कार-विधि की व्याख्या। लेखक—वैद्य श्री रामगोपाल जी शास्त्री। अजिल्द १२-००; सजिल्द १६-००

४३. **वैदिक-नित्यकर्म-विधि**—सन्ध्यादि पांचों महायज्ञ तथा बृहद् हवन के मन्त्रों की पदार्थ तथा भावार्थ व्याख्या सहित। यु० मी० मूल्य ४-००, सजिल्द ६-००।

४४. **वैदिक-नित्यकर्म-विधि**—(मूलमात्र) सन्ध्या तथा स्वस्तिवाचनादि बृहद् हवन के मन्त्रों सहित। मूल्य १-००

४५. **पञ्चमहायज्ञ-प्रदीप**—श्री पं० मदन मोहन विद्यासागर। ५-००

४६. **हवनमन्त्र**—स्वस्तिवाचनादि सहित। ०-६०

शिक्षा-निरुक्त-व्याकरण-ज्योतिष विषयक ग्रन्थ

४७. **वर्णोच्चारण-शिक्षा**—ऋषि दयानन्द कृत हिन्दी व्याख्या ०७५

४८. **शिक्षासूत्राणि**—आपिशल-पाणिनीय-चान्द्रशिक्षा-सूत्र। मू० ७-००

४९. **शिक्षाशास्त्रम्**—(संस्कृत) जगदीशाचार्य। १०-००

५०. **अरबी-शिक्षाशास्त्रम्**—(संस्कृत) जगदीशाचार्य। १०-००

५१. **शिक्षा-महाभाष्यम्**—(संस्कृत) जगदीशाचार्य विरचित। मूल्य १२-००; सजिल्द १५-००।

५२. **वृद्धशिक्षा-शास्त्रम्**—,, ,, ,,। २५-००; सजिल्द ३०-००

५३. **निरुक्त-भाष्य**—श्री पं० भगवद्दत्त कृत नैरुक्त = आधिदैविक प्रक्रियानुसारी तथा पाश्चात्त्यमत खण्डन सहित। अप्राप्य

५४. **निरुक्त-श्लोकवार्त्तिकम्**—केरलदेशीय नीलकण्ठ गार्ग्य विरचित। एक मात्र मलयालम लिपि में ताडपत्र पर लिखित दुर्लभ प्रति के आधार पर मुद्रित। आरम्भ में उपोद्घात रूप में निरुक्त-शास्त्र विषयक संक्षिप्त ऐतिह्य दिया गया है (संस्कृत) सम्पादक-डा० विजयपाल विद्यावारिधि उत्तम कागज, शुद्ध छपाई तथा सुन्दर जिल्द सहित। मूल्य १२५-००

५५. **निरुक्त-समुच्चय**—आचार्य वररुचि विरचित (संस्कृत)। सम्पादक—युधिष्ठिर मीमांसक। मूल्य २०-००

५६. **अष्टाध्यायी**—(मूल) शुद्ध संस्करण। ४-००

५७. **अष्टाध्यायी-भाष्य**—(संस्कृत तथा हिन्दी)—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु कृत। भाग—I ५०-००, भाग—II ३०-००, भाग—III ३५-००

५८. **धातुपाठ**—धात्वादिसूची सहित, शुद्ध संस्करण। ३-५०

५९. **क्षीरतरङ्गिणी**—क्षीरस्वामीकृत। पाणिनीय धातुपाठ की सब से प्राचीन एवं प्रामाणिक व्याख्या। सजिल्द ६०-००।

६०. **धातुप्रदीप**—मैत्रेयरक्षित विरचित पाणिनीय धातुपाठ की व्याख्या। सजिल्द ४०-००।

६१. **वामनीयं लिङ्गानुशासनम्**—स्वोपज्ञव्याख्यासहितम् १०-००

६२. **संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि**—लेखक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु। पहला भाग १५-००, दूसरा भाग २५-००

६३. The Tested Easiest Method of Learning and Teaching Sanskrit (First Book)—यह पुस्तक श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु कृत '**बिना रटे संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि**' भाग १ का अंग्रेजी अनुवाद है। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पाणिनीय व्याकरण में प्रवेश करने वालों के लिये यह आधिकारिक पुस्तक है। कागज और छपाई सुन्दर, सजिल्द २५-००।

६४. **महाभाष्य**—हिन्दी व्याख्या—(द्वितीय अध्याय पर्यन्त) यु० मी० भाग—I ६०-००, भाग—II अप्राप्य, भाग—III ३०-००।

६५. **उणादिकोष**—ऋ० द० स० कृत व्याख्या तथा प० यु० मी० कृत टिप्पणियों, एवं ११ सूचियों सहित। अजिल्द १५-००, सजिल्द २०-००

६६. **दैवम् पुरुषकारवार्त्तिकोपेतम्**—लीलाशुकमुनि कृत। १२-००

६७. **लिट् और लुङ् लकार की रूप-बोधक सरलविधि**— ४५-००

६८. **भागवृत्तिसंकलनम्**—अष्टाध्यायी की प्राचीन वृत्ति। ८०-०

६९. **काशकृत्स्न-धातु-व्याख्यानम्**—संस्कृतरूपान्तर। यु० मी० २०-००

७०. **काशकृत्स्न-व्याकरणम्**—संपादक यु० मी०। १०-००

७१. **शब्दरूपावली**—बिना रटे शब्दरूपों का ज्ञान कराने वाली ३-५०

७२. **संस्कृत-धातुकोश**—पाणिनीय धातुओं का हिन्दी में अर्थ निर्देश। सं०—युधिष्ठिर मीमांसक। १२-००

७३. **अष्टाध्यायीशुक्लयजुःप्रातिशाख्ययोर्मतविमर्शः**—डा० विजयपाल विरचित पी० एच० डी० का महत्त्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध (संस्कृत)। सुन्दर छपाई, उत्तम कागज, बढ़िया जिल्द सहित। मूल्य ५०-००

७४ **सूर्य-सिद्धान्त**—हिन्दी व्याख्या सहित। व्याख्याता—श्री उदयनारायणसिंह। इसके आरम्भ में १४६ पृष्ठ की अति विस्तृत एवं विविध विषय परिपूर्ण महत्त्वपूर्ण भूमिका छपी है। मूल्य ५०-००

अध्यात्म-विषयक ग्रन्थ

७५. **तत्त्वमसि** अथवा **अद्वैत मीमांसा**—लेखक—श्री स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती विरचित ईश्वर जीव और प्रकृति रूप तीनों मूल तत्त्वों का प्रतिपादन करने वाला दार्शनिक ग्रन्थ। मूल्य ४०-००

७६. **ईश-केन-कठ-उपनिषद्**—श्री वैद्य रामगोपाल शास्त्री कृत हिन्दी अंग्रेजी व्याख्या सहित। मूल्य ईशो० २-००; केनो० २-००; कठो० ४-००

७७. **ध्यानयोग-प्रकाश**—स्वामी दयानन्द सरस्वती के योगविद्या के शिष्य स्वामी लक्ष्मणानन्द कृत। बढ़िया पक्की जिल्द मूल्य १६-००

७८. **अनासक्तियोग**—लेखक—पं० जगन्नाथ पथिक। छप रहा है।

७९. **आर्याभिविनय (हिन्दी)**—स्वामी दयानन्द। गुटका सजिल्द ४-५०

८०. Aryabhivinaya—English translation and notes (स्वामी भूमानन्द) दोरङ्गी छपाई। सजिल्द १०-००

८१. **वैदिक ईश्वरोपासना** मूल्य १-५०

८२. **विष्णुसहस्रनाम-स्तोत्रम्**—(**सत्यभाष्य-सहितम्**)—पं० सत्यदेव वासिष्ठ कृत आध्यात्मिक वैदिक भाष्य (४ भाग) प्रति भाग २०-००

८३. **श्रीमद्भगवद्-गीता-भाष्यम्**—पं० तुलसीराम स्वामी ८-००

८४. **हंसगीता**—महाभारत का एक आध्यात्मिक प्रसंग। अप्राप्य

८५. **अगम्यपन्थ के यात्री को आत्मदर्शन**—चंचल बहिन। ४-००

८६. **आत्मा की जीवनगाथा**—श्री कर्मनारायण कपूर। अप्राप्य

८७. **मानवता की ओर**—श्री शान्तिस्वरूप कपूर के विविध विचारोत्तेजक सरल भाषा में लिखे गये लेखों का संग्रह। ५-००

नीतिशास्त्र-इतिहास-विषयक ग्रन्थ

८८. **वाल्मीकि रामायण**—श्री पं० अखिलानन्द जी कृत हिन्दी अनुवाद सहित। सुन्दर काण्ड २०-०० युद्धकाण्ड १२-००

८९. **शुक्रनीतिसार**—व्याख्याकार श्री स्वा० जगदीश्वरानन्द जी सरस्वती। विस्तृत विषय-सूची तथा श्लोक-सूची सहित। उत्तम कागज, सुन्दर छपाई तथा जिल्द सहित। मूल्य ५०-००

९०. **विदुर-नीति**—पं० युधिष्ठिर मीमांसक कृत प्रतिपद पदार्थ और व्याख्या सहित। बढ़िया कागज, पक्की सुन्दर जिल्द। मूल्य ४०-००

९१. **सत्याग्रह-नीति-काव्य**—आ० स० सत्याग्रह १९३९ ई० हैदराबाद जेल में पं० सत्यदेव वासिष्ठ द्वारा विरचित, हिन्दी व्याख्यासहित। ३०-००

९२. **संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास**—युधिष्ठिर मीमांसक कृत नया परिष्कृत परिवर्धित संस्करण। तीनों भागों का मूल्य १२५-००

९३. **ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन**—इस बार इसमें ऋषि दयानन्द के अनेक नये उपलब्ध पत्र और विज्ञापन संगृहीत किये गये हैं। इस बार यह संग्रह चार भागों में छपा है। प्रथम दो भागों में ऋ० द० के पत्र और विज्ञापन आदि संगृहीत हैं। तीसरे और चौथे भाग में विविध व्यक्तियों द्वारा ऋ० द० को भेजे गये पत्रों का संग्रह है। प्रतिभाग ३५-००

९४. **विरजानन्द प्रकाश**—लेखक—पं० भीमसेन शास्त्री एम० ए०। नया परिवर्धित और शुद्ध संस्करण। मूल्य ४-००

९५. **ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित आत्म-चरित**—सम्पादक पं० भगवद्दत्त। मूल्य २-५०

९६. **ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की संस्कृत-साहित्य को देन**—लेखक—डा० भवानीलाल भारतीय एम० ए०। सजिल्द २५-००

दर्शन-आयुर्वेद-विषयक ग्रन्थ

९७. **मीमांसा-शाबर-भाष्य**—आर्षमतविमर्शिनी हिन्दी व्याख्या सहित व्याख्याकार—युधिष्ठिर मीमांसक। प्रथम भाग ५०-००; द्वितीय ४०-००; तृतीय ५०-००; चौथा ४०-००; पांचवां ५०-०० ; छठा यन्त्यस्थ।

९८. **मीमांसा-दर्शनम्**—शाबरभाष्य-सहितम्। विविधाभिः टिप्पणीभिः समलङ्कृतम्, शास्त्रावतार-वेद-श्रुत्याम्नायसंज्ञामीमांसाश्रौतयज्ञमीमांसाख्य-निबन्धत्रयसहितम्। प्रथम भाग ५०-००

९९. **नाडी-तत्त्वदर्शनम्**—पं० सत्यदेव जी वासिष्ठ। मूल्य ३५-००

१००. **चिकित्सा आलोक**—श्री कृष्णदेव चैतन्य पाराशर। मूल्य १५-००

१०१. **षट्-कर्मशास्त्रम्**—(संस्कृत) जगदीशाचार्य। अजिल्द १०-००

१०२. **परमाणु-दर्शनम्**—(संस्कृत) जगदीशाचार्य। अजिल्द १०-००

प्रकीर्ण-ग्रन्थ

१०३. **सत्यार्थप्रकाश**—(आर्यसमाज-शताब्दी-संस्करण) १३ परिशिष्ट, ३५०० टिप्पणियां तथा सन् १८७५ के प्रथम संस्क० के विशिष्ट उद्धरणों सहित। राज संस्क० ४०-००, साधारण संस्क० ३५-००।

१०४. **दयानन्दीय लघुग्रन्थ-संग्रह**—१४ ग्रन्थ, सटिप्पण, अनेक परिशिष्टों के सहित। मूल्य ४०-००

१०५. **भागवत-खण्डनम्**—ऋ० द० की प्रथमकृति। अनुवादक—युधिष्ठिर मीमांसक ४-००

१०६. **ऋषि दयानन्द के शास्त्रार्थ और प्रवचन**—इसमें पौराणिक विद्वानों तथा ईसाई मुसलमानों के साथ हुए ऋ० द० के शास्त्रार्थ तथा पूना में सन् १८७५ तथा बम्बई में सन् १८८२ में दिये गये व्याख्यानों का संग्रह है। उत्तम कागज, कपड़े की जिल्द। मूल्य ३५-००

१०७. **दयानन्द-शास्त्रार्थ-संग्रह**—सस्ता संस्करण। मूल्य १२-००

१०८. **दयानन्द-प्रवचन-संग्रह**—(पूना-बम्बई प्रवचन)। १२-००

१०९. **ऋषि दयानन्द सरस्वती के ग्रन्थों का इतिहास**—लेखक—युधिष्ठिर मीमांसक। नया परिशोधित परिवर्धित संस्करण। ४०-००

११०. **व्यवहारभानु**—ऋषि दयानन्द कृत। ३-००

१११. **अष्टोत्तरशतनाममालिका**—सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास की सुन्दर प्रामाणिक विस्तृत व्याख्या। ले०—पं० विद्यासागर शास्त्री। १५-००

११२. **कन्योपनयन-विधि**—अर्थात् 'कन्योपनयन-प्रतिषेध' ग्रन्थ का खण्डन श्री पं० महाराणी शंकर। अपने विषय की सुन्दर सामयिक पुस्तक। मूल्य ४-००, सजिल्द ६-००

११३. **संस्कृत-वाक्य-प्रबोध**—मूल ऋषि दयानन्द कृत। मूल्य ४-००

११४. ,, ,, ,, (आक्षेपों के उत्तर सहित) मूल्य ८-००

११५. **जगद्गुरु दयानन्द का संसार पर जादू**—श्री मेहता जैमिनी बी० ए० (एम० विज्ञानानन्द सरस्वती)। ५८ वर्ष पश्चात् यह उपयोगी पुस्तक पुनः छापी गई है। मूल्य १-००

११६. **प्यारा ऋषि**—श्री आनन्द स्वामी। ऋषि के जीवन की प्रेरणाप्रद घटनाएं। अप्राप्य

११७. **आर्य-मन्तव्य-प्रकाश**—महामहोपाध्याय पं० आर्यमुनि। प्रथम भाग अप्राप्य, द्वितीय भाग ६-००।

११८. **आर्यसमाज के दिग्गज विद्वानों का शास्त्रार्थ**—यह शास्त्रार्थ 'वेद में इतिहास है वा नहीं' विषय पर लाहौर में सन् १९३३ में म० हंसराज जी के सभापतित्व में हुआ था। अप्राप्य

नवीन प्रकाशन

१. **बौधायन-श्रौतसूत्रम्** (आधानप्रकरणम्)—सुबोधिनीवृत्तिसहितम्। सम्पादक—डा० विजयपाल। मूल्य ४०-००

२. **ऋग्वेद-परिचय**—श्री पं० विश्वनाथ जी विद्यामार्तण्ड विरचित। मूल्य अजिल्द १२-००, सजिल्द १६-००।

३. **मीमांसा-भाष्यम्**—शबरस्वामीप्रणीतम्, निबन्धत्रयीसमेतम्, अनेकपरिशिष्टैः सहितम्। प्रथमो भागः। मूल्य ५०-००

४. **दशपाद्युणादिवृत्तिः**—माणिक्यदेवविरचितया प्राचीनवृत्या सहितम्। मूल्य ४०-००

५. **प्रपञ्चहृदयम्**—(अज्ञातग्रन्थकारकृतम्) **प्रस्थानभेदः**—मधुसूदनसरस्वतीविरचितः। मूल्य २०-००

६. **श्रौतयज्ञ-मीमांसा**—भाषानुवाद सहित। मूल्य ४०-००

वेदवाणी (मासिक) पत्रिका

३९ वर्षों से विना नागा नियत समय प्रकाशित होने वाली वेदादि विशिष्ट विषयों की एक मात्र प्रामाणिक पत्रिका। प्रतिवर्ष किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर एक बृहद् विशेषांक दिया जाता है। वार्षिक चन्दा १५-०० रुपये मात्र। विदेशों के लिये ४०-०० रुपया वार्षिक।

पुस्तक प्राप्ति स्थान—

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट

बहालगढ़, जिला सोनीपत (हरयाणा) १३१०२१

रामलाल कपूर एण्ड संस, २५१६ नई सड़क, दिल्ली।

भाष्यकार का परिचय



नाम—प्रोफेसर विश्वनाथ विद्यालंकार विद्यामार्त्तण्ड।

पत्नी— श्रीमती कुन्तीदेवी।

पिता— श्री लाला प्रीतमदास।

जन्म-स्थान— मार्च, १८८९ ई० में वजीराबाद, गुजरांवाला (पाकिस्तान) में।

शिक्षा— प्रारम्भिक शिक्षा वैदिक पाठाशाला गुजरांवाला में तथा बाद में स्नातक (सन् १९१४) तक गुरुकुल कांगड़ी में।

अध्यापन— सन् १९१४ में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर पद पर नियुक्त तथा सन् १९४२ में वहाँ से सेवामुक्त हुए।

अनुसन्धान— सन् १९२३-२४ में परोपकारिणी सभा अजमेर में। सन् १९५६-५७ आर्य सार्वदेशिक वाटिका में साथ ही 'वैदिक अनुसन्धान' त्रैमासिक पत्रिका का सम्पादन भी।

अन्य लेखन— **१. सामवेद का आध्यात्मिक भाष्य।**
२. सन्ध्या-रहस्य।
३. वैदिक पशु-यज्ञ-समीक्षा।
४. वैदिक जीवन।
५. वैदिक गृहस्थाश्रम।
६. बाल सत्यार्थ-प्रकाश।
७. बाल ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका।
८. अथर्ववेद-परिचय।

उपाधियाँ एवं पुरस्कार— विद्यालंकार, विद्यामार्त्तण्ड मानोपाधि, वेदवेदांग पुरस्कार (आर्यसमाज, सान्ताक्रुज, मुम्बई), गंगाप्रसाद उपाध्याय पुरस्कार, पं० गोवर्धन शास्त्री पुरस्कार, उत्तरप्रदेश संस्कृत अकादमी, आर्यप्रतिनिधि सभा उ०प्र० तथा आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा सम्मानित। वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य, दर्शन शास्त्र और रसायन शास्त्र (कैमिस्ट्री) तथा सर्वयोग में प्रथम रहने के कारण आपको ४ स्वर्णपदक और एक रजतपदक प्राप्त हुआ।

निधन— १०३ वर्ष की आयु में ११ मार्च सन् १९९१।